महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
(संसद द्वारा पारित अधिनियम 1997, क्रमांक 3 के अंतर्गत स्थापित केंद्रीय विश्वविद्यालय)
Mahatma Gandhi Antarrashtriya Hindi Vishwavidyalaya
(A Central University Established by Parliament by Act No. 3 of 1997)
नैक द्वारा 'A' ग्रेड प्राप्त / Accredited with 'A' Grade by NAAC

हिन्दी साहित्य का इतिहास – II

एम.ए. हिन्दी पाठ्यक्रम
द्वितीय सेमेस्टर
चतुर्थ पाठ्यचर्या (अनिवार्य)
पाठ्यचर्या कोड : MAHD – 10

दूर शिक्षा निदेशालय
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
पोस्ट – हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा – 442001 (महाराष्ट्र)

हिन्दी साहित्य का इतिहास – II

प्रधान सम्पादक

प्रो॰ गिरीश्वर मिश्र
कुलपति, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

सम्पादक

प्रो॰ अरबिन्द कुमार झा
निदेशक, दूर शिक्षा निदेशालय, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

पुरन्दरदास
अनुसंधान अधिकारी एवं पाठ्यक्रम संयोजक– एम. ए. हिन्दी पाठ्यक्रम
दूर शिक्षा निदेशालय, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

सम्पादक मण्डल

प्रो॰ आनन्द वर्धन शर्मा
प्रतिकुलपति, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

प्रो॰ कृष्ण कुमार सिंह
विभागाध्यक्ष, हिंदी एवं तुलनात्मक साहित्य विभाग एवं अधिष्ठाता, साहित्य विद्यापीठ
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

प्रो॰ अरुण कुमार त्रिपाठी
प्रोफेसर एडजंक्ट, जनसंचार विभाग, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

पुरन्दरदास

प्रकाशक एवं मुद्रक

कुलसचिव, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा
पोस्ट : हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा, महाराष्ट्र, पिन कोड : 442001

© प्रकाशकाधीन

प्रथम संस्करण : सितंबर 2017

पाठ-रचना

डॉ॰ मीना पाण्डेय
असिस्टेंट प्रोफेसर
हिन्दी विभाग, विवेकानन्द महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

खण्ड – 1 : इकाई – 1 एवं 2

डॉ॰ धनञ्जय सिंह
सहायक प्रोफेसर
हिन्दी विभाग, डॉ॰ सर्वपल्ली राधाकृष्णन गवर्नमेंट आर्ट्स कॉलेज, यानम, पोंडिचेरी

खण्ड – 1 : इकाई – 3
खण्ड – 5 : इकाई – 5

डॉ॰ गोविन्द स्वरूप गुप्त
अवकाश प्राप्त प्राध्यापक
भाषाविज्ञान विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ, उत्तरप्रदेश

खण्ड – 1 : इकाई – 4

डॉ॰ कृष्ण कुमार उपाध्याय
प्राध्यापक
हिन्दी विभाग, शासकीय विदर्भ ज्ञान-विज्ञान संस्था, अमरावती, महाराष्ट्र

खण्ड – 2 : इकाई – 1, 2 एवं 3
खण्ड – 5 : इकाई – 2, 3 एवं 4

डॉ॰ प्रभाकर सिंह
एसोसिएट प्रोफेसर
हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, उत्तरप्रदेश

खण्ड – 2 : इकाई – 4

डॉ० संतोष कुमार
असिस्टेंट प्रोफेसर
हिन्दी विभाग, शहीद भगतसिंह कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

खण्ड – 3 : इकाई – 3

डॉ० विनोद कुमार चौबे
असिस्टेंट प्रोफेसर
हिन्दी विभाग, सत्यवती महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

खण्ड – 4 : इकाई – 1 एवं 2

पुरन्दरदास

खण्ड – 3 : इकाई – 1, 2 एवं 4
खण्ड – 4 : इकाई – 3, 4 एवं 5
खण्ड – 5 : इकाई – 1

पाठ्यक्रम परिकल्पना, संरचना एवं संयोजन
आवरण, रेखांकन, पेज डिज़ाइनिंग, कम्पोज़िंग ले-आउट एवं प्रूफ़रीडिंग

पुरन्दरदास

कार्यालयीय सहयोग

श्री विनोद रमेशचंद्र वैद्य
सहायक कुलसचिव, दूर शिक्षा निदेशालय, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

टंकण कार्य सहयोग (खण्ड – 1 : इकाई – 4; खण्ड – 4 : इकाई – 1 एवं 2)

सुश्री राधा सुरेश ठाकरे
दूर शिक्षा निदेशालय, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

आवरण पृष्ठ पर संयुत विश्वविद्यालय के वर्धा परिसर स्थित गांधी हिल स्थल का छायाचित्र श्री राजदीपसिंह राठौर फोटोग्राफर एंड डॉक्यूमेंटेशन सहायक, जनसंपर्क विभाग, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा से साभार प्राप्त

http://hindivishwa.org/distance/contentdtl.aspx?category=3&cgid=77&csgid=65

- यह पाठ्यसामग्री दूर शिक्षा निदेशालय, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय द्वारा संचालित एम.ए. हिन्दी पाठ्यक्रम में प्रवेशित विद्यार्थियों के अध्ययनार्थ उपलब्ध करायी जाती है।
- इस कृति का कोई भी अंश लिखित अनुमति लिए बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।
- पाठ में विश्लेषित तथ्य एवं अभिव्यक्त विचार पाठ-लेखक के अध्ययन एवं ज्ञान पर आधारित हैं। पाठ्यक्रम संयोजक, सम्पादक, प्रकाशक एवं मुद्रक का उससे सहमत होना आवश्यक नहीं है।
- इस पुस्तक को यथासम्भव त्रुटिहीन एवं अद्यतन रूप से प्रकाशित करने के सभी प्रयास किए गए हैं तथापि संयोगवश यदि इसमें कोई कमी अथवा त्रुटि रहगई हो तो उससे कारित क्षति अथवा संताप के लिए पाठ-लेखक, पाठ्यक्रम संयोजक, सम्पादक, प्रकाशक एवं मुद्रक का कोई दायित्व नहीं होगा।
- किसी भी परिवाद के लिए न्यायिक क्षेत्र वर्धा, महाराष्ट्र ही होगा।

पाठ्यचर्या विवरण

द्वितीय सेमेस्टर
चतुर्थ पाठ्यचर्या (अनिवार्य)
पाठ्यचर्या कोड : MAHD – 10
पाठ्यचर्या का शीर्षक : हिन्दी साहित्य का इतिहास – II

क्रेडिट – 04

खण्ड – 1 : रीतिकालीन हिन्दी साहित्य

- इकाई – 1 : नामकरण की समस्या, विभिन्न मत, नाम-निर्धारण, रीतिकालीन परिस्थितियाँ एवं परिवेश
- इकाई – 2 : रीतिकालीन काव्य का स्वरूप
- इकाई – 3 : काव्यानुभूति के विविध आयाम : शृंगार-वर्णन, नायिका-भेद, सौन्दर्य-बोध, प्रकृति-चित्रण
- इकाई – 4 : अभिव्यंजना शिल्प : भाषा, शैली, रस, छन्द, अलंकार आदि काव्यांग

खण्ड – 2 : आधुनिककाल : पूर्वपीठिका

- इकाई – 1 : आधुनिकता की अवधारणा, आधुनिकता से अभिप्राय, नामकरण
- इकाई – 2 : सांस्कृतिक चेतना और नवजागरण, नवजागरण की अवधारणा, परिस्थितियाँ
- इकाई – 3 : हिन्दी कविता और आधुनिकता; हिन्दी कविता की भाषा : ब्रजभाषा बनाम खड़ीबोली, रीतिकाल का विरोध
- इकाई – 4 : हिन्दी गद्य का विकास, दक्षिणी हिन्दी, उत्तर भारत में हिन्दी गद्य, खड़ीबोली गद्य और फोर्ट विलियम कॉलेज

खण्ड – 3 : पुनर्जागरण, नवजागरण और स्वच्छन्दता

- इकाई – 1 : सांस्कृतिक पुनर्जागरण के पुरोधा भारतेन्दु और उनका मण्डल
- इकाई – 2 : भारतेन्दुयुगीन नाटक, काव्य, निबन्ध, साहित्यिक पत्रकारिता और अन्य गद्य-विधाएँ
- इकाई – 3 : महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग, जागरण-सुधार, हिन्दी प्रचार कार्य, हिन्दी पाठकों में वृद्धि
- इकाई – 4 : द्विवेदीयुगीन हिन्दी कविता की ऐतिहासिक भूमिका, द्विवेदीयुगीन कथा-साहित्य, साहित्यिक पत्रकारिता और 'सरस्वती' पत्रिका का योगदान, नवजागरण के सन्दर्भ में 'सरस्वती' पत्रिका का अवदान, विविध विषयपरक अनूदित साहित्य और अन्य गद्य-विधाएँ, हिन्दी आलोचना का आरम्भिक विकास

खण्ड – 4 : छायावाद युग : छायावादी काव्य और उसके समानान्तर विकसित गद्य-साहित्य

- इकाई – 1 : छायावाद की पृष्ठभूमि, नामकरण, छायावाद के कवि और उनका काव्य
- इकाई – 2 : छायावादी युग की अन्य काव्य-धाराएँ, राष्ट्रीय कविता, प्रेम-व्यंजना एवं काव्य का विचलन

इकाई – 3 : प्रेमचंद और हिन्दी कथा-साहित्य
इकाई – 4 : प्रसाद और उनके समकालीन नाटककार
इकाई – 5 : शुक्लयुगीन आलोचना, निबन्ध और अन्य गद्य-विधाएँ

खण्ड – 5 : छायावादोत्तर युग और स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी साहित्य
इकाई – 1 : प्रगतिवाद, प्रयोगवाद
इकाई – 2 : प्रेमचंदोत्तर कथा-साहित्य, प्रसादोत्तर नाटक और एकांकी, शुक्लोत्तर आलोचना, निबन्ध और अन्य गद्य-विधाएँ
इकाई – 3 : नयी कविता, साठोत्तरी कविता आन्दोलन, समकालीन कविता, नवगीत, हिन्दी ग़ज़ल
इकाई – 4 : स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास, कहानी, आलोचना, नाटक, एकांकी, निबन्ध और अन्य गद्य-विधाएँ
इकाई – 5 : प्रवासी भारतीयों का हिन्दी लेखन

सहायक पुस्तकें :

01. आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ, नामवर सिंह, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
02. आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास, बच्चन सिंह, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
03. आधुनिक हिन्दी-साहित्य : विविध आयाम, रामचन्द्र तिवारी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी
04. केशव की काव्यकला, कृष्ण शंकर रसाल, विकास प्रकाशन, कानपुर
05. घनानन्द काव्य और आलोचना, किशोरीलाल, साहित्य भवन प्रा. लि., इलाहाबाद
06. नई कविता : स्वरूप और समस्याएँ, जगदीश गुप्त, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली
07. नई कविता : सीमाएँ और सम्भावनाएँ, गिरिजाकुमार माथुर
08. भारतेन्दु युग और हिन्दी भाषा की विकास-परम्परा, रामविलास शर्मा, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली
09. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, रामविलास शर्मा, विद्याधाम, दिल्ली
10. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और हिन्दी नवजागरण की समस्याएँ, रामविलास शर्मा, राजकमल प्रकाशन
11. महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण, रामविलास शर्मा, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली
12. रीतिकालीन कवियों की प्रेम व्यंजना, बच्चन सिंह, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
13. रीतिकालीन रीतिमुक्त काव्य में रीतितत्त्व, नीलम सक्सैना, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली
14. रीतिकाव्य की इतिहास दृष्टि, सुधीन्द्र कुमार, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली
15. रीतिकाव्य की भूमिका, नगेन्द्र
16. रीतिकाव्य के विविध आयाम, सुधीन्द्र कुमार, ईशा ज्ञानदीप, दिल्ली
17. रीति काव्यधारा, सम्पादक : रामचन्द्र तिवारी, रामफेर त्रिपाठी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी
18. रीतिकाव्य-संग्रह, सम्पादक : जगदीश गुप्त, साहित्य भवन, इलाहाबाद

19. रीतिकाव्य संग्रह और काव्यांगपरिचय, सम्पादन : हिन्दी विभाग, का.हि.वि., विश्वविद्यालय प्रकाशन
20. रीतिमुक्त कवि घनानन्द (व्यक्तित्व एवं कृतित्व), शशि सहगल, अमरसत्य प्रकाशन, दिल्ली
21. रीतिमुक्त स्वच्छन्द काव्यधारा, मनोहरलाल गौड़
22. समकालीन कविता, सुन्दरलाल कथूरिया
23. समकालीन कविता का व्याकरण, परमानन्द श्रीवास्तव
24. समकालीन हिन्दी साहित्य : विविध परिदृश्य, रामस्वरूप चतुर्वेदी, राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली
25. साठोत्तरी हिन्दी कविता, विजय कुमार
26. सामन्ती परिवेश का यथार्थ और बिहारी का काव्य, रामदेव शुक्ल, अभिव्यक्ति प्रकाशन, इलाहाबाद
27. हिन्दी साहित्य, धीरेन्द्र वर्मा, भारतीय हिन्दी परिषद्, प्रयाग
28. हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास, रामस्वरूप चतुर्वेदी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
29. हिन्दी साहित्य का अतीत, विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
30. हिन्दी साहित्य का अभिनव इतिहास, वशिष्ठ अनूप, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी
31. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, रामकुमार वर्मा, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
32. हिन्दी साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी
33. हिन्दी साहित्य का इतिहास, लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
34. हिन्दी साहित्य का इतिहास और उसकी समस्याएँ, योगेन्द्र प्रताप सिंह, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली
35. हिन्दी साहित्य का नवीन इतिहास, लाल साहब सिंह, विश्वविद्यालय प्रकाशन, इलाहाबाद
36. हिन्दी साहित्य का परिचयात्मक इतिहास, भगीरथ मिश्र, राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा. लि., नयी दिल्ली
37. हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, नन्ददुलारे वाजपेयी, स्वराज प्रकाशन, नयी दिल्ली
38. हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, मधु धवन, जयलक्ष्मी सुब्रह्मण्यन, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली
39. हिन्दी साहित्य का सरल इतिहास, विश्वनाथ त्रिपाठी, ओरियंट ब्लैकस्वान प्रा. लि., हैदराबाद
40. हिन्दी साहित्य की भूमिका, हजारीप्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली
41. हिन्दी साहित्य के इतिहासों का इतिहास, किशोरीलाल गुप्त
42. हिन्दी साहित्य-परिचय, रामेश्वर शुक्ल 'अंचल', हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, इलाहाबाद

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

पाठानुक्रमणिका

क्र.सं.	खण्ड	इकाई	पृष्ठ क्रमांक
01.	खण्ड – 1	इकाई – 1	10 – 22
02.	खण्ड – 1	इकाई – 2	23 – 44
03.	खण्ड – 1	इकाई – 3	45 – 56
04.	खण्ड – 1	इकाई – 4	57 – 72
05.	खण्ड – 2	इकाई – 1	73 – 84
06.	खण्ड – 2	इकाई – 2	85 – 97
07.	खण्ड – 2	इकाई – 3	98 – 111
08.	खण्ड – 2	इकाई – 4	112 – 125
09.	खण्ड – 3	इकाई – 1	126 – 137
10.	खण्ड – 3	इकाई – 2	138 – 150
11.	खण्ड – 3	इकाई – 3	151 – 161
12.	खण्ड – 3	इकाई – 4	162 – 177
13.	खण्ड – 4	इकाई – 1	178 – 194
14.	खण्ड – 4	इकाई – 2	195 – 209
15.	खण्ड – 4	इकाई – 3	210 – 222
16.	खण्ड – 4	इकाई – 4	223 – 235
17.	खण्ड – 4	इकाई – 5	236 – 249
18.	खण्ड – 5	इकाई – 1	250 – 266
19.	खण्ड – 5	इकाई – 2	267 – 281
20.	खण्ड – 5	इकाई – 3	282 – 296
21.	खण्ड – 5	इकाई – 4	297 – 309
22.	खण्ड – 5	इकाई – 5	310 – 321

खण्ड – 1 : रीतिकालीन हिन्दी साहित्य

इकाई – 1 : नामकरण की समस्या, विभिन्न मत, नाम-निर्धारण, रीतिकालीन परिस्थितियाँ एवं परिवेश

इकाई की रूपरेखा

1.1.0. उद्देश्य
1.1.1. प्रस्तावना
1.1.2. नामकरण की समस्या
1.1.3. काल-सीमा-निर्धारण
1.1.4. रीतिकालीन परिवेश और परिस्थितियाँ
    1.1.4.1. राजनैतिक परिवेश
    1.1.4.2. सामाजिक परिवेश
    1.1.4.3. सांस्कृतिक परिवेश
    1.1.4.4. साहित्य एवं कला की स्थिति
    1.1.4.5. चित्रकला
    1.1.4.6. स्थापत्य-कला
    1.1.4.7. संगीत-कला
1.1.5. बोध प्रश्न
1.1.6. सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

1.1.0. उद्देश्य

प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. रीतिकाल के तर्कसंगत नामकरणों की व्याख्या कर सर्वमान्य नामकरण तक पहुँच पाएँगे, जिससे आलोच्य युग की चेतना को समझ सकेंगे।
ii. काल-सीमा से सम्बन्धित विविध विचारों से अवगत हो, आलोच्य युग की समय-सीमा समझ सकेंगे।
iii. रीतिकाव्य की पृष्ठभूमि से परिचित हो सकेंगे।
iv. रीतिकालीन काव्य-संवेदना को निर्मित करने वाले सामाजिक, राजनैतिक और ऐतिहासिक सत्य से परिचित हो सकेंगे।

1.1.1. प्रस्तावना

साहित्य समाज का दर्पण होता है और इसके आगे समाज की आलोचना साहित्य के केन्द्र में साहित्यकार का व्यक्तित्व महत्त्वपूर्ण होता है और व्यक्तित्त्व की निर्मिति उसके सामाजिक परिवेश से होती है, इसलिए साहित्य को समझने के लिए साहित्यकार और परिवेश को गहनता से चिन्तन-मनन करना अनिवार्य हो जाता है।

इतिहास में किसी भी युग को समझने और जानने की सभी की अपनी-अपनी दृष्टि हो सकती है। इसलिए मूल प्रवृत्तियों की स्थितियों को लेकर साहित्य के विविध कालों के नामकरण में विद्वानों में मतभेद हो सकता है। रीतिकाल के नामकरण को लेकर भी विद्वानों में मतैक्य है।

1.1.2. नामकरण की समस्या

हिन्दी साहित्य के इतिहास का व्यवस्थित रूप से अध्ययन एवं विश्लेषण प्रस्तुत करने हेतु विद्वानों ने काल-विभाजन की प्रक्रिया द्वारा प्रत्येक युग का निर्धारण कर युगीन परिस्थितियों एवं प्रवृत्तियों के अनुरूप नामकरण किया है। किसी भी युग का नामकरण किसी निश्चित अवधि विशेष में साहित्य की पृष्ठभूमि एवं विशेषताओं का बोध कराता है। हिन्दी साहित्य के अधिकतर इतिहासकारों ने रचना के नाम, विशिष्ट कवि के प्रभाव, वर्ण्य-विषय या रचना-पद्धति को आधार बनाकर विभिन्न कालों और उसके वर्गों का वर्गीकरण किया है। इसमें रचना और रचनाकार के नाम का आधार अवैज्ञानिक एवं स्थूल है। कारण यह है कि किसी भी युग को कोई एक ही कृति या रचना प्रभावित नहीं करती, कई अन्य प्रभावशाली कवि और रचनाकार भी हो सकते हैं अथवा किसी का प्रभाव न रहे, दोनों ही स्थिति हो सकती हैं। वर्ण्य-विषय एवं रचना-पद्धति का आधार अधिक सूक्ष्म और वैज्ञानिक है, क्योंकि किसी भी वर्ग को प्रभावित करने वाली प्रवृत्तियों पर प्रभाव भी वर्ण्य-विषय तथा रचना-शैली के कारण ही पाया जाता है। अतः रचना-शैली और वर्ण्य-विषय का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। किसी भी युग या वर्ग का नामकरण करते हुए इन दोनों में से उसी प्रणाली को आधार बनाना चाहिए, जिसमें इसका प्राधान्य हो।

हिन्दी साहित्य का उत्तर मध्यकाल (सन् 1643 से 1843 ई. तक) के नामकरण के सम्बन्ध में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। मिश्रबन्धुओं ने इसे 'अलंकृतकाल' कहा और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसे 'रीतिकाल' नाम दिया। इन दोनों नामकरण का आधार रचना-पद्धति है। पण्डित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने इसे 'शृंगारकाल' नाम से उपमित किया जिसका आधार रचनाओं का वर्ण्य-विषय है। उत्तर मध्यकाल को 'अलंकृतकाल' कहने के पीछे मिश्रबन्धुओं का यह तर्क था कि इस युग में कविता को अलंकृत करने की परिपाटी अधिक थी ऐसा मानना युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि इस समय की रचनाओं में अलंकारों का ही बाहुल्य नहीं था अपितु अन्य काव्यांगों को भी यथोचित स्थान प्राप्त था। कवियों की प्रवृत्ति भी अलंकार की अपेक्षा रसाभिव्यक्ति में अधिक थी। अलंकृत शब्द इस युग की कविता का विषय विशेष तो हो सकता है, किन्तु लक्षण ग्रन्थों का नहीं। अतः इस युग को एक सीमा तक 'अलंकारकाल' कहा जा सकता है किन्तु 'अलंकृतकाल' कहना असंगत है।

विश्वनाथ प्रसाद मिश्र द्वारा उत्तरमध्यकाल को शृंगारकाल कहने के पीछे तर्क है कि शृंगारिक रचनाएँ करना इन कवियों की व्यापक प्रवृत्ति थी। यह सत्य है कि इस युग की अधिकांश रचनाएँ शृंगारिक थीं जो अपने आश्रयदाताओं को प्रसन्न करने के लिए लिखी गई थीं। इसका कारण कवियों की कामवासना नहीं अपितु जीवकोपार्जन था। इस युग के कई ऐसे कवि हैं जो अपने इस कृत्य से असन्तुष्ट थे। 'काव्यनिर्णय' ग्रन्थ में उल्लिखित भिखारीदास की यह उक्ति द्रष्टव्य है –

आगे के सुकवि रीझि हैं तौ 'कविताई', न तो राधिका कान्हा के सुमिरन को बहानो है।

अतः इन कवियों की मूल प्रवृत्ति शृंगारिक नहीं थी। शृंगारिक काव्य को वे काव्य कहने में संकोच करते थे। शृंगारवर्णन के स्थान पर वे अपने ग्रन्थों का प्रणयन काव्यांग-निरूपण के लिए किया करते थे। इन्होंने शृंगारिक रचनाएँ काव्यांग-निरूपण के उद्देश्य से काव्यरचना-पद्धति का ज्ञान करवाने के लिए लिखीं –

भाषा भूषण ग्रन्थ को, जो देखै चित्त लाय।
विविध अर्थ, साहित्य रस, ताहि सकल दरसाय॥

– भाषाभूषण, जसवन्तसिंह

* * *

कंठ करै जो समनि मैं, सोभें अति अभिराम।
भयो सकल संसार हित, कविता ललित ललाम॥

– ललित ललाम, मतिराम

वर्ण्य-विषय और रचना-पद्धति के आधार पर क्रमशः 'दरबारी युग' और 'मुक्तककाल' नामकरण भी हो सकते हैं। इन पर भी विचार करना उचित होगा। 'दरबारी युग' नामकरण अपने आप में दोषपूर्ण है, क्योंकि आलोच्य युग की प्रमुख प्रवृत्ति दरबारी नहीं थी। इस युग का साहित्य केवल कवियों द्वारा ही नहीं लिखा गया था। इतर भी बहुत से कवियों ने इस युग के साहित्य-सृजन में अपना विशेष योगदान दिया है। और ऐसे भी बहुत से कवि हैं जिन्होंने राजाश्रय समाप्त होने के पश्चात् भी बहुत कुछ लिखा। ये कवि दरबार में प्रतिष्ठित नागरिक के रूप विद्यमान थे, और कुछ समय के लिए दरबारों में आया-जाया करते थे। ये दरबार के स्थायी वेतनभोगी नहीं थे। इसलिए अन्य कर्मचारी और इन कवियों की स्थिति में बहुत अन्तर था। इन कवियों को दरबारी कहना इस लिए भी न्यायसंगत नहीं, क्योंकि इन्हें दरबारी कहने से उनका शास्त्र-ज्ञान, साहित्यिक चेतना और पाण्डित्य सामन्तीय-शासकीय व्यवस्था के अन्तर्गत कम महत्त्वपूर्ण-सा लगेगा।

इस युग को 'मुक्तककाल' नाम देना भी सही नहीं होगा, क्योंकि इसके पूर्व कालखण्ड 'भक्तिकाल' में भी प्रचुर मात्रा में मुक्तक काव्य लिखा गया। प्रबन्ध काव्य इन दोनों ही युगों में कम ही लिखे गए। तो पूर्व युग को इस आधार पर क्या 'मुक्तककाल' नाम दिया जा सकता है ? इस नाम से इस युग की साहित्यिक चेतना का भी बोध

नहीं होता। यह नामकरण एकपक्षीय और नितान्त अतिव्याप्ति दोष से युक्त है इसलिए इस नामकरण की स्तुति नहीं की जा सकती।

'रीति' विशेषण अपनाकर इस युग को 'रीतिकाल' कहना अधिक युक्तियुक्त होगा। इस युग में रीतिग्रन्थ प्रचुर मात्रा में लिखे गए। इन कवियों की प्रवृत्ति रीतिग्रन्थ लिखने की थी। शृंगारिक छन्द रचे भी गए तो इस निरूपण में उसके विभिन्न अवयवों के उदाहरण के लिए। रीतिनिरूपण-प्रवृत्ति संस्कृत काव्यशास्त्रीय परम्परा का निर्वाह करती हुई हिन्दी साहित्य में आई। भक्तिकाल में काव्यशास्त्र लोगों की चर्चा का विषय बन चुका था।

इस नाम को इसलिए भी स्वीकार किया जाना चाहिए, क्योंकि इसके अन्तर्गत वे लक्षण लक्ष्य ग्रन्थ ही नहीं आते जिसमें शृंगारिक वर्णन किया गया है। इसमें अन्य रसों से सम्बन्धित ग्रन्थ भी आ जाते हैं जो काव्यांग-विवेचन के लिए लिखे गए। यदि इस युग को शृंगारकाल कहा जाता तो अन्य रसों में सम्बन्धित लिखे गए साहित्य की अवहेलना होती। इस नाम के सम्बन्ध में ये कहा जाता है कि ये नाम भी व्यापक नहीं है, क्योंकि घनानन्द, आलम, बोधा, ठाकुर आदि कवियों ने अपने काव्य-ग्रन्थों की रचना काव्यशास्त्र से प्रभावित होकर नहीं की। इसके लिए तर्क यह है कि वर्तमान युग में भी ब्रजभाषा और काव्यशास्त्र के अनेक ग्रन्थों की रचना हुई है और अब भी हो रही है तो क्या इस कारण आधुनिककाल और गद्यकाल नाम को अमान्य ठहराया जा सकता है ? पुरानी परम्परा के ग्रन्थ तो सभी युगों में मिल जाते हैं। गिरिधर कविराय जैसे नीति कवियों की रचनाएँ भक्तिकाल की मर्यादावादी परम्परा की देन है। इस पर भी 'रीतिकाल' नामकरण पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। घनानन्द, बोधा की रचनाओं को पृथक् प्रवृत्ति के कारण 'रीतिमुक्त' कह देना असंगत न होगा। यदि इन कवियों के काव्य को शृंगार प्रधान मानकर इस युग के 'शृंगारकाल' नामकरण पर बल दिया जाए तो वह भी सही नहीं है, क्योंकि इन कवियों की प्रेमव्यंजना फ़ारसी की प्रेमाभिव्यक्ति पद्धति पर आधारित थी। इस काव्य को अलग ही स्थान मिलना चाहिए क्योंकि न तो इसे शृंगारकाल की सीमा में रखा जा सकता है और न ही रीतिकाल के अन्तर्गत। इस दृष्टि से ठाकुर कवि का यह छन्द द्रष्टव्य है –

सीखि लीन्हों मीन मृग खंजन कमल नैन
सीखि लीन्हों जस औ प्रताप की कहानी है।
सीखि लीन्हों कल्पवृक्ष कामधेनु चिंतामनि
सीखि लीन्हों मेरू औ कुबेर गिरि आनो है॥
ठाकुर कहत याकी बुरी है कठिन बात
याको नहिं भूलि कहूँ बाँधियत बानो है।
देल सो बनाय आय मेलत सभा के बीच
लोगन कबित कीओ खेल करि जानो है॥

उक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि रीतिकवियों की रचनाएँ सत् काव्य नहीं थीं। इसका अर्थ है कि इनका अपना पृथक् वर्ग था। इसलिए इन्हें फुटकल खाते में डाल देने में कोई हानि नहीं। किसी आग्रह वश इसे 'शृंगारकाल' संज्ञा दे भी दें तो भूषण जैसे राजप्रशस्तियों के रचयिता तथा जसवन्तसिंह जैसे कवि आचार्य फुटकल खाते में चले

जाएँगे और ऐसा करना उनके साथ अन्याय होगा। भूषण और जसवन्तसिंह आदि आचार्यों ने कुछ शृंगार रस प्रधान स्फुट छन्द लिखे हैं और अन्य नीतिनिरूपक कवियों ने भी शृंगारिक रचनाएँ की हैं, तब भी विषय-चयन के आधार पर इस युग को 'रीतिकाल' कहने में किसी प्रकार का अव्याप्ति दोष न होगा, क्योंकि प्रत्येक कवि द्वारा न्यूनाधिक रूप से शृंगार को ग्रहण किया गया। यह भी एक प्रकार की रीति ही है। इसलिए हिन्दी साहित्य के उत्तर मध्यकाल को 'रीतिकाल' नाम देना युक्तियुक्त और तर्कसंगतहोगा।

1.1.3. काल-सीमा-निर्धारण

साहित्य के ऐतिहासिक अध्ययन के लिए आलोच्य युग की रचनाओं का परिणाम जानने और साहित्य के प्रेरक तथ्यों को समझने के लिए कालसीमा का निर्धारण अनिवार्य हो जाता है। यह सीमा-निर्धारण ऐतिहासिक घटनाओं की तरह निश्चित नहीं हो सकता, क्योंकि साहित्य की विविध प्रवृत्तियाँ का आरम्भ, प्रसार और अन्त की कोई निश्चित तिथि नहीं बतायी जा सकती। किसी भी साहित्य के आरम्भ, विकास, चरम सीमा और अन्त के बीच 25-30 वर्षों का अन्तर तो रहता ही है। शुक्ल जी हिन्दी साहित्य के इतिहास में आलोच्य युग को 'रीतिकाल' संज्ञा देते हुए उसकी काल-सीमा वि.सं. 1700 से 1900 (सन् 1643 से 1843) तक मानी। निश्चित कालसीमा निर्धारित करने पर समस्या यह उत्पन्न होती है कि वि.सं. 1700 से पूर्व और वि.सं. 1900 के पश्चात् भी कई रीतिग्रन्थ लिखे गए। और रचनाकार ऐसे जिनका जन्म भक्तिकाल में हुआ और रचनाएँ रीतिकाल में लिखी गईं। ये कवि अपने ग्रन्थों की रचना इस युग की समाप्ति के पश्चात् भी करते रहे। इस दृष्टि से इस युग का समय सन् 1643 से 1843 ई. के स्थान पर क्रमशः सन् 1613-23 ई. तथा सन् 1863-73 ई. तक मानना तर्कसंगत होगा। इस युग के आदि और अन्त के दोनों ओर 20-30 वर्षों का जो समय छोड़ा गया है वह उसका आरम्भ और उपसंहृति के नामों से भी अभिहित किया जा सकता है। केशव की 'रसिकप्रिया' यद्यपि रीतिकाल के अनेक कवियों के नायिका-भेद विवेचन का आधार-ग्रन्थ ही रही। भिखारीदास आदि अनेक रीतिग्रन्थकार इनको आचार्य रूप में देखते रहे। भले ही इनके द्वारा प्रवर्तित अलंकार मार्ग आगे स्वीकृति न पा सका तथापि इनकी 'रामचन्द्रिका' रामभक्ति-परम्परा में ही आती है। केशव रीतिकाव्य के प्रवर्तक आचार्य होते हुए भी भक्तिकाव्य-परम्परा को सर्वथा नहीं त्याग सके। इनके अतिरिक्त सुन्दरदास और सेनापति रीतिग्रन्थकार होते हुए भी मूलतः सन्त और भक्त थे। न्यामत ख़ाँ जान की अधिकांश रचनाएँ भक्तिकालीन प्रेमाख्यान काव्य-परम्परा की है। अतः भक्तिकाल सन् 1593-1603 ई. तक रहा। इसके बाद 20-30 वर्षों में यह प्रवृत्ति क्रमशः क्षीण होती गई और सन् 1613-23 के बाद इसका अन्त और रीतिग्रन्थ-निर्माण की प्रवृत्ति की अविच्छिन्न परम्परा का आरम्भ दृष्टिगत होता है। सन् 1863-73 तक रीति-ग्रन्थों के निर्माण की प्रचुरता देखने को मिलती है। इसके पश्चात् पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन के साथ नवचेतना का आरम्भ होता है। इसलिए इसमें सन्देह नहीं कि 1857 ई. की देशव्यापी राजक्रान्ति से 10-15 वर्ष पूर्व ही नवचेतना का जन्म हो गया था। किन्तु इस क्रान्ति तक 'रीतिकाल' का सामन्तीय वातावरण समाप्त नहीं हुआ था। कतिपय राजाश्रयों में बराबर रीतिग्रन्थों की रचना होती रही। इसलिए सन् 1843 से 1863-73 तक ऐसा समय था जिसमें रीतिग्रन्थ लिखे गए और जनसामान्य में नवीन चेतना भी थी इसलिए यह 20-30 वर्षों का समय उपसंहृतिकाल कहा जा सकता है। इसके पश्चात् आधुनिककाल अपनी विशिष्टताओं के

साथ हमारे समक्ष आता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि 'रीतिकाल' का प्रसार अपनी प्रस्तावना से लेकर सन् 1863-73 ई. तक है। लगभग सन् 1643 ई. के कुछ बाद तक का समय रीतिग्रन्थों की रचना के चरमोत्कर्ष का युग था।

1.1.4. रीतिकालीन परिवेश और परिस्थितियाँ

साहित्य के निर्माण में युगीन परिस्थितियों और परिवेश का महत्त्वपूर्ण योगदान होता है क्योंकि साहित्य समाज की अभिव्यक्ति है। युगीन वातावरण का निर्माण राजनीति, समाज, संस्कृति, साहित्य और कला के विशिष्ट मूल्यों द्वारा होता है। रीतिकालीन साहित्य का अध्ययन करने के लिए वर्तमान परिस्थितियों को समझना अनिवार्य है, क्योंकि इस साहित्य में दो-ढाई सौ वर्षों में सत्ता, समाज, संस्कृति और साहित्य में हुए बहुत उतार-चढ़ाव देखे गए। एक विशिष्ट वर्ग से जुड़े होने के कारण साहित्य और कला ने विशेष दशा प्राप्त की।

1.1.4.1. राजनैतिक परिवेश

राजनैतिक दृष्टि से यह कालखण्ड मुगलों के उत्तरोतर उत्थान और पतन का युग था। शाहजहाँ के शासनकाल में मुगल साम्राज्य का वैभव अपनी चरम सीमा पर था। जहाँगीर से प्राप्त समृद्ध शासन को शाहजहाँ ने और विकसित किया। उत्तर भारत के अतिरिक्त दक्षिण में अहमदनगर बीजापुर और गोलकुण्डा राज्य तथा उत्तर पश्चिम के सिन्ध के लहरी बंदरगाह से लेकर असम में सिलहट एवं अफगान प्रदेश के बिस्त किले से लेकर दक्षिण औसा तक मुगलों के एकछत्र साम्राज्य की स्थापना हो गई थी। राजपूतों ने भी दिल्ली के शासक को अपना मित्र बना लिया था। देश में शान्ति और समृद्धि थी। ताजमहल और मयूर सिंहासन का निर्माण मुग़ल वैभव का प्रत्यक्ष प्रमाण था किन्तु शाहजहाँ की मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्रों में राजसत्ता के लिए युद्ध छिड़ गया और वैभवशाली मुग़ल साम्राज्य पतनोन्मुख हो गया। औरंगज़ेब ने अपनी धार्मिक असहिष्णुता और अहमन्यता का परिचय देते अपने सहिष्णु और उदार बड़े भाई दाराशिकोह की हत्या करवा दी और स्वयं शासन की बागडोर संभाली।

किबले के ढौर बाप बादशाह शाहजहाँ
सबको कैद कियो मानो मक्के आगि लाई है
वड़ो भाई दारा वाको पकरिकै मारि डार्‌यो
मेहरहू नाहि मा, को जाये सगो भाई है
खाइकै कसम त्यौ मुराद का मनाइ लियो,
फैरि ताहू साथ अति कीन्हीं तै उगाई है,
भूषण सुकवि कहै सुनो नवरंगजेब
ऐसी ही अनीति करि पातसाहि पाई है।

– भूषण, पण्डित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, छन्द 54

उसकी असहिष्णु नीति के कारण हिन्दू राजाओं, ज़मीदारों द्वारा धार्मिक उपद्रव और भी हो गए। अतः उनकी पूरी ताकत अन्तरिम उपद्रवों के दमन में ही लगी रही। उसकी अहंकार प्रवृत्ति ने उसकी अपनी सन्तानों की प्रतिभा का विकास नहीं होने दिया। इसलिए उसके किसी भी उत्तराधिकारी में ऐसी क्षमता नहीं उपजी कि वे साम्राज्य को एक सूत्र में बाँध सकें।

सन् 1707 ई. में औरंगज़ेब की मृत्यु के बाद उसका द्वितीय पुत्र मुअज़्ज़म (शाहआलम प्रथम) विजयी होकर गद्दी पर बैठा। सन् 1712 ई. में उसकी मृत्यु के पश्चात् मुग़ल साम्राज्य का पतन होना प्रारम्भ हो गया। संघर्ष अथवा दैवी प्रकोप के कारण कोई भी शासक लम्बी अवधी तक सत्ता नहीं संभाल सका। जो जीवित थे वे विलास और वैभव के नशे में सत्ता न संभाल सके। शासक की कमजोरी का लाभ उठाते हुए छोटे-छोटे जागीरदारों ने स्वयं को स्वतन्त्र घोषित कर दिया। धीरे-धीरे केन्द्रीय सत्ता दिल्ली और आगरा तक ही सिमट कर रह गई। सन् 1788 में नादिरशाह ने मुग़ल साम्राज्य हिला कर रख दिया। इस स्थिति से विदेशी व्यापारियों मुख्यतः अंग्रेज़ों ने पूरा-पूरा लाभ उठाया। सन् 1803 ई. तक लगभग समस्त भारत उनके अधिकार क्षेत्र में आ गया। मुग़ल सम्राट् अंग्रेज़ों के हाथों की कठपुतली बनकर रह गया।

प्रादेशिक राजाओं का भी अन्त कारुणिक रहा। अवध, राजस्थान और बुंदेलखण्ड अपनी आलसी विलासी प्रवृत्ति के कारण प्रजा का विश्वास खो बैठे। षड्यन्त्रों, कुचक्रों और आन्तरिक कलहों ने तथा अपनी द्वेष की भावना ने प्रान्तीय शक्तियों को भी एकजुट न होने दिया। परिणामस्वरूप मुग़ल साम्राज्य के साथ इनका भी अन्त हो चला था।

1.1.4.2. सामाजिक परिवेश

सामाजिक दृष्टि ये यह कालखण्ड घोर पतन का युग था। सामन्तवाद और सामन्तीय व्यवस्था की जितनी भी बुराइयाँ हो सकती हैं वे इस युग में आदि से अन्त तक व्याप्त देखी जा सकती हैं। सामाजिक व्यवस्था में उच्च स्थान पर बादशाह था और उसके अधीन थे मनसबदार तथा अमीर उमराव, उसके बाद पदानुसार अन्य कर्मचारी होते थे जो उच्च पदाधिकारियों की चाटुकारिता में लगे रहते थे। ऊँचे पद वाले अपने से नीचे पद वालों को अपनी सम्पत्ति मानते थे। शासक वर्ग श्रमजीवी, कृषकों और मज़दूरों की कमाई पर भी अपना अधिकार जमाते थे। गरीबी के मारे श्रमिक और किसान दोनों ही ओर से शोषित होते थे। प्राकृतिक विपदा और युद्धों के कारण उनकी एकमात्र आय के साधन कृषि की हानि होती थी। कर चुकाने और अपने जीवनयापन के लिए इन्हें बेगार करनी पड़ती थी। शासक और सम्पन्न वर्ग श्रम किए बिना ही जीवन गुजारा करता था। कृषक और कलाकार का एक ऐसा वर्ग था जो राजाश्रय में रहकर जीवन निर्वाह करता था। मुग़ल परिवार वैभवशाली, सुखी और सम्पन्न था। समूचा नगर रमणीय सरोवरों, सुवासित उद्यानों से शोभायमान होता था। शृंगारिकता का नग्न नृत्य होता था। मादक पदार्थों का सेवन, सैनिक शिविरों का जमाव आम बात थी। पद्माकर के शब्दों में तत्कालीन सामाजिक स्थिति स्पष्ट हो जाती है –

गुलगुली गिल में गलीचा हैचाँदनी है
चिक है चिरागन की माला है।
कहै पदुमाकर त्यों गजक गिजा है सत्रि सेज है
सुराही है, सुरा है और प्याला है।

रीतिकाल नैतिक दृष्टि से घोर पतन का युग था। इस विषय पर यदुनाथ सरकार ने लिखा है "मुग़ल अमीरों के नैतिक पतन का एक बहुत ही अर्थपूर्ण उदाहरण हमें वजीर के पौत्र तफख्खुर के चरित्र में मिलता है। अपने साथी गुण्डों को लेकर वह दिल्ली में अपने महलों से निकलता है और तब बाजार में दुकानों को लूटता तथा डोलियों में बैठकर नगर की आम सड़कों पर से निकलने वाली या यमुना नदी की ओर निकलने वाली हिन्दू स्त्रियों को उड़ाकर उनके साथ व्यभिचार करता था। फिर भी न तो वहाँ शक्तिशाली या साहसी न्यायधीश ही था जो उसे दण्ड दे सकता और न ऐसे अत्याचारों को रोकने के लिए वहाँ पुलिस का समुचित प्रबन्ध ही था। (औरंगज़ेब, यदुनाथ, पृ. 584)

इस युग में नारी की दशा अत्यन्त शोचनीय थी। उसका समाज में कोई स्वतन्त्र अस्तित्व न था। मुगलों के आक्रमण और घोर विलासिता ने समाज में पर्दाप्रथा और बालविवाह जैसी बुराइयों को जन्म दिया। नारी चहारदीवारी में क़ैद विलास की वस्तु मात्र थी। मुग़ल स्त्रियाँ ऐश्वर्य और वैभव की पुतलियाँ थी। भूषण ने 'शिवराजभूषण' में नारी की कोमलता और असहाय स्थिति का वर्णन किया है। यथा –

अतर गुलाब चोवा चंदन सुगंध सब
सहज सरीर की सुबास बिकसाती हैं।
पल भरि पलँग तें भूमि न धरत पाँव
तेई खानपान छोड़ि बन बिललाती हैं।
भूषन भनत सिवराज बीर तेरे त्रास
हारभार तोरि निज सुधि बिसराती हैं।
ऐसी परीं नरम हरम बादसाहन की
नासपाती खाती ते बनासपाती खाती हैं॥

अगणित बेगमों और रक्षिताओं के होते हुए भी शासक-सामन्त लोग वेश्याओं के यहाँ पड़े रहते थे। उनके इशारों पर किसी के भाग्य का निर्णय भी हो जाया करता था। शिक्षक ऐसे निम्न कोटि के थे कि वे जनसमूह को कामकला की शिक्षा देकर अपने कर्म की इतिश्री समझते थे। राजकुमारियाँ और शहजादियाँ महलों और हरमों में कार्य करने वाले सामान्य कर्मचारियों के साथ प्रेम व्यापार करने लग जाती थीं।

1.1.4.3. सांस्कृतिक परिवेश

रीतिकालीन युग-दृष्टि ऐहिकतापरक थी। धर्म और दर्शन की उच्च भूमि का स्पर्श यह युग नहीं कर सका। अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ की उदारतावादी नीति तथा सन्तों तथा सूफियों के उपदेशों के परिणामस्वरूप हिन्दू

और इस्लामिक संस्कृतियों के बीच जो सकारात्मक तालमेल बैठा था उसे औरंगज़ेब की कट्टरता ने एक झटके में चूर-चूर कर दिया । हिन्दू और मुसलमान अपने-आप एक-दूसरे से अलग होने लगे । विलास-वैभव के उद्दाम प्रदर्शन के कारण अपनी-अपनी धार्मिक आस्थाओं का दृढ़तापूर्वक पालन करना अब उनके वश से बाहर था। धर्म का स्थान अन्धविश्वासों और बाह्याडम्बरों ने ले लिया था। पण्डित और मुल्ला ही मनुष्य के भाग्य निर्माता थे। वैष्णव सम्प्रदायों के पीठाधीश लोभवश विलासी राजाओं और श्रीमानों को गुरुदक्षिणा देने लगे । तत्त्वचिन्तन छोड़कर वे भौतिकता को प्रश्रय देने लगे । हिन्दू अपने आराध्य 'राम' और 'कृष्ण' का अतिशय शृंगार ही नहीं करने लगे अपितु उनकी लीलाओं में अपने विलासी जीवन की संगति ढूँढ़ने लगे । इस्लाम धर्म पर वैभव विलास का सीधा प्रभाव नहीं था, पर रूढ़िवादिता के अत्यधिक बढ़ जाने के कारण वह भी जीवन की वास्तविकता से हट गया था। आध्यामिकता के अभाव ने धर्म को मूल्यों से विलग कर दिया था परिणामस्वरूप हिन्दू और मुस्लिम दोनों ही में संस्कारों की परिपक्वता नज़र नहीं आती थी । केवल बाह्याचरण ही धर्मपालन हो गया था। हिन्दू मन्दिरों में तथा मुसलमान पीरों के तकियों में जाकर मनोरथ सिद्ध करने की चेष्टा करने लगे थे । जनता के अन्धविश्वास का अनुचित लाभ पुजारी और मुल्ला अनेक प्रकार से उठाते थे। धर्म-स्थान भ्रष्टाचार और पापाचार के अड्डे बन गए थे। राम-लीलाओं तथा रामचरितमानस का पाठ मनोविनोद के लिए होता था। कुल मिलाकर पूर्व युग की तरह किसी भी क्रान्तिकारी परिवर्तन लाने में यह युग असमर्थ रहा। परम्परानुसार सूफी तथा सन्त अब भी विद्यमान थे किन्तु कबीर, नानक, जायसी जैसा व्यक्तित्व मिलना दुर्लभ था। इस स्थिति में नैतिक मूल्यों की स्थापना सम्भव न थी।

1.1.4.4. साहित्य एवं कला की स्थिति

किसी भी राष्ट्र का साहित्य और कला वहाँ के समाज और संस्कृति से प्रभावित होते हैं। रीतिकाल का काव्य और अन्य ललित कलाएँ दरबारी संस्कृति से पोषित और पल्लवित थीं । रीतिकाल में संस्कृतकालीन राजदरबारों की क्षीण परम्परा चली । प्राचीनकाल में सम्राटों की सभाओं में विद्वान्, कवि, विदूषक, गायक, इतिहास-पुराण के ज्ञाता आदि रहते थे। राजदरबार का आश्रय एक ओर तो इन विद्वानों के जीवनयापन और उनकी कला के परिष्कार का केन्द्र था तो दूसरी ओर आश्रयदाता इनकी उपस्थिति से यश-सम्मान प्राप्त करता था। विक्रमादित्य और भोज ऐसे ही गुणज्ञ शासक थे। लेकिन धीरे-धीरे इस गुणवत्ता का स्थान रूढ़िबद्धता और प्रदर्शन ने ले लिया फलस्वरूप भावप्रवणता और गम्भीरता के स्थान पर अलंकरण और चकाचौंध कर देने की प्रवृत्ति शेष रह गई।

जब देश की बागडोर दूरदर्शी, उदार और सुदृढ़ शासक के हाथों होती है तब देश में शान्तिपूर्ण वातावरण में राष्ट्र और संस्कृति का अद्भुत उत्कर्ष होता है। आठवीं विक्रमी तक जब सम्राट् हर्षवर्धन का समय था तब तक देश में शान्ति और सुव्यवस्था व्याप्त रही और काव्य और कलाओं का उत्कर्ष होता रहा । हर्षवर्धन के पश्चात् पश्चिमोत्तर सीमाओं से विदेशियों के आक्रमणों से उत्तरी भू-भाग में अशान्ति फैल गई। यह स्थिति अकबर से पूर्व तक बनी रही । अकबर उदार, दूरद्रष्टा और कला-प्रेमी शासक था। उसके दरबार में संगीतज्ञ, शिल्पी, चित्रकार और विविध भाषाओं के कवि रहते थे। अब्दुल रहीम ख़ानख़ाना जैसे प्रशासक, कवि और गुणवान व्यक्ति थे।

तुलसीदास, केशवदास और वैष्णव भक्तों से उनका सम्पर्क था। नरहरि, तानसेन, गंग, बीरबल आदि अकबर के दरबारी कवि थे। जहाँगीर के दरबार में फटकर, केशव मिश्र तथा शाहजहाँ के दरबार में सुन्दर, कुलपति मिश्र, चिन्तामणि और आचार्य पण्डितराज जगन्नाथ का सम्मान था। औरंगज़ेब के शासक बनने पर उसकी कट्टरतावादी और असहिष्णु नीति के कारण साहित्य और कला का ह्रास हुआ।

दरबारी वातावरण में प्रतियोगिता की भावना बनी रहती थी। एक ओर दरबारी नर्तकियाँ थी तो दूसरी ओर प्रशस्ति गायक। एक ओर चित्रकार थे, तो दूसरी ओर आश्रित ब्राह्मण पण्डित। ये सभी कलाविद् अपनी कला के चामत्कारिक प्रभाव से राजा को मोहित करने में लगे रहते थे। ऐसी स्थितियों में कवियों को भी वैसा ही प्रदर्शन करना पड़ता था। इस प्रतिस्पर्धा ने कामशास्त्र और अलंकारप्रियता को बढ़ावा दिया जिसके रहते अनुभूति पक्ष महत्त्वहीन हो गया। बरबस विविध शास्त्रों के ज्ञान को व्यक्त किया जाने लगा। इन्हीं जटिलताओं ने दरबारी संस्कृति को दुर्बल बना दिया। इन सबके बावजूद इस युग के साहित्य और कला का अपना महत्त्व है और दोनों की ऐसी विशेषताएँ हैं जो अन्य युगों की रचनाओं से पृथक् हैं।

उस समय फ़ारसी राजकाज की भाषा थी इसलिए अलंकारप्रधान शैली का प्रभाव इस युग की प्रत्येक भाषा-बोली पर रहा। लोकसंस्कृति से जुड़ी होने के बावजूद ब्रजभाषा भी इससे अछूती न रह सकी। आश्रयदाताओं की प्रशस्तियों और विलासी आश्रयदाताओं की वासनाओं को गुदगुदाने के लिए लिखी हुई शृंगारिक रचनाओं पर भी इस शैली का प्रभाव पड़ा। संयोगवश कविगण चमत्कार के उपकरणों के लिए फ़ारसी की ओर उन्मुख न होकर संस्कृत की ओर बढ़े। भारतीय भाषा होने के कारण संस्कृत काव्यशास्त्र में बताए गए सौन्दर्य के उपकरण अधिक अनुकूल पड़ते हैं। कवियों ने इन उपकरणों का प्रयोग इतने मनोयोग से किया कि इस पद्धति या नीति के कारण इस युग को 'रीतिकाल' की संज्ञा दी जाती है।

औरंगज़ेब के रूक्ष स्वभाव के कारण मुग़ल दरबार से कवियों का सम्बन्ध कट-सा गया था। फिर हिन्दू राजाओं और नवाबों की कृपा सदैव उन पर बनी रहती थी। इसलिए इन कवियों की प्रतिभा का ह्रास न हो सका। कुछ ऐसे भी कवि थे जो स्वतन्त्र रूप से काव्य-रचना कर रहे थे। शासकीय वातावरण में न रहने के कारण इनकी रचनाएँ काव्यशाली उपकरणों से अछूती रहीं। यही कारण है कि इनका काव्य दरबारी कवियों की तुलना में अधिक प्रभावी रहा। कुल मिलाकर इस युग में राजाश्रित कवियों और जनकवियों द्वारा रचित साहित्य गुण और परिमाण की दृष्टि से इतना विषद् है कि हिन्दीभाषी इस पर सहज ही गर्व कर सकते हैं।

1.1.4.5. चित्रकला

चित्रकला भी काव्य के समान ही प्रचलित एवं प्रसिद्ध थी। जहाँगीर के शासनकाल में गुण और परिमाण की दृष्टि से इस कला में पर्याप्त वृद्धि हुई। उसके बाद भी इसकी समृद्धि में कमी नहीं आई। औरंगज़ेब जैसे रूक्ष व्यक्ति ने भी अपने अनेक चित्र अंकित करवाये। सम्राटों की अभिरुचि के चलते इसकी स्वाभाविकता और सजीवता में कमी आने से नूतनता की दृष्टि से एक प्रकार का ह्रास हुआ। शाहजहाँ की अलंकारप्रियता ने राजकीय

ठाठ-बाट के चित्रों में चमक-दमक को स्थान दिया। रंगों में सुनहरे पानी को इतना महत्त्व दिया जाने लगा कि उसमें चित्रित व्यक्ति भी मूर्तिवत् प्रतीत होने लगे, उसमें सजीवता और गति के स्थान पर जड़ता आ गई। व्यक्ति चित्रों का उत्तरोतर अभाव होने लगा। हिन्दू रजवाड़ों विशेषतः राजस्थान और पर्वतीय क्षेत्रों में 'हिन्दू शैली' में विकसित चित्रकला लोकजीवन के अधिक निकट थी। इन दोनों क्षेत्रों की चित्रशैलियाँ क्रमशः राजस्थानी और काँगड़ा शैली के नाम से प्रसिद्ध हैं। राजस्थानी का मुख्य विषय रागमाला था। इनमें ऋतुओं का आश्रय लेकर शब्दों को रेखाओं और रंगों से अर्थ किया गया। कृष्णलीला, नायिका-भेद, बारहमासा के चित्र भी इस शैली में बनाए गए। इस युग के अनेक कवियों की रचनाओं में इसी प्रकार की रचनाओं के चित्र अंकित हुए हैं। कांगड़ा शैली के चित्रों का विषय महाभारत, श्रीमद्भागवत, दुर्गा सप्तशती, पुराण, इतिहास लोककथाओं आदि के अतिरिक्त दैनिक जीवन से सम्बन्धित बातें थी। इस युग की चित्रकला राजसी ठाठ तथा जनजीवन – दोनों को साथ लेकर चली है। इस युग के कवियों द्वारा रचित राज-प्रशस्तियाँ तथा शृंगारिक रचनाएँ क्रमशः इन दोनों प्रवृत्तियों के समानान्तर कही जा सकती हैं।

1.1.4.6. स्थापत्य-कला

शाहजहाँ के शासनकाल में स्थापत्य-कला का पर्याप्त उत्कर्ष हुआ। भारतीय स्थापत्य-कला में फ़ारसी वास्तुशैली का ही प्रभाव था कि 'ताजमहल' जैसी अजूबी ईमारत का निर्माण हुआ। उसके दृढ़ और रसिक व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति संगमरमर की रेशमी कठोरता से आँकी जा सकती है। उसने मोतीमस्जिद, दिवानेख़ास और लालक़िला जैसे स्वर्णिम प्रासादों का निर्माण कराया। अकबर के शासनकाल में लाल पत्थरों से निर्मित क़िले उसके पौरुष और महत्त्वाकांक्षा के प्रतीक थे। प्रदर्शन की प्रवृत्ति ने स्थापत्य-कला को अधिक चमत्कारपूर्ण और अद्भुत बनाया। राजपूत शैली में राजस्थान के महलों का निर्माण मुग़ल शैली का ही अनुकरण था। जहाँगीर ने भी अपने शासनकाल में स्थापत्य-कला को बढ़ावा दिया। वह चित्रकला में अपनी विशिष्ट रुचि रखता था इसलिए उसके समय में निर्मित भवनों, मकबरों और मस्जिदों के निर्माण में भी बारीक़ पच्चीकारी के नमूने प्राप्त होते हैं। संगमरमर के पत्थरों से बने बेल-बूटे, क़ीमती पत्थरों का प्रयोग, सोने के रंग का मुक्त प्रयोग, मणियों का जड़ाव और नक्काशी की सूक्ष्मता तत्युगीन विलास और वैभव का प्रत्यक्ष प्रमाण थी। शाहजहाँ के स्थापत्य में मूर्ति और चित्रकला का विशिष्ट स्थान था।

शहंशाह औरंगज़ेब अरसिक धर्मप्राण व्यक्ति था। उसने ललित-कला के विशिष्ट नमूने हिन्दू-मन्दिरों को धराशायी कर दिया। यद्यपि इस्लामिक आस्था के कारण उसने दो मस्जिदें और एक मक़बरा ज़रूर बनवाया। इसमें लाहौर की मस्जिद अपेक्षाकृत सुन्दर है। औरंगज़ेब की पहली और मुख्य बीवी राबिया उद्दौरानी दिलरस बानो बेगम की स्मृति में निर्मित औरंगाबाद स्थित 'बीबी का मक़बरा' आगरा के ताजमहल की प्रतिकृति है। हालाँकि ताजमहल सदृश नयनाभिराम स्थापत्य-कला वहाँ देखने को नहीं मिलती। स्वयं औरंगज़ेब की औरंगाबाद स्थित कब्र बहुत सामान्य-सी स्थिति में है। इस कालखण्ड तक आते-आते मुग़लकालीन स्थापत्य-कला पतनोन्मुखी होने लगती है। उसमें एक प्रकार की बर्बरता, रुखाई और उजड़ापन-सा निदर्शित होता है। औरंगज़ेब के बाद के मुग़ल शासकों के पास इतना धन ही शेष नहीं था कि वे इमारतें बनवाने का खर्च उठा पाते।

शाह आलम द्वितीय ने जैन शैली के अनुकरण पर गुजरात में कुछ इमारतें बनवायीं। मुग़लकालीन स्थापत्य-कला का थोड़ा-बहुत आक्षय दिल्ली से दूर रसिफ नवाबों के परिवारों में भी मिलता है, जिसमें मौलिक प्रतिभा का इतना भयंकर ह्रास हो चुका था कि लखनऊ की ये इमारतें निष्प्राण एवं सर्वथा अनुकृत कला का भी नमूना थीं।

मुग़ल दरबार तथा अवध के नवाबों के अतिरिक्त हिन्दू राजाओं ने भी स्थापत्य-कला को महत्त्व दिया। किन्तु भव्यता, मौलिकता और परिमाण की दृष्टि से यहाँ भी निराशा ही होती है। जयपुर में सवाई जयसिंह के राजमहल; संग्राम सिंह, सूरजमल, छत्रसाल आदि की छतरियों को ही मुख्य रूप से इस युग के हिन्दू राजाओं का स्थापत्य-कला में योगदान माना जा सकता है।

1.1.4.7. संगीत-कला

रीतिकाल में संगीत-कला की स्थिति किसी भी दृष्टि से सन्तोषजनक नहीं थी। अकबर और शाहजहाँ के समय तक तो संगीत की स्थिति अपने उत्कर्ष स्वरूप में थी। किन्तु शाहजहाँ के उपरान्त उत्तरोत्तर इसका ह्रास होता रहा। अकबर के समय में ग्वालियर के दरबार में 'ध्रुपद' जैसी गम्भीर शैली का विकास हुआ। तानसेन ने संगीत-कला और संगीतकारों को आश्रय देने में एक कीर्तिमान स्थापित किया। जहाँगीर के समय में संगीतकला-मर्मज्ञों को संगीतदर्पण जैसे संगीतशास्त्र का परिष्कृत ज्ञान था। उसके समय तानसेन के वंशज लाल ख़ाँ और हिन्दू कलावंत जगन्नाथ ने तानसेन के संगीत की सूक्ष्मताओं को ग्रहण कर उसे और अलंकृत बनाया। औरंगज़ेब का पूरा समय संगीत-कला के अपकर्ष का युग है। औरंगज़ेब ने दिल्ली दरबार से संगीत-कला का सर्वथा बहिष्कार कर दिया। कलावंत दिल्ली दरबार से नाराज होकर राजाओं और नवाबों के आश्रय में जाने लगे। औरंगज़ेब के उपरान्त मुहम्मदशाह रंगीले ने एक बार फिर संगीत को बढ़ावा दिया और शाही दरबार एक बार फिर अदारंग और सदारंग के खयालों से गूँज उठा। उसी समय शौरी मियाँ ने 'टप्पा गायन' प्रचलित किया। साथ ही, हिन्दू और फ़ारसी शैलियों के सम्मिश्रण से अन्य भी अनेक मधुर संगी शैलियों और ध्वनियों की सृष्टि हुई जिसमें शृंगारिक भाव ही महत्त्वपूर्ण रहा। इसी शताब्दी में श्रीनिवास ने 'रागतत्त्व विबोध' नामक एक ग्रन्थ लिखा। श्रीनिवास उत्तर भारत के मध्यकालीन संगीत के सबसे अन्तिम ग्रन्थकार हैं।

उत्तर भारत के हिन्दू राजा, रईस और नवाब संगीत को विलास का उपकरण मानते थे। अवध के अन्तिम नवाब वाजिद अली शाह को कला विकास के सभी उपकरणों से प्रेम था। डॉ॰ श्यामसुन्दर दास ने इसे भारतीय संगीत प्रणाली का अन्यतम स्त्रैण्य रूप माना है। इस प्रकार अन्य कलाओं की तरह संगीत-कला में भी विराट् और गम्भीर तत्त्व का अभाव था। एक प्रकार की स्त्रैण्य शृंगारिकता का प्रभाव समूचे रीतिकाल पर स्पष्टतया दिखाई देता है।

1.1.5. बोध प्रश्न

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. हिन्दी साहित्य के उत्तर मध्यकाल को 'शृंगारकाल' कहने के पीछे क्या तर्क है ?
2. हिन्दी साहित्य के उत्तर मध्यकाल को 'अलंकृतकाल' क्यों कहा गया ?
3. हिन्दी साहित्य के उत्तर मध्यकाल के लिए 'रीतिकाल' नाम ही क्यों सटीक है ?
4. रीतिकालीन राजनैतिक स्थिति पर प्रकाश डालिए।
5. रीतिकाल के काल-निर्धारण के विषय पर चर्चा कीजिए।
6. रीतिकालीन सांस्कृतिक परिवेश का परिचय दीजिए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. रीतिकाल के नामकरण की समस्या पर प्रकाश डालिए।
2. रीतिकाल की पूर्वापर सीमा-निर्धारण का तर्क सहित विश्लेषण कीजिए।
3. रीतिकालीन परिस्थितियाँ और परिवेश का सारगर्भित विवेचन कीजिए।

1.1.6. सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

1. मिश्रबन्धु विनोद, भाग – 2, संस्करण – वि.सं. 1972
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल, संस्करण – वि.सं. 2025
3. घनानन्द ग्रन्थावली, सम्पादक – विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, संस्करण – वि.सं. 2009, भूमिका
4. हिन्दी साहित्य का उत्तर मध्यकाल : रीतिकाल, प्रो॰ महेंद्र कुमार
5. हिन्दी साहित्य : युग और प्रवृत्तियाँ, शिव कुमार शर्मा, पंचम संस्करण
6. हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास, रामस्वरूप चतुर्वेदी, ग्यारहवाँ संस्करण, 1999

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 1 : रीतिकालीन हिन्दी साहित्य

इकाई – 2 : रीतिकालीन काव्य का स्वरूप

इकाई की रूपरेखा

1.2.0. उद्देश्य
1.2.1. प्रस्तावना
1.2.2. शास्त्रीय और साहित्यिक पृष्ठाधार
 1.2.2.1. शास्त्रीय आधार
  1.2.2.1.1. रस सम्प्रदाय
  1.2.2.1.2. अलंकार सम्प्रदाय
  1.2.2.1.3. रीति सम्प्रदाय
  1.2.2.1.4. ध्वनि सम्प्रदाय
  1.2.2.1.5. वक्रोक्ति सम्प्रदाय
  1.2.2.1.6. औचित्य सम्प्रदाय
  1.2.2.1.7. छन्दशास्त्र
 1.2.2.2. शृंगारिक आधार
 1.2.2.3. वीर काव्य
1.2.3. रीतिकालीन कवियों की श्रेणियाँ
 1.2.3.1. रीतिबद्ध कवि
  1.2.3.1.1. केशवदास
  1.2.3.1.2. देव
 1.2.3.2. रीतिसिद्ध कवि
  1.2.3.2.1. बिहारी
 1.2.3.3. रीतिमुक्त कवि
  1.2.3.3.1. घनानन्द
  1.2.3.3.2. ठाकुर
1.2.4. रीतिबद्ध, रीतिसिद्ध एवं रीतिसिद्ध कवियों की सामान्य प्रवृत्तियों का तुलनात्मक स्वरूप
1.2.5. बोध प्रश्न
1.2.6. सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

1.2.0. उद्देश्य

प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. रीतिकालीन साहित्य में संस्कृत काव्यशास्त्रीय प्रभाव को समझ सकेंगे।

ii. 'रीति' शब्द के अर्थ को इस विशिष्ट साहित्य के सन्दर्भ में भली-भाँति समझ सकेंगे।

iii. रीतिबद्ध, रीतिसिद्ध और रीतिमुक्त काव्य की प्रवृत्तियों को समझकर इनके मध्य अन्तर को स्पष्ट कर सकेंगे ।

iv. रीतिबद्ध, रीतिसिद्ध और रीतिमुक्त कवियों के व्यक्तित्व और कृतित्व से परिचित हो सकेंगे ।

1.2.1. प्रस्तावना

हिन्दी साहित्य के इतिहास में रीतिकाल एक विशिष्ट कालखण्ड के रूप में प्रसिद्ध है जिसमें संस्कृत काव्यशास्त्र के अनुशीलन की रीति (परिपाटी) थी । संस्कृत काव्यशास्त्र में अलंकार, रीति, रस, ध्वनि, वक्रोक्ति आदि काव्यशास्त्रीय अंगों पर चिन्तन-मनन हुआ है । अलंकारवाद, रीतिवाद और रसवाद काव्यशास्त्रीय चिन्तन में विशेष महत्त्व रखते हैं । हिन्दी रीति-ग्रन्थकारों का उद्देश्य काव्यांगों का शास्त्रीय विवेचन करना नहीं था । मूलतः ये कवि थे । किन्तु साहित्य के प्रति इनका दृष्टिकोण व्यापक नहीं कहा जा सकता । सामन्तों और आश्रयदाताओं की रुचि एवं मनोरंजन को दृष्टि में रखकर ही इन्होंने काव्य-रचना की है । वास्तव में यह काव्य जीविकोपार्जन के निहितार्थ रचा गया ।

आदिकाल के यौद्धिक वातावरण में चारण काव्य लिखे गए । भक्तिकाल में सन्त और भक्त लोक और आत्मकल्याण में निरत रहे । रीतिकाल से पहले तक हिन्दी साहित्य में शृंगारिक वर्णन कहीं किसी भी रूप में व्यक्त नहीं हुआ । तब तक की कविता या तो युद्धोन्मादकारी वर्णन अथवा सामान्य जन के हृदय में भक्ति उत्पन्न करने का एक माध्यम मात्र थी । भक्तिकाल में बाह्याडम्बरों और रूढ़ियों को दरकिनार कर प्रेम के उदात्त स्वरूप के दर्शन होते हैं जिसमें समन्वयकारी भावना निहित थी । सन्त और भक्तकवियों ने जाति-पाँति, छूआछूत, भेदभाव और ऊँच-नीच की कुप्रवृत्ति मिटाने का भरसक प्रयास किया । रीतिकाल तक आते-आते परिवेश और परिस्थितियों के बदलने पर प्रेम और भक्ति की उदात्तता शृंगारिकता के छिछले धरातल पर बिछ गई ।

प्रस्तुत इकाई में रीतिकालीन कविता की प्रवृत्तियों के साथ-साथ उसके साहित्यिक पृष्ठाधार की विस्तार से चर्चा की गई है । किसी भी साहित्य की विशेषताओं को जानने से पहले उन बिन्दुओं पर विचार करना आवश्यक है जिनसे आधार ग्रहण कर वह साहित्यिक धारा पल्लवित-पुष्पित हुई है ।

1.2.2. शास्त्रीय और साहित्यिक पृष्ठाधार

कोई भी साहित्यिक प्रवृत्ति अचानक ही जन्म नहीं ले लेती उसके पीछे अनुकूल परिस्थितियों और परम्परा का विशिष्ट योगदान होता है । रीतिकालीन काव्य संस्कृत काव्यशास्त्र की सुदीर्घ परम्परा की पीठिका पर आधारित है ।

1.2.2.1. शास्त्रीय आधार

1.2.2.1.1. रस सम्प्रदाय

रस सम्प्रदाय को सबसे प्राचीन सम्प्रदाय माना गया है। इसके संस्थापक आचार्यों में भरत और उनके सिद्धान्त के व्याख्याकार लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक, अभिनव गुप्त तथा भोज, मम्मट, विश्वनाथ आदि आचार्यों का नाम लिया जाता है। इन्होंने रस का स्वरूप और उसके भेदोपभेद की व्याख्या, विवेचन, महत्त्व आदि का प्रतिपादन किया। परवर्ती आचार्यों ने इस सिद्धान्त का सूक्ष्मता से विश्लेषण करते हुए इसे पाठकों के लिए सहज और बोधगम्य बनाया। ऐसे ग्रन्थों में भानुदत्तमिश्र की 'रसतरंगिणी' और 'रसमंजरी' विशेष उल्लेखनीय है, जिसमें रस के स्वरूप, भेदोपभेद के साथ शृंगार रस, इसके आलम्बन, नायक-नायिका-भेद, षडऋतु वर्णन आदि को व्यवस्थित और सरल ढंग से प्रस्तुत किया जिसका पूर्ववर्ती ग्रन्थों में सर्वथा अभाव था। इसलिए इन दोनों ग्रन्थों का पर्याप्त महत्त्व स्वीकार किया गया। कहीं-कहीं नाट्यशास्त्र, कामशास्त्र, काव्यप्रकाश और साहित्य दर्पण से भी आधार ग्रहण किया गया है। हिन्दी रीतिकवि तोष-कृत 'सुधानिधि', देव-कृत 'भावविलास', भिखारीदास-कृत 'रससारांश', सैयद गुलाम नबी 'रसलीन'-कृत 'रस प्रबोध', पद्माकर-कृत 'जगद्विनोद', बेनी 'प्रवीन'-कृत 'नव रसतरंग' आदि के अन्तर्गत रस की अन्तर्वस्तु, उनके भेद तथा नायक-नायिका भेद का सरल व प्रभावी वर्णन किया है। शृंगार रस एवं नायक-नायिका भेद निरूपक ग्रन्थों में मतिराम के 'रसराज', कालिदास त्रिवेनी के 'वारवधू विनोद' का विशिष्ट स्थान है।

1.2.2.1.2. अलंकार सम्प्रदाय

अलंकार सम्प्रदाय के सूत्र भरत द्वारा रचित 'नाट्यशास्त्र' में ही मिल जाते हैं जिसमें उपमा, रूपक, दीपक और यमक नामक चार अलंकारों की उद्भावना की गई है। भामह के बाद दण्डी, उद्भट, रूद्रट, जयदेव ने रसवादी अलंकारों का निरूपण कर काव्य की आत्मा अलंकार को ही माना। इसके बाद भानुदत्त मिश्र जैसे आचार्यों ने इस विषय को और अधिक सुबोध और सुगम्य बनाया। आचार्य अप्पयदीक्षित ने अपने ग्रन्थ 'कुवलयानन्द' में पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा स्थापित अलंकार सिद्धान्त के भेदोपभेदों को सरल और संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत किया।

1.2.2.1.3. रीति सम्प्रदाय

रीति सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य वामन हैं। इनसे पूर्व काव्यांग के रूप में रीति और उससे सम्बन्धित गुणों की चर्चा होती थी। भरत के 'नाट्यशास्त्र' में भी उसका उल्लेख है। दण्डी और वामन का गुण-विवेचन इससे प्रभावित है। भामह ने तीन गुणों का उल्लेख किया। वामन ने शब्द और अर्थ के आधार पर गुणों का विवेचन कर उनके आधार पर वैदर्भी, गौणी और पांचाली नाम की तीन रीतियों को स्थापित किया। आगे चलकर इस सिद्धान्त के विश्लेषण हेतु प्रयत्न नहीं हुए फिर भी गुण और रीति को काव्यांग के रूप में सभी ने माना। रुद्रट ने वैदर्भी, गौड़ी, पांचाली के साथ एक नई रीति 'लाटीय' का समावेश भी किया। रीति सम्बन्धी चर्चा को राजशेखर ने वृत्तियों के साथ जोड़ा और गौड़ी पांचाली तथा वैदर्भी रीति को नयी व्याख्या दी। भोजराज ने अपने 'सरस्वती कंठाभरण' में

रीतियों की संख्या में विस्तार किया है और कुल छह रीतियों की व्याख्या की है – पांचाली, गौड़ीय, लाटीय, वैदर्भी, मागधी और आवंतिका। भोज के उपरान्त मम्मट ने वामन की रीतियों में उद्‌भट की वृत्तियों का अन्तर्भाव करके उपनागरिका, परुषा और कोमला नामक वृत्तियों तथा वैदर्भी, गौणी और पांचाली रीति के क्रमशः माधुर्य, ओज और प्रसाद गुणों को स्वीकार किया तथा दस गुणों की बात का समर्थन नहीं किया। उन्होंने रीति का सम्बन्ध रस और गुणों के साथ ही व्यवस्थित किया। पण्डितराज जगन्नाथ ने भी इनका समर्थन किया। अतः तीन रीतियाँ और तीन गुण स्वीकार्य हो गए।

1.2.2.1.4. ध्वनि सम्प्रदाय

ध्वनि सम्प्रदाय के संस्थापक आचार्य आनन्दवर्द्धन हैं। पूर्ववर्ती वैयाकरणों के स्फोट सिद्धान्तों में इसके संकेत विद्यमान है। इस सिद्धान्त का कुन्तक और महिमभट्ट ने विरोध किया। किन्तु अभिनवगुप्त ने इस सिद्धान्त में रस के महत्त्व को स्थापित करते हुए इस सिद्धान्त को व्यापक दृष्टिकोण प्रदान किया। इसके पश्चात् मम्मट और विश्वनाथ ने ध्वनि का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया। पण्डितराज जगन्नाथ ने इसका पुरजोर विरोध किया और आनन्दवर्द्धन द्वारा निर्धारित काव्य के तीन भेदों – उत्तम, मध्यम और अधम के साथ उत्तमोत्तम नामक चौथे भेद को स्वीकार किया। परवर्ती आचार्यों पर पण्डितराज जगन्नाथ का प्रभाव कम ही पड़ा। उनके द्वारा मम्मट के विचारों को महत्त्व दिया गया।

1.2.2.1.5. वक्रोक्ति सम्प्रदाय

वक्रोक्ति सिद्धान्त के प्रवर्तक आचार्य कुन्तक हैं। कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा मानकर अलग काव्य-सम्प्रदाय चलाया लेकिन वह वक्रोक्ति मूलतः अलंकार है। इनका यह सिद्धान्त भामह द्वारा अलंकार का प्राणतत्त्व शब्द और अर्थ के वैचित्र्य वाली वक्रोक्ति और भटतौत द्वारा निरूपित नवनवान्मेशालिनी प्रतिभा पर ही केन्द्रित थी। यह सिद्धान्त आगे चलकर अधिक प्रचलित नहीं हो सका। मम्मट आदि ने इसे अलंकार विशेष से अधिक महत्त्व नहीं दिया।

1.2.2.1.6. औचित्य सम्प्रदाय

औचित्य सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य क्षेमेन्द्र हैं। इन्होंने औचित्य को काव्य का प्राणतत्त्व मानते हुए रस, छन्द, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति के औचित्यपूर्ण समन्वित प्रयोग को महत्त्व दिया। यह सिद्धान्त आगे प्रचलित नहीं सका क्योंकि इसमें कोई ऐसी नवीन दृष्टि नहीं थी कि परवर्ती आचार्य इसको अध्ययन का विषय बनाते। इस विषय पर आनन्दवर्द्धन और मम्मट चर्चा कर चुके थे।

1.2.2.1.7. छन्दशास्त्र

काव्यशास्त्र के इन छह सिद्धान्तों के अतिरिक्त संस्कृत में छन्द-विवेचन की धारा भी विद्यमान थी। उपर्युक्त आचार्यों में से किसी ने भी छन्दों को विशिष्ट काव्यांग के रूप में इसलिए स्वीकार नहीं किया क्योंकि वह गद्य-पद्य दोनों को ही काव्य मानते थे। छन्द-वर्णन की परम्परा भी वैदिक युग से चली आ रही थी। इसका आरम्भिक रूप वैदिक छन्दों में देखने को मिलता है। धीरे-धीरे वर्णिक छन्दों के साथ-साथ मात्रिक छन्दों का भी विकास हुआ। पिंगल के समय तक वर्णिक और मात्रिक छन्द भी अस्तित्व में आ गए। पिंगल के परवर्ती शास्त्रकारों ने इनमें से सामान्यतः उन्हीं छन्दों का विवेचन किया जो साहित्य में प्रचलित हो गए थे। इन्होंने कतिपय अप्रचलित छन्दों का भी प्रयोग किया। कालिदास-कृत 'श्रुतबोध', क्षेमेन्द्र-कृत 'सुवृत्ततिलक', भट्ट केदार-कृत 'वृत्तरत्नाकर', गंगादास-कृत 'छन्दोमंजरी' आदि इसी प्रकार के ग्रन्थ कहे जा सकते हैं। इस समय अनेक नये मात्रिक छन्दों का भी आविष्कार हुआ। धीरे-धीरे इन्हें भी शास्त्रीय मान्यता मिलने लगी। 'प्राकृत-पैंगलम' को छन्दों का सबसे प्रामाणिक और पूर्ण व्यवस्थित ग्रन्थ कहा जा सकता है। इस प्रकार रीतिकाल से पूर्व संस्कृत साहित्य में काव्यांगों और छन्दों की समृद्ध परम्परा विद्यमान रही है।

रीतिकालीन आचार्य कवियों ने संस्कृत आचार्यों के ग्रन्थों को आधार बनाया और लक्षण ग्रन्थ लिखे। संस्कृत आचार्यों के ग्रन्थों में शृंगार रस और नायक-नायिका-भेद के लिए भानुदत्त-कृत 'रसमंजरी', रस के भेदोपभेदों के लिए भानुदत्त-कृत 'रसतरंगिणी' एवं अलंकारों के लिए जयदेव-कृत 'चन्द्रालोक' और अप्पयदीक्षित-कृत 'कुवलयानन्द' रीतिकालीन आचार्य कवियों में लोकप्रिय रहे। सर्वांगनिरूपण के लिए रीतिकालीन आचार्य कवियों ने मम्मट-कृत 'काव्यप्रकाश' और विश्वनाथ-कृत 'साहित्यदर्पण' का आश्रय लिया। छन्दोविवेचन के लिए कवि भट्ट केदार-कृत 'वृत्तरत्नाकर' और गंगादास-कृत 'छन्दोमंजरी' तथा 'प्राकृत पैंगलम' का मुख्यतः सभी रीतिकालीन आचार्य कवियों ने सहारा लिया।

काव्यांगों का निरूपण भारतेन्दु युग तक तो विद्वता का उदाहरण बना किन्तु इसके पश्चात् विज्ञान और तकनीकी विकास ने जिस नये युग और परिवेश का सूत्रपात किया वहाँ रीतिपरम्परा उपेक्षित हो गई। द्विवेदीयुग में इसे अश्लील और संकुचित कहा जाने लगा। इसे प्रगतिविरोधी माना गया। आचार्य शुक्ल ने रीति साहित्य में विलासिता और चमत्कार के आधिक्य की निन्दा की किन्तु पण्डित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, डॉ॰ भगीरथ मिश्र और डॉ॰ रमेश कुमार शर्मा आदि आधुनिक विद्वानों ने उसके सद्पक्ष की पुष्टि की।

1.2.2.2. शृंगारिक आधार

रीतिकाव्य का प्रतिपादन काव्यशास्त्रीय शैली में हुआ है और शृंगारिकता उसका प्रमुख प्रतिपादन विषय रहा। हिन्दी के पूर्व संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश भाषाओं में शृंगारिक मुक्तकों की सुदीर्घ परम्परा मिलती है। समय और परिवेशगत प्रभाव के साथ शृंगारिकता का स्वरूप भी परिवर्तित हुआ। प्रारम्भ में इसमें ऐहिकता का स्वर तीव्र था। 'गाथाशप्तशती' को इसका आरम्भिक रूप कहा जा सकता है, जहाँ गार्हस्थ्य परिवेश में यौन सम्बन्धों के

वर्णन से तात्कालिक सामाजिक विचारधारा का सहज ही अनुभव किया जा सकता है। उस समय भारतीयों के मन में परलोक साधना की अपेक्षा गृहस्थ जीवन के प्रति आकर्षण बढ़ने लगा था। धीरे-धीरे गार्हस्थिक जीवन की सरलता का स्थान नागर जीवन की कृत्रिमता ने ले लिया। जीवन में अलंकरण और अतिशयता का प्राधान्य हो गया। अमरूक-कृत 'अमरूकशतक' तथा गोवर्द्धनाचार्य-कृत 'आर्यासप्तशती' के अध्ययन से इस तथ्य को समझा जा सकता है। आगे चलकर कृत्रिमता के साथ आभिजात्य-भावना का भी प्राबल्य हो गया। कालिदास-कृत 'शृंगारतिलक' और 'घटकर्पर'', भर्तृहरि-कृत 'शृंगारशतक', विल्हण-कृत 'चौरपंचाशिका' आदि इसके प्रमाण हैं। शृंगार की एक अन्य धारा भी साथ चली। जिसके अन्तर्गत कवियों ने हिन्दू-धर्म आराध्य शिव-पार्वती, राधा-कृष्ण की शृंगारिक लीलाओं की कल्पना की और उनके बहाने मुक्त कण्ठ से उद्दाम शृंगारवर्णन किया। 'वक्रोक्ति पंचाशिका', 'कृष्णलीलामृत' आदि इसी कोटि के ग्रन्थ कहे जा सकते हैं। शृंगार की तीसरी धारा में कामशास्त्रीय ग्रन्थ आते हैं। वात्स्यायन-कृत 'कामसूत्र', कोक्कन-कृत 'रति रहस्य', जयदेव-कृत 'रति मंजरी', प्रौढ़देवदाय-कृत 'रति रत्नदीपिका', कल्याणमल्ल-कृत 'अनंगरंग' और वीरभद्र-कृत 'कन्दर्पचिन्तामणि' इसी प्रकार की प्रमुख रचनाएँ हैं।

हिन्दी में चन्दवरदाई-कृत 'पृथ्वीराजरासो', कृपाराम-कृत 'हिततरंगिणी', सूर-कृत 'साहित्यलहरी' एवं 'सूरसागर' के शृंगारिक प्रसंग और संयोग-वियोग शृंगार वर्णनों पर शास्त्रीयता की स्पष्ट छाप देखी जा सकती है। तुलसी-कृत 'बरवै नायिका भेद' और 'नगर शोभा' आदि ग्रन्थों में अलंकरण की प्रवृत्ति है। विद्यापति, सूरदास, नन्ददास आदि कृष्णभक्त-कवियों द्वारा राधा-कृष्ण की लीलाओं के व्याज से शृंगारवर्णन किया गया है। कामशास्त्रीय ग्रन्थों की प्रेरणा इन रचनाओं के मूल में विद्यमान है।

आगे चलकर रीतिकाल में अपने अनुकूल वातावरण को प्राप्त कर शृंगारिक मुक्तकों की यह परम्परा अधिक पुष्ट और समृद्ध हुई। कामशास्त्रीय ग्रन्थों से प्रेरित रीतिकालीन कवियों ने पूर्ण मनोयोग से नायक-नायिकाओं की रति-क्रीड़ाओं का उन्मुक्त वर्णन किया। नायिका के प्रसिद्ध चार भेदों (पद्मिनी, चित्रिणी, शंखिनी और हस्तिनी) की उद्भावना के मूल में कामशास्त्रीय ग्रन्थों की प्रेरणा ही विद्यमान है।

1.2.2.3. वीर काव्य

शृंगार की तरह वीरकाव्य की परम्परा भी पूर्ववर्ती भाषाओं में समृद्ध थी। इसमें मुक्तकों के स्थान पर प्रबन्ध अधिक लिखे गए। वीरकाव्य-धारा मुख्यतः चार रूपों में दृष्टिगोचर होती है। पहलीधारा में वे ग्रन्थ आते हैं जिसके नायक रामायण और महाभारत के प्रसिद्ध वीर पात्र है। कालिदास-कृत 'रघुवंशम्', प्रवरसेन-कृत 'सेतुबन्ध', कुमारदास सभट्टि-कृत 'रावणवध', अभिनन्द-कृत 'रामचरितम्', क्षेमेन्द्र-कृत 'रामायणमंजरी', वामनभट्ट-कृत 'रघुनाथचरितम्', भारवि-कृत 'किरातार्जुनीयम्', माघ-कृत 'शिशुपालवधम्', देवप्रभसूरि-कृत 'पाण्डवचरितम्' आदि इसी धारा के प्रसिद्ध काव्य हैं।

दूसरी धारा के अन्तर्गत चरित काव्य आते हैं जिनमें बाण-कृत 'हर्षचरित', कनकसेनवादिराज-कृत 'यशोधराचरित', शंकुक-कृत 'भुवनाभ्युदय', गंगादेवी-कृत 'मथुराविजय', गंगाधर-कृत 'गंगादास प्रताप विलास', जयसक-कृत 'पृथ्वीराजविजय' आदि उल्लेखनीय है।

तीसरी धारा के अन्तर्गत कवियों द्वारा अपने श्रद्धापात्रों के प्रति लिखित प्रशस्तियाँ आती हैं। संकेत मेरुतुंग-कृत 'प्रबन्धचिन्तामणि' और राजशेखर-कृत 'प्रबन्धकोश' इसके उदाहरण हैं।

चौथी धारा के अन्तर्गत वे ग्रन्थ आते हैं जिनका निर्माण तो इतिहास-लेखन के उद्देश्य से किया गया था। किन्तु इनके रचनाकारों ने इनमें अपने आश्रयदाता राजा और सामन्तों का उदात्त स्वरूप वर्णित कर दिया है। ऐसी स्थिति में इतिहास-ग्रन्थ के रूप में चाहे इनकी प्रामाणिकता पर सन्देह किया जाए किन्तु साहित्य में इन्हें वीरकाव्य की कोटि में बेझिझक रखा जा सकता है। कल्हण-कृत 'राजतरंगिणी' तथा संध्याकरनंदि-कृत 'रामचरित' इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। प्राकृत और अपभ्रंश में भी वीरकाव्य-परम्परा विद्यमान रही किन्तु जैन और बौद्ध धर्म के प्रभावस्वरूप तत्युगीन साहित्यिक कलेवर धार्मिक ही रहा इसलिए सीमितता और रूढ़िबद्धता बनी रही।

हिन्दी के आदिकाल के अन्तर्गत चरितकाव्यों की परम्परा विद्यमान रही । चारण-भाटों के अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णनों में ओज का जो स्वरूप वर्णित है वह पूर्ववर्ती काव्य में मिलना दुर्लभ है। भक्तिकाल में कृष्ण और राम भक्ति के चरित विषयक ग्रन्थों में यह धारा क्षीण रूप में बहती रही। रीतिकाल में चरितकाव्यों की धारा तो अविच्छिन्न रही पर राम-कृष्ण आदि रामायण-महाभारत के प्रसिद्ध चरित्रों से सम्बन्धित काव्य एकदम लुप्तप्राय हो गए इसके स्थान पर संस्कृत के प्रशस्तिपरक मुक्तकों की धारा का प्राधान्य हो गया।

शृंगार और राज-प्रशस्तिपरक वीरकाव्य से इतर भक्ति और नीतिपरक मुक्तकों की परम्परा भी समानान्तर चलती रही। संस्कृत में अनेक स्त्रोत-संग्रहों के रूप में भक्तिपरक मुक्तक लिखे गए। बाण का 'चंडीशतक' इस दृष्टि से सबसे प्राचीन ग्रन्थ माना जा सकता है। अन्य देवी-देवताओं की स्तुति में भी अनेक स्रोत-ग्रन्थ लिखे गए। मानतुंग-कृत 'भक्तामर स्रोत', मयूर-कृत 'सूर्य शतक', केरल-नरेश कुलशेखर-कृत 'मुकुन्दमाला', आनन्दवर्द्धन-कृत 'देवीशतक', उत्पलदेव-कृत 'शिवस्तोत्रावलि', जयदेव-कृत 'गंगा रत्त्व', नीलकण्ठ दीक्षित-कृत 'आनन्दस्त' और 'शिवोत्कर्षमंजरी', पण्डितराज जगन्नाथ-कृत 'गंगालहरी' महत्त्वपूर्ण स्तुति-ग्रन्थ हैं।

हिन्दी में भक्तिकाल के अन्तर्गत भक्तिपरक ग्रन्थों पर पूर्ववर्ती स्रोतों का प्रभाव है। इन पर मुख्यतः पुराणों का प्रभाव देखा जा सकता है। रीतिकालीन कवियों द्वारा रचित रीतिग्रन्थों के मंगलाचरणों, विभिन्न अलंकारों, शान्त और भक्ति रसों आदि के स्फुट छन्दों में भी इसका प्रभाव रहा। रीतिकालीन कवि किसी सम्प्रदाय विशेष में दीक्षित नहीं थे। देवी-देवताओं की स्तुति इनके लिए मात्र आस्था की बात थी। इसलिए भक्तिकालीन कवियों की तुलना में इन कवियों की रचनाओं में इष्टविषयक वैविध्य अधिक देखने में आता है।

हिन्दी भाषा विकसित होने से पूर्व लिखित नीतिकाव्यों पर ब्राह्मण, बौद्ध और जैन सांस्कृतिक सिद्धान्तों का विशिष्ट प्रभाव रहा। ब्राह्मण संस्कृति के परिवेश में लिखे गए नीतिकाव्यों में चाणक्य-कृत 'चाणक्यशतक',

सुन्दर पांड्यकृत 'नीतिद्विषष्टिका', शंकरवर्मा-कृत 'वल्लालशतक', भर्तृहरि-कृत 'नीतिशतक', क्षेमेन्द्र-कृत 'चारुचर्चा' और 'सेव्यसेवकोपदेश' तथा गुमान कवि-कृत 'उपदेशशतक' उल्लेखनीय हैं।

जैनों द्वारा लिखे गए नीतिग्रन्थों में अमितगति-कृत 'धर्मपरीक्षा' तथा हेमचंद-कृत 'योगशास्त्र' प्रसिद्ध हैं। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त महायान और हीनयान शाखाओं तथा बाद में महायान की वज्रयान ओर सहजयान नामक उपशाखाओं से विकसित क्रमशः सिद्ध और नाथ सम्प्रदायों के सन्तों-योगियों द्वारा दिए गए उपदेश भी इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। हिन्दी की आरम्भिक अवस्था में इस तरह का काव्य बहुत कम लिखा गया। भक्तिकाल का साहित्य पूर्ववर्ती धार्मिक परम्पराओं के अनुरूप लिखा जाने के कारण बौद्ध और जैन प्रभावों से मुक्त था। सगुण भक्त कवि संस्कृत नीतिग्रन्थों के अनुगामी रहे। भक्ति और साधना से अंगीभूत तथा वैयक्तिक अनुभवों से अनुप्राणित सन्त काव्यधारा के नीतिपरक ग्रन्थों पर नाथ साहित्य का प्रभाव रहा।

1.2.3. रीतिकालीन कवियों की श्रेणियाँ

रीतिकालीन कवियों को मुख्यतः तीन श्रेणियों में विभाजित किया गया है – (i) रीतिबद्ध कवि, (ii) रीतिसिद्ध कवि तथा (iii) रीतिमुक्त कवि।

1.2.3.1. रीतिबद्ध कवि

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के अनुसार 'रीतिबद्ध' रचना लक्षणों और उदाहरणों से युक्त थी। डॉ॰ नगेन्द्र ने इस प्रकार की रचनाओं के कवियों को रीतिकार या आचार्य कवि माना है। इनके अनुसार रीतिकार आचार्य कवि वे हैं जिन्होंने काव्यशास्त्र की शिक्षा देने के लिए रीतिग्रन्थ लिखे। रीतिबद्ध कवि दो प्रकार के माने गए हैं – (i) सर्वांग-निरूपक कवि और (ii) विविधांग-निरूपक अथवा विशिष्टांग निरूपक कवि।

सर्वांग-निरूपक कवियों ने काव्य के सभी अंगों यथा – काव्य लक्षण, काव्य हेतु, काव्य प्रयोजन, काव्य गुण, काव्य दोष, शब्द-शक्ति, रीति, वक्रोक्ति, वृत्ति, रस, अलंकार, ध्वनि आदि का विवेचन किया। इस श्रेणी में केशवदास, चिन्तामणि, देव, सोमनाथ, भिखारीदास, प्रतापसाहि और ग्वाल उल्लेखनीय हैं। इन कवियों ने उदाहरणों के स्थान पर लक्षणों को विशेष महत्त्व दिया। अतः आचार्य कर्म उनका प्रधान लक्ष्य रहा। इन्होंने संस्कृत काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों यथा – मम्मट-कृत 'काव्यप्रकाश' और विश्वनाथ-कृत 'साहित्यदर्पण' को अपने काव्य-ग्रन्थों का आधार बनाया।

विविधांग-निरूपक अथवा विशिष्टांग निरूपक कवियों ने रस, अलंकार, पिंगल आदि के लक्षणों का निरूपण किया। इन्होंने काव्यशास्त्र के इन अंगों के लक्षणों को सरस उदाहरण द्वारा समझाने का प्रयास किया। विविधांग-निरूपक अथवा विशिष्टांग निरूपक कवियों में तीन प्रकार के ग्रन्थों की रचना की – (i) रस-निरूपक, (ii) अलंकार-निरूपक और (iii) छन्द-निरूपक।

रस-निरूपक ग्रन्थों में मतिराम-कृत 'रसराज', कृष्णभट्ट देवर्षि-कृत 'शृंगार रस माधुरी', कालिदास त्रिवेदी-कृत 'राधामाधव बुध मिलन-विनोद' और 'वारवधूविनोद', तोष-कृत 'सुधानिधि', देव-कृत 'भावविलास', भिखारीदास-कृत 'रस सारांश', सैयद गुलाम नबी 'रसलीन'-कृत 'रसप्रबोध', पद्माकर-कृत 'जगद्विनोद', बेनी प्रवीन-कृत 'नवरसतरंग' आदि का उल्लेख किया है। इन कवियों ने मुख्य रूप से संस्कृत के नाट्यशास्त्र, काव्यशास्त्र, काव्यप्रकाश और साहित्यदर्पण को अपने ग्रन्थों का आधार बनाया।

हिन्दी में अलंकार-निरूपक रचनाओं में मुख्य ग्रन्थ निम्नलिखित हैं – केशवदास-कृत 'कविप्रिया', जसवन्तसिंह-कृत 'भाषाभूषण', मतिराम-कृत 'ललितललाम' और 'अलंकार पंचाशिका', भूषण-कृत 'शिवराजभूषण' और पद्माकर-कृत 'पद्माभरण'। पद्माकर रीतिकाल के अन्तिम प्रसिद्ध आचार्य हैं। इनके अतिरिक्त गोप, रसिक, सुमति, रघुनाथ, दूलह, रसरूप, सेवादास और गिरिधरदास भी रीतिकाल के अलंकार-निरूपक आचार्य स्वीकार किए जाते हैं। अलंकार-निरूपक आचार्यों ने जयदेव के 'चन्द्रालोक' और अप्पयदीक्षित के 'कुवलयानन्द' का आधार ग्रहण किया है।

छन्द-निरूपक कवियों ने छन्द का सामान्य ज्ञान प्राप्त करने के इच्छुक पाठकों के लिए स्पष्ट और सुबोध छन्दशास्त्र का प्रतिपादन किया। रीति की वैज्ञानिक पद्धति के कारण छन्दशास्त्र की अभिव्यक्ति में मौलिकता का कोई दावा नहीं किया जा सकता, शास्त्र-निर्वाह ही प्रधान रहा। रीतिकाल के छन्द-निरूपक ग्रन्थों के अन्तर्गत मुरलीधर 'भूषण'-कृत 'छन्दोहृदयप्रकाश' (1666), सुखदेव मिश्र-कृत 'वृत्तविचार' और 'छन्दोविचार', मतिराम-कृत 'छन्दसारसंग्रह' और 'वृत्तकौमुदी', रामसहाय-कृत 'वृत्ततरंगिणी' मुख्य ग्रन्थ हैं।

हिन्दी के आचार्य कवियों ने काव्यशास्त्र विषयक अपनी मौलिक उद्भावना प्रस्तुत नहीं की। इनका उद्देश्य संस्कृत काव्यशास्त्र के दुरूह विषय को सरल और सुबोध शैली में शास्त्र-जिज्ञासुओं तक पहुँचाना था अतः इन्होंने सरस उदाहरणों द्वारा काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों को सरल रूप में प्रस्तुत किया।

1.2.3.1.1. केशवदास

इतिहासकारों ने केशवदास को भक्तिकाल के अन्तर्गत माना है किन्तु केशवदास रीतिकाव्य के आधार-स्तम्भ हैं। रीतिकाल की भूमिका केशवदास के बिना सम्भव नहीं है। हिन्दी साहित्यशास्त्र के प्रथम आचार्य होने का ऐतिहासिक महत्त्व केशव के लिए सुरक्षित है। चिन्तामणि आदि परवर्ती कवियों ने उनसे दिशा और प्रेरणा ली है। पण्डित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के अनुसार "केशव की रचना में उनके तीन रूप दिखाई देते हैं – (i) आचार्य का, (ii) महाकवि का और (iii) इतिहासकार का। ये परमार्थतः हिन्दी के प्रथम आचार्य हैं। ... इन्होंने ही हिन्दी में संस्कृत की परम्परा की व्यवस्थापूर्वक स्थापना की।" डॉ० भगीरथ मिश्र ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है।

केशवदास का आचार्यत्व पक्ष अधिक प्रसिद्ध है। अपने समय तक रचित सम्पूर्ण संस्कृत साहित्यशास्त्र का उन्हें ज्ञान था। इस ज्ञान का उन्होंने मात्र अंधानुकरण नहीं किया अपितु अपनी रुचि एवं मान्यताओं को भी पर्याप्त महत्त्व दिया। 'रसिकप्रिया' एवं 'कविप्रिया' का प्रणयन एक शिक्षक की दृष्टि से हुआ है। इनके शिक्षकत्व

में सहजता तो थी ही किन्तु साथ ही नये दृष्टिकोण को व्यक्त करने की आलोचनात्मक दृष्टि भी थी। 'कविप्रिया' के आचार्यत्व में परिचयात्मकता की प्रधानता है तो 'रसिकप्रिया' के आचार्यत्व में मौलिकता का पुट अधिक है। उन्हें शृंगार रस के 'रसराजत्व' की प्रतिष्ठा का आग्रह था। केशवदास ने काव्यशास्त्र के प्रारम्भिक और वर्तमान युग की मान्यताओं को ध्यान में रखकर हिन्दी में एक काव्यशास्त्र निर्मित करने का प्रयास किया। गद्य के अभाव के कारण इस काव्यशास्त्र में निजी रुचियों और मान्यताओं की स्थापना न हो सकी। इनके काव्यशास्त्र में गद्य का अभाव रहा।

आचार्य शुक्ल ने केशव की सहृदयता पर आक्षेप करते हुए उनकी कविता में दुरूहता और अस्पष्टता का सविस्तार उल्लेख किया है। डॉ॰ जगदीश गुप्त ने भी कहा है कि 'सुबरन' की खोज में तथा कविरूढ़ियों के निर्वाह में तल्लीन उनकी काव्य-चेतना कविसुलभ-रागात्मक तारतम्य और सहज सौन्दर्य-बोध से वंचित रह गई है। इन्होंने मुक्तक और प्रबन्ध दोनों काव्य-रूपों में अनेक काव्यों की रचना की। उदाहरणार्थ, 'रसिकप्रिया' (रस-भेद और नायक-नायिका-भेद प्रधान), 'कविप्रिया' (अलंकार प्रधान), 'रामचन्द्रिका' और 'छन्दमाला' (छन्द और भक्ति प्रधान), 'वीरसिंहदेव चरित' और 'जहाँगीर जसचन्द्रिका' (वीर-प्रशस्तिकाव्य), 'विज्ञानगीता' और 'रतनबावनी' (वैराग्य प्रधान) आदि।

केशव के आचार्यत्व का क्षेत्र मम्मट और विश्वनाथ के समान ही व्यापक है। रीतिकाल के केवल अलंकार क्षेत्र या नायिका-भेद क्षेत्र में घूमने वाले कवि-आचार्यों को छोड़ दें तो हमारे सामने प्रमुख पाँच नाम आते हैं – कुलपति मिश्र, श्रीपति, भिखारीदास, प्रतापसाही और देव। ये सभी आचार्य केशवदास के परवर्ती आचार्य कवि हैं। केशवदास ने रीतिकाल की नींव रखी और इन परवर्ती आचार्य कवियों ने भव्य इमारत खड़ी की। देव के विषय में डॉ॰ नगेन्द्र की स्पष्ट स्वीकृति है कि "देव ने भी मुक्तकण्ठ से केशव का गौरव स्वीकार किया है और अनेक स्थलों पर उनका अनुकरण किया है। इसके अतिरिक्त जहाँ तक साहित्य की गम्भीरता का प्रश्न है, केशव देव से बढ़कर हैं।" (देव और उनकी कविता – डॉ॰ नगेन्द्र) डॉ॰ नगेन्द्र की सम्मति से 'विवेचन की स्वच्छता', 'सिद्धान्तों का व्यवहारिक उपयोग' तथा 'काव्य की प्रवृत्ति का ज्ञान' – इन तीनों के विचार से केशवदास की तुलना में देव क्या, कोई भी रीतिकालीन आचार्य नहीं ठहरता। उनका केवल एक ही पक्ष दुर्बल है – मौलिकता। यद्यपि सम्पूर्ण रीतिकाल में केशव के समान व्यापक अध्ययन, गहरी पैठ एवं मौलिक दृष्टिवाला दूसरा आचार्य नहीं दिखाई देता। डॉ॰ नगेन्द्र के शब्दों में – "इस प्रकार केशव ऐतिहासिक दृष्टि से ही हिन्दी के प्रथम आचार्य नहीं है, प्रौढ़ता, व्यापकता एवं मौलिकता की दृष्टि से भी रीतिकाल के सर्वश्रेष्ठ आचार्य हैं। वे रीतिकाल के युगनिर्माता साहित्यकार हैं, यह बात कम महत्त्व की नहीं। युग-निर्माण की दृष्टि से निर्गुण काव्य-परम्परा में कबीर का, कृष्णभक्ति-परम्परा में सूर का, रामभक्ति-परम्परा में तुलसी का जो स्थान है, साहित्य को एक निश्चित धारा में मोड़ देने की क्षमता की दृष्टि से रीति-परम्परा में वही स्थान आचार्य केशवदास का है।"

केशव दर्शन और धर्मशास्त्र में भी अपनी पैठ रखते थे। केशव का दर्शन अद्वैतवाद है जिसके व्यावहारिक पक्ष में द्वैत की भूमि है और उसके साथ भक्ति, धर्म, वैराग्य के भाव भी विद्यमान हैं। 'विज्ञानगीता' इस क्षेत्र का सशक्त प्रमाण है। उनके रचना-संसार में शास्त्र और धर्म के साथ-साथ इतिहास का भी अद्‌भुत समन्वय द्रष्टव्य है।

'रतनबावनी', 'वीरसिंहदेव-चरित' और जहाँगीर-जस-चन्द्रिका में तत्कालीन समाज का यथास्थिति उल्लेख हुआ है, वैसा उल्लेख अन्य ऐतिहासिक रचनाओं में नहीं मिलता।

केशव के कवित्व पक्ष को देखें तो केशव हमारे समक्ष 'रामचन्द्रिका' के प्रबन्ध कवि, 'विज्ञानगीता' के प्रतीक, पाठ्यरूप रचयिता तथा तीन ऐतिहासिक काव्य कृतियों के रचनाकार के रूप में आते हैं। साहित्यिक विधाओं के क्षेत्र 'रसिकप्रिया' और 'कविप्रिया' की सरसता तो आचार्य शुक्ल तक ने स्वीकार की है। केशव के प्रबन्ध कवि रूप में कई आक्षेप लगाए गए हैं। जिनमें प्रबन्ध-कौशल, भावुकता, प्रकृति निरीक्षण का अभाव और चमत्कारपूर्ण वर्णन का आग्रह प्रमुख है। प्रबन्ध-रचना में केशव का दृष्टिकोण तुलसीदास से भिन्न है। उन्होंने रामचरित-वर्णन वैभव को आधार बनाकर लिखा जबकि तुलसी ने काव्य-दृष्टि को ध्यान में रखकर लिखा है। केशव ने कथासम्बन्धी सूत्रों का विशेष ध्यान नहीं दिया। केशव की भावुकता सूर और तुलसी जैसी तो नहीं है किन्तु रीतिकाल के अन्य कवि-पण्डितों की अपेक्षा कम भी नहीं है।

केशव प्रकृति के जन्मजात कवि नहीं थे। केशव से कई शताब्दियों पूर्व ही संस्कृत काव्य प्रकृति-निरीक्षण से दूर हो गया था। केशव उसी परम्परा के कवि हैं। यह सच है कि केशव में आलंकारिक चमत्कार का मोह है किन्तु यदि उनके द्वारा दिए गए लक्षणों के समान अलंकारों को समझा जाए तो वे दुरूह प्रतीत नहीं होते। 'रामचन्द्रिका' और 'रामचरितमानस' को समकक्ष रखकर देखा जाना उचित नहीं कहा जा सकता क्योंकि मानस एक भक्तिकाव्य है जबकि 'रामचन्द्रिका' दरबारी काव्य है।

केशव-काव्य में भावुकता, कल्पना, रस, अलंकार, वर्णन-वैभव, चमत्कार सबका अपने-अपने स्थान पर सुन्दर परिपाक हुआ है। प्रतिभावान् कवि केशवदास मूलतः शास्त्रीय कवि हैं। इसी से उनके काव्य में भावपक्ष की अपेक्षा कलापक्ष अधिक मुखर है। कलापक्ष की दृष्टि से कवि केशवदास का अद्वितीय स्थान है।

केशव की काव्यभाषा सूर-तुलसी की काव्यभाषा की अपेक्षा निर्बल है। केशव ने ब्रजभाषा के अतिरिक्त बुंदेलखण्डी, अवधी, अरबी-फ़ारसी के साथ-साथ संस्कृत भाषा के शब्दों का निर्बाध प्रयोग किया। संस्कृत शब्दों की बहुलता के कारण केशव की भाषा क्लिष्ट एवं कठोर दृष्टिगोचर होती है। वास्तव में केशव ने हिन्दी भाषा को संस्कृत के ही समान चमत्कारपूर्ण एवं विविध अर्थमयी बनानेका प्रयास किया। इनकी भाषा विविध अलंकारों से अलंकृत है और शास्त्रीय विशेषताओं से विभूषित है।

केशव की भाषा उनकी उत्कृष्ट कवित्व-शक्ति की परिचायक है। काव्यभाषा पर केशव का पूर्ण अधिकार है। उनकी भाषा में सशक्तता और काव्योपयोगिता का प्राधान्य है। वहाँ भावानुकूल गति है, संवादानुकूल धाराप्रवाह है, नाटकीय सजीवता है, साहित्यिक गम्भीरता है और इन सबसे अधिक उत्कृष्ट अभिव्यंजना शक्ति है।

1.2.3.1.2. देव

मध्यकालीन रीतिकाव्य को प्रतिष्ठित करने में कवि देव का विशिष्ट योगदान है। अपने ग्रन्थों में उल्लिखित परिचय के अनुसार इनका पूरा नाम देवदत्त था। देव इनका उपनाम है। देव इटावा (उत्तरप्रदेश) के निवासी थे। ये कश्यप गोत्री, कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। इनका जन्म 1673 ई. में हुआ था। ये आजमशाह, चरखारीपति राजा सीताराम के भतीजे भवानीदत्त वैश्य, फफूँद रियासत के राजा कुशलसिंह, राजा सेठ भोगीलाल, इटावा के निकटवर्ती ड्योड़िया खेरा के राजा उद्योतसिंह, दिल्ली के रईस पातीराम के पुत्र सुजानमणि तथा पिहानी के अधिपति अली अकबर ख़ाँ आदि अनेक राजा-रईसों और नवाबों के आश्रय में रहे। इनकी मृत्यु सन् 1767 ई. के आस-पास हुई मानी जाती है।

इनके द्वारा रचित ग्रन्थों की संख्या बहत्तर कही जाती है। आचार्य शुक्ल ने अपने ग्रन्थ 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में इनके उपलब्ध पच्चीस ग्रन्थों का नामोल्लेख किया है। देव रचित प्रमुख ग्रन्थ निम्नलिखित हैं – 'भावविलास', 'अष्टयाम', 'भवानीविलास', 'प्रेमतरंग', 'कुशलविलास', 'देवचरित्र', 'जातिविलास', 'रसविलास', 'प्रेमचन्द्रिका', 'सुजानविनोद' या 'रसानन्दलहरी', 'शब्दरसायन' या 'काव्यरसायन', 'सुखसागर तरंग', 'रागरत्नाकर', 'प्रेम पच्चीसी', 'तत्त्वदर्शन पच्चीसी', 'आत्मप्रदर्शन पच्चीसी', 'जगद्दर्शन पच्चीसी' तथा 'देवमाया प्रपंच'। विषयवस्तु के आधार पर इसके ग्रन्थों को दो भागों में बाँटा जा सकता है – काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ तथा अन्य ग्रन्थ।

'प्रेमचन्द्रिका' में विषय-वासना के तिरस्कार, प्रेम के माहात्म्य और उसके विभिन्न रूपों का वर्णन किया गया है। 'रागरत्नाकर' संगीत-विषयक लक्षण ग्रन्थ है। 'देवशतक' अध्यात्मसम्बन्धी ग्रन्थ है जिसमें जीवन-जगत् की असारता, ब्रह्मतत्त्व तथा प्रेम के माहात्म्य का वर्णन है। 'देवचरित्र' कृष्ण के जीवन से सम्बद्ध प्रबन्धकाव्य है।

'देवमायाप्रपंच' संस्कृत के 'प्रबोधचन्द्रोदय' नाटक का पद्यबद्ध अनुवाद है। शेष ग्रन्थ काव्यांग-विवेचन सम्बन्धी हैं। इसमें 'भावविलास' (689 ई.) के अन्तर्गत रस-सामग्री और रसभेदों विशेषतः शृंगाररस और नायक-नायिका-भेद तथा 39 अलंकारों के विवेचन में भानुदत्त की 'रसमंजरी' और 'रसतरंगिणी', भामह के 'काव्यालंकार' दण्डी के 'काव्यादर्श' तथा केशव की 'रसिकप्रिया' और 'कविप्रिया' का आश्रय लिया गया है। 'शब्दरसायन' में क्रमशः काव्य-स्वरूप, शब्द-शक्ति, नवरस, नायक-नायिका भेद, रीति, गुण, वृत्ति, अलंकार और पिंगल का विवेचन 'काव्यप्रकाश', 'साहित्यदर्पण', 'रसमंजरी', और 'रसतरंगिणी' के आधार पर किया गया है। शेष ग्रन्थों में नायक-नायिका-भेद और शृंगार रस से सम्बद्ध विवेचन है जिसका मूल आधार भानुदत्त की 'रसमंजरी', केशव की 'रसिकप्रिया' और रहीम का 'बरवैनायिका-भेद' आदि ग्रन्थ रहे हैं। 'सुखसागरतरंग' इन विषयों से सम्बद्ध कवित्त-सवैयों का संग्रह है जबकि 'अष्टयाम' में दिन के आठ पहरों में नायक-नायिका के विविध विलासों का चित्रण है।

देव के काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों को ध्यान में रखकर कहा जा सकता है कि उन्होंने काव्य के विविध अंगों का वर्णन अपने ग्रन्थों में किया है। इनके काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों पर 'काव्यप्रकाश', 'साहित्यदर्पण', 'रसतरंगिणी' और 'रसमंजरी' का प्रभाव देखा जा सकता है। काव्यशास्त्रीय विवेचन में उन्होंने कई नयी उद्भावनाओं का भी समावेश किया है। लक्षणों की सुबोधता स्पष्टता और संक्षिप्तता तथा उदारणों की तदनुरूपता के साथ-साथ अपने मत को आत्मविश्वास और प्रबलता के साथ व्यक्त करने में देव सक्षम थे। "दधि, घृत, मधु, पायस तजि वायसु चाम चबात" कहकर चित्रकाव्य का तथा "प्रेमहीन प्रिय वेश्या हैं शृंगाराभास" कहकर इन्होंने सामान्य प्रेम का तिरस्कार किया है। भेदीकरण और मौलिक उद्भावनाओं की अभिव्यक्ति इनके काव्य का प्रमुख गुण है। इनके काव्य में गुणों के साथ दोषों का भी समावेश है। इनके लक्षणों और उदाहरणों में कहीं-कहीं अस्पष्टता और भ्रान्ति मिलती है। उनमें अशास्त्रीयता और असामंजस्य दिखाई पड़ता है। उदाहरण के लिए इनके रस विवेचन में एक स्थान पर शृंगार, वीर, रौद्र और वीभत्स को मुख्य तथा हास्य, भयानक, अद्भुत और करुण को उनके आश्रित कहने में असामंजस्य का बोध होता है। अलंकार-विवेचन में कई अलंकारों के लक्षणों में परस्पर भिन्नता अव्यवस्था की परिचायक है। सत्व, वातादि प्रकृतियों के आधार पर नायिकाओं के भेदों के आविष्कार में भी अशास्त्रीयता दिखाई देती है। इन्हीं दोषों के कारण इनका रीति-निरूपण न तो साधारण पाठक के लिए उपयोगी बन पाया है और न गम्भीर अध्येता को अपनी ओर आकृष्टा करने में समर्थ ही है।

कवित्व की दृष्टि से इनकी रचनाएँ अधिक आकर्षक और प्रभावी हैं। इन्होंने कुछ तत्त्वचिन्तन सम्बन्धी रचनाएँ भी की हैं किन्तु इनका मूल विषय शृंगारिकता हीहै। कल्पना की ऊँची उड़ान के परिणामस्वरूप रंग, वैभव और प्रसाधन सामग्री की बिम्ब-योजना ने इनके काव्य में विशेष सौन्दर्य की सृष्टि की है। उनकी भाषा भी कम समर्थ नहीं है। प्रत्येक शब्द अपनी विषयानुरूपता का परिचय देते हैं। कहीं-कहीं शब्दों की तोड़-मरोड़ और व्याकरण की अव्यवस्था भी दिखाई देती है, किन्तु ऐसा भावाभिव्यक्ति की माँग को लेकर ही किया गया है। अतः कुल मिलाकर इनका काव्य सरस और ग्राह्य है।

1.2.3.2. रीतिसिद्ध कवि

जिन कवियों ने रीतिग्रन्थों की रचना न करके काव्य-सिद्धान्तों या लक्षणों के अनुसार काव्य-रचना की है; अलंकार, रस, नायिका-भेद, ध्वनि आदि उनके ध्यान में तो रहे हैं परन्तु उनका प्रत्यक्षतः निरूपण इन कवियों ने नहीं किया है वरन् उनके अनुसार उत्कृष्ट काव्य का सृजन किया है, वे रीतिसिद्ध कवि हैं।

काव्यशास्त्रीय विवेचन में सिद्धस्थ रीतिसिद्ध कवियों ने रस, अलंकार, ध्वनि, छन्द, नायक-नायिका-भेद आदि से सम्बन्धित स्वतन्त्र पदों की रचना की। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के अनुसार इन्होंने रीति की सारी परम्परा सिद्ध कर ली थीं अर्थात् इनकी रचनाएँ रीति की बँधी परिपाटी के अनुकूल ही हैं परन्तु लक्षणग्रन्थ प्रस्तुत न करके इन्होंने स्वतन्त्र रूप से अपनी रचनाएँ रची हैं।

रीतिसिद्ध कवियों ने स्वानुभूति को अलंकृत शैली में अभिव्यक्त किया । आचार्यत्व का प्रदर्शन इनका ध्येय नहीं था। रीतिसिद्ध कवियों ने संस्कृत, प्राकृतादि की मुक्तक परम्परा का प्रभाव ग्रहण किया है। विद्यापति, चंडीदास, सूरदास, रहीम, तुलसीदास आदि हिन्दीभाषा के कवियों से भी इन्होंने प्रभाव ग्रहण किया है। रीतिसिद्ध कवियों के काव्य में नारी-सौन्दर्य, नागर-जीवन, भक्ति, ज्योतिष, नीति, ज्ञान, शृंगार आदि भावों से युक्त पद सम्मिलित हैं। इनका भाव क्षेत्र रीतिबद्ध काव्य की तुलना में अधिक व्यापक और जीवन्त है।

1.2.3.2.1. बिहारी

हिन्दी के लोकप्रिय कवि बिहारी का जन्म संवत् 1652 में हुआ। उनका जन्मस्थान ग्वालियर माना जाता है। बिहारी के पिता का नाम केशवराय था। ये जाति से माथुर चौबे थे। कतिपय विद्वानों ने आचार्य केशवदास को इनका पिता सिद्ध किया है। इन्होंने निम्बार्क सम्प्रदाय के अनुयायी स्वामी नरहरिदास से संस्कृत, प्राकृत आदि भाषाओं का ज्ञान प्राप्त किया। बिहारी भाषा और शास्त्र-पण्डित होने के साथ-साथ संगीत-मर्मज्ञ भी थे। शाहजहाँ के सम्पर्क में आने पर उन्होंने फ़ारसी शायरी के प्रति भी अपनी रुचि दिखाई। डॉ० विजयेन्द्र स्नातक के अनुसार बिहारी की पत्नी भी कुशल कवयित्री थीं। बिहारी का जीवन बुन्देलखण्ड, मथुरा, आगरा और जयपुर में व्यतीत हुआ। उनका देहावसान वि.सं. 1720 में हुआ।

'बिहारी सतसई' हिन्दी साहित्य की उत्कृष्ट कृति है। इसमें 713 दोहे संकलित हैं। मुक्तक रचना होकर भी इसकी ख्याति 'पद्मावत', 'सूरसागर' तथा 'रामचन्द्रिका' से कमतर नहीं है। बिहारी के इस एक ही ग्रन्थ ने उन्हें हिन्दी साहित्य में विशिष्ट बना दिया। 'बिहारी सतसई' की उत्कृष्टता सिद्ध करते हुए आचार्य शुक्ल कहते हैं – "यह बात साहित्यिक क्षेत्र के इस तथ्य की स्पष्ट घोषणा कर रही है कि किसी कवि का यश उसकी रचनाओं के परिणाम से नहीं होता, गुण के हिसाब से होता है। मुक्तक काव्य के कवि में कल्पना की समाहार शक्ति और भाषा की समाशक्ति का होना अनिवार्य है, उसे अपने खण्ड दृश्यों में रस की एक ऐसी वेगवती अजस्र धारा प्रवाहित करनी होती है जो हृदय कलिका को विकसित कर दे, उसके प्रत्येक पद का पूर्वापर सम्बन्ध से रहित अपना एक अलग अस्तित्व हो, उसके पद्य-स्तम्बकों में प्रभावजन्य एक अपूर्व निविडता और तरलता हो, जो स्थायी प्रभाव उत्पन्न करने में सूक्ष्म हो और पाठक को चमत्कृत कर दे। मुक्तक के वे समूचे गुण अपने भव्य रूप में बिहारी में विद्यमान थे। उनका प्रत्येक दोहा एक-एक उज्ज्वल रत्न है। उन्होंने गागर में सागर भर दिया है। इनके दोहे रस की पिचकारियाँ है। वे एक ऐसी मीठी रोटी है जिसको जिधर से तोड़ा जाए उधर से मीठी लगती है।" इसलिए कहा गया है –

सतसैया के दोहरे, अरु नावुक कै तीरु।
देखत तौ छोटै लगैं, घाव करै गंभीरु॥

बिहारी के काव्य-वैशिष्ट्य को उद्घाटित करते हुए पद्मसिंह शर्मा लिखते हैं – "हिन्दी कवियों में श्रीयुत् महाकवि बिहारीलाल का आसन सबसे ऊँचा है। शृंगाररस-वर्णन, पदविन्यास-चातुर्थ, अर्थ गाम्भीर्य, स्वाभावोक्ति और स्वाभाविक बोलचाल आदि खास गुणों में वे अपना जोड़ नहीं रखते।"

बिहारी शृंगारी कवि है। शृंगार के संयोग पक्ष में उनका जितना मन रमा है उतना वियोग में नहीं। संयोग पक्ष का कोई ऐसा पहलू नहीं जो उनसे अछूता रह गया हो। मिलन-सुख में बिहारी ने जो वर्णन प्रस्तुत किए हैं, वे कुछ रसिकों के लिए प्रिय हो सकते हैं किन्तु गम्भीर व्यक्तित्व वाले को नहीं भी रुच सकते। आचार्य शुक्ल के अनुसार "कविता उनकी शृंगारी है पर प्रेम की उच्च भूमि पर नहीं पहुँचती, नीचे रह जाती है।" इसी सन्दर्भ में कविवर रामधारीसिंह 'दिनकर' का कथन है – "बिहारी के दोहों में न तो कोई बड़ी अनुभूति है न कोई ऊँची बात सिर्फ लड़कियों की कुछ अदाएँ हैं मगर कवि ने उन्हें कुछ ऐसे ढंग से चित्रित किया है कि आज तक रसिकों का मन कचोट खाकर रह जाता है। जो लोग कविता में ऊँची अनुभूति या ज्ञान की बड़ी-बड़ी बातों की तलाश में रहते हैं, बिहारी की कविताओं में उन्हें अपने लिए चुनौती मिलेगी।"

'बिहारी सतसई' की सर्वप्रियता का मुख्य कारण उसका भाव-वैविध्य है। उसमें शृंगार, नीति, भक्ति, ज्ञान, आध्यात्मिकता, सूक्ति और रीति-परम्परा सबकुछ मिश्रित है। बिहारी का चमत्कार-प्रदर्शन, वाग्वैदग्ध्य पाठक को स्वतः ही अपनी ओर आकर्षित कर लेता है। दोहे जैसे छोटे से छन्द में गागर में सागर भरने की प्रवृति, भाषा की सामासिक शक्ति और विचारों की समाहार पद्धति ने इसे अधिक प्रसिद्ध किया। उनकी अलंकार, वस्तु-योजना रस-ध्वनि अत्यन्त सूक्ष्म और मनोवैज्ञानिक है। उनकी कारीगरी हाथी दाँत पर खुदे हुए बेल-बूटों के समान सबको आकर्षित कर लेती है। डॉ० विश्वम्भर मानव के शब्दों में "बिहारी की कला हृदय की सहज उपज का परिणाम नहीं, वह अभ्यास साध्य है। वहाँ अभिव्यक्ति का फूल वैसे नहीं खिलता जैसे बसन्त में डालियों पर फूल खिलते हैं। कवि के भाव को ठीक से समझने के लिए उनकी कला से परिचित होना अनिवार्य है। बिहारी रीतिकाल के एक सजग कलाकार हैं। वे वचनभंगिमा में सिद्धस्थ हैं। युगीन परिसीमाएँ उनके साथ हैं। उनके द्वारा चित्रित जीवन कहीं-कहीं मटमैला और गंदला हो गया है, पर आखिर धरती का ही तो जीवन है। इतना तो निश्चित है कि बिहारी और उनकी सतसई का एक ऐतिहासिक महत्त्व है। जैसे चन्दवरदाई, कबीर, सूर, तुलसी, हरिश्चन्द्र, मैथिलीशरण गुप्त और जयशंकर प्रसाद के बिना काव्य के विभिन्न युगों का इतिहास नहीं लिखा जा सकता, वैसे ही रीतिकाल के दो सौ वर्षों की कड़ी टूटी हुई दिखाई देगी, यदि उसमें से बिहारी का नाम निकाल दिया जाए। बिहारी का काव्य उस युग की रुचियों और प्रवृति का एक सुन्दर निदर्शन है।

हुकुमु पाइ जयसाहि कौ, हरि-राधिका-प्रसाद।
करी बिहारी सतसई भरी अनेक सवाद॥

1.2.3.3. रीतिमुक्त कवि

आलोच्य युग में रीतिबद्ध और रीतिसिद्ध काव्यधारा के समानान्तर ही रीतिमुक्त काव्यधारा भी प्रवहमान थी। रीतिमुक्त से तात्पर्य है – साहित्यिक परम्परा, रूढ़ियों और बन्धनों से मुक्त होना।

इस काव्यधारा को कुछ विद्वानों ने रीतिमुक्त तो अन्य विद्वानों ने स्वच्छन्द काव्यधारा नाम दिया है। 'रीतिमुक्त' शीर्षक अधिक उपयुक्त है क्योंकि यह शब्द रीतिकाल की अन्य काव्यधाराओं से युक्तियुक्त सम्बन्ध रखता है जबकि 'स्वच्छन्द' शब्द यूरोप के प्रभावस्वरूप ग्रहण किया गया है। हालाँकि वहाँ 'स्वच्छन्द काव्यधारा' शृंगारिकता, साहसिकता, काल्पनिकता, भावप्रधानता, अनगढ़पन, सहजता आदि विशेषताओं के लिए प्रसिद्ध है जबकि यहाँ हिन्दी काव्य के सन्दर्भ में 'स्वच्छन्दतावादी' शब्द परम्पराओं और रूढ़ियों के परित्याग के अर्थ में लिया गया है। आचार्य शुक्ल ने आधुनिककाल की एक काव्यधारा को 'स्वच्छन्द काव्यधारा' कहा है जिसके कवि प्रचलित साहित्यिक परम्पराओं को त्यागकर भावनाओं के मुक्त क्षेत्र में विचरण करने वाले थे।

शुक्ल जी की दृष्टि में रीतिमुक्त कवि स्वच्छन्दतावादी थे। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल रूढ़िमुक्त जीवन के सहज प्रवाह को स्वच्छन्दतावादी साहित्य का प्रमुख विषय समझते हैं। उनके अनुसार शिष्ट साहित्य के साथ-साथ लोकसाहित्य की धारा बहती रहती है, जिसमें जीवन की सहज और निश्छल अभिव्यक्ति होती है। जब शिष्ट साहित्य पण्डितों और आचार्यों की रूढ़ियों में आबद्ध हो जाता है, तो भाव की सजीवता और स्फूर्ति जीवनगत दूसरी प्राकृतिक भावधारा से ही प्राप्त हो सकती है। इस प्रकार के परिवर्तन को ही अनुभूति की सच्ची नैसर्गिक स्वच्छन्दता कहना चाहिए।" (हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 553)

रीतिमुक्त काव्य में कल्पना और भावावेग का प्राधान्य है। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार "रोमांटिक साहित्य की उत्सभूमि वह मानसिक गठन है जिसमें कल्पना के अविरल प्रवाह से सघन-संश्लिष्ट निविड़ आवेग की ही प्रधानता होती है। इस प्रकार कल्पना का अविरल प्रवाह और निविड़ आवेग ये दो निरन्तर घनीभूत मानसिक वृत्तियाँ ही इस व्यक्तिप्रधान साहित्यिक रूप की प्रधान जननी हैं।" (रोमांटिक साहित्यशास्त्र की भूमिका – डॉ० देवराज उपाध्याय)

रीतिबद्ध काव्य में शास्त्रीयता का बाहुल्य था जबकि रीतिमुक्त कवि आत्मानुभूति के आवेग में रचना करते थे। रीतिमुक्त कवियों की रचनाओं में वैयक्तिकता की प्रधानता थी। वे सामाजिक और दरबारी मर्यादा में बँधकर रचना करने वालों में से नहीं थे। ये सभी प्रेममार्ग के पथिक थे। इनका प्रेम स्थूल जगत् से उत्पन्न होकर गहनता, व्यापकता और अलौकिकता की ऊँचाइयों को स्पर्श करने वाला था। इस काव्य पर सूफी 'प्रेम की पीर' का प्रभाव देखा जा सकता है। रीतिबद्ध कवियों का शृंगारिक वर्णन मांसल और स्थूल था। इन कवियों का संयोग की अपेक्षा वियोग वर्णन में मन अधिक रमा।

1.2.3.3.1. घनानन्द

घनानन्द का जन्म वि.सं. 1746 के लगभग और मृत्यु 1796 में नादिरशाही में हुई। ये जाति के कायस्थ थे। इनके बारे में प्रसिद्ध है कि एक बार राजदरबारियों ने राजा से कहा कि "मीर मुंशी बहुत अच्छा गाते हैं।" बादशाह ने उन्हें गाने के लिए कहा किन्तु घनानन्द ने अपनी अनिच्छा जाहिर की। दरबारियों ने कहा कि सुजान के कहने पर वे अवश्य गाएँगे। सुजान को दरबार में बुलाया सुजान को देखकर उन्होंनेपूर्ण तन्मयता के साथ काव्य-रचना का गायन किया। उनके गायन से बादशाह प्रसन्न तो हुए किन्तु बेअदबी के कारण उन्हें शहर से निकाल देने का आदेश सुनाया। घनानन्द ने सुजान को अपने साथ चलने के लिए अनुरोध किया किन्तु सुजान उनके साथ नहीं गई। सुजान के प्रति उनका अटूट प्रेम था। उसके विरह में आकुल वे वृन्दावन चले आये और निम्बार्क सम्प्रदाय में दीक्षित हो गए। अपनी इस लौकिक प्रेयसी के रूप-सौन्दर्य के प्रति जीवनपर्यन्त मुग्ध रहते हुए घनानन्द ने 'सुजान' को आलम्बन बनाकर प्रेम का अद्‌भुत और मार्मिक वर्णन अपनी काव्य-रचनाओं में किया।

घनानन्द हिन्दी साहित्य की स्वच्छन्द प्रेम व्यंजना के सर्वोत्कृष्ट कवि हैं। इनका काव्य उदात्त प्रेम-उद्‌गारों का अनुपम उदाहरण है। घनानन्द रचित 'सुजान सागर', 'विरह लीला', 'कोकसार', 'रस कवित्व' और 'कृपाकाण्ड' नामक ग्रन्थ उपलब्ध हैं। इसके अतिरिक्त इनके द्वारा रचित सैकड़ों फुटकर भक्ति सवैयों के संग्रह भी मिलते हैं। कृष्ण-भक्ति सम्बन्धी इनका बहुत बड़ा ग्रन्थ छत्रपुर के राज पुस्तकालय में सुरक्षित है जिनमें 'प्रियाप्रसाद', 'ब्रजव्यवहार', 'वियोगवेली', 'कृपाकन्द निबन्ध', 'गिरिगाथा', 'भावनाप्रकाश', 'गोकुलविनोद', 'थाम-चमत्कार', 'कृष्ण कौमुदी', 'नाम माधुरी', 'वृन्दावन मुद्रा', 'प्रेमपत्रिका', 'रसवसन्त' आदि अनेक विषय वर्णित हैं।

सुजान की तिरछी चितवन, घूमते कटाक्ष, रसीली हँसी, मृदु मुस्कान, अरुण होठ, कान्तिमण्डित दन्तावलि, सचिक्कण केश राशि, विक्रम भौंहे, विशाल नेत्र, गर्वीली मुद्रा, उन्मत यौवन आदि पर मुग्ध घनानन्द ने उनकी 'रूप निकाई' के अनेक संश्लिष्ट चित्र अंकित करते हुए अपनी प्रेम-विभोरता का परिचय दिया है। मुहम्मदशाह रंगीले के दरबार की नर्तकी 'सुजान' के प्रति प्रस्तुत घनानन्द के ये उद्‌गार हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि हैं। घनानन्द की श्रेष्ठता का सबसे बड़ा आधार सुजान के प्रति उनके सच्चे प्रेम की अभिव्यक्ति है। उनके मन में सुजान से मिलने की प्यास निरन्तर बनी हुई है। घनानन्द का काव्य प्रेम की गूढ़ता, अतृप्ति की अनन्तता, वियोग की गहनता, अशान्ति के अन्तर्द्वन्द्व, वेदना की अक्षयता और तीव्रानुभूति की अखण्डता से भरा हुआ है। आचार्य शुक्ल के शब्दों में – "ये वियोग शृंगार के प्रधान मुक्तक कवि हैं, प्रेम की पीर लेकर इनकी वाणी का प्रादुर्भाव हुआ। प्रेममार्ग का ऐसा प्रवीण और धीर पथिक ब्रजभाषा का दूसरा कवि नहीं हुआ। ये प्रेमोन्मत्त कवि थे और अपनी तरंग के अनुसार रचना करते थे। इसी से इनकी रचनाओं में हृदय तत्त्व की प्रधानता है 'प्रेम की पीर' व 'इश्क का दर्द' इनके एक-एक वाक्य में भरा पाया जाता है।" (हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 332)

इनके काव्य में 'सुजान' का नाम बार-बार आया है जिसे शृंगार में नायिका के लिए और भक्तिभाव में कृष्ण भगवान् के लिए प्रयुक्त माना जा सकता है। उनकी अधिकांश काव्य-रचनाएँ भक्तिभाव की कोटि में नहीं

रखी जा सकतीं, उन्हें शृंगारिक रचनाएँ कहना ही उपयुक्त होगा । इससे घनानन्द को उन्मुक्त भक्तकवि कहा जा सकता है। घनानन्द प्रेम के कुशल चितेरे हैं। उनकी कविता को घनानन्दमय होकर ही समझा जा सकता है –

अति सूधो सनेह को मारग, है जहाँ नेकु सयानप बाँक नहीं।
तहाँ साँचे चलैं तजि आपनपौ, झिझकैं कपटी जे निसाँक नहीं।
घनआनँद प्यारे सुजान सुनौ, यहाँ एक तें दूसरों आँक नहीं।
तुम कौन धौं पाटी पढ़े हौ कहौ, मन लेहु पै देहु छटाँक नहीं॥

घनानन्द की अनुभूति में जितनी तीव्रता एवं गहनता है, उनकी अभिव्यक्ति भी उतनी ही उत्कृष्ट एवं समृद्ध है। ब्रजभाषा की रवानी और माधुर्य का अद्‌भुत समावेश घनानन्द के काव्य में मिलता है। नन्ददास आदि के द्वारा गढ़ी हुई ब्रजभाषा को उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त कर इन्होंने उसे और भी अधिक निखारा है । इनके भाषिक वैशिष्ट्य को निरूपित करते हुए आचार्य शुक्ल लिखते हैं – "घनानन्द उन बिरले कवियों में हैं जो भाषा की व्यंजना बढ़ाते हैं। अपनी भावनाओं के अनूठे रूपरंग की व्यंजना के लिए भाषा का ऐसा बेधड़क प्रयोग करने वाला पुराने कवियों में दूसरा नहीं हुआ। भाषा के लक्षण और व्यंजक बल की सीमा कहाँ तक है, इसकी पूरी परख इन्हीं को थी।" इनमें भाषा की एक अपूर्व विशेषता लाक्षणिक मूर्तिमत्ता और प्रयोग वैचित्र्य की छटा है जिसका प्रभाव परवर्ती छायावादी काव्य में देखा जा सकता है। इनकी भाषा में वचनवक्रता, नादव्यंजना और अर्थगाम्भीर्य सब अद्वितीय बन पड़े हैं। इनका प्रयोग वैचित्र्य बड़ा ही अनुपम है। उदाहरण देखिए –

"अरसानि गही वह बानि कछू, सरसानि सो आनि निहोरत है।"

साक्षात् प्रेमरस के अवतार घनानन्द एक भावुक कवि थे। उन्हें हृदय के सहज भावों का प्रकटीकरण मात्र ही अपेक्षित था। निम्नलिखित पंक्ति से उनका मंतव्य स्पष्ट हो जाता है –

"लोग हैं लागि कवित्त बनावत मोहि तौ मोरे कवित्त बनावत।"

1.2.3.3.2. ठाकुर

स्वच्छन्दवृत्ति से रचना वाले रीतिकालीन कवियों में कवि ठाकुर का जन्म सन् 1766 ई. में ओरछा (मध्यप्रदेश) में कायस्थ परिवार में हुआ था । सन् 1823 ई. के आस-पास उनका देहावसान हो गया । ये बुंदेलखण्ड के अनेक राजाओं के आश्रय में रहे जिनमें जैतपुर-नरेश केसरीसिंह और उनके पुत्र परीक्षितसिंह, बिजावर नरेश केसरीसिंह, बाँदा नरेश गोसाईं अनूप गिरि और हिम्मत बहादुर का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

ठाकुर स्वभाव से ही सौन्दर्योपासक थे । एक किंवदन्ती के अनुसार बिजावर निवास के समय एक 'सुजान' नाम की सुनारिन के रूप-सौन्दर्य पर वे इतने मुग्ध हुए कि उनके नाम पर अनेक छन्द लिखकर वह जहाँ भी मिलती उसके सामने जोर-जोर से गाने लगते। इस बात की शिकायत राजा से की गई। राजा ने उन्हें नज़रबंद कर

लिया। कहते हैं कि उसके बाद 'सुजान' जिस किसी भी कुएँ पर जल लेने पहुँचती वह कुआँ जलरहित हो जाता। बाद में जब ठाकुर को छोड़ा गया तब कुएँ फिर से जल से भर गए।

अन्य रीतिमुक्त कवियों के समान ठाकुर के काव्य की भाव-भूमि भी शृंगारिक ही रही। इसके अतिरिक्त भक्ति, नीति, प्रकृति, पर्वोत्सव, होली, हिंडोला, काव्यदर्श विषयों को भी उन्होंने अपने काव्य का अंग बनाया। रीतिकालीन काव्य-परम्परा और रीतिबद्धता का पालन न करते हुए उन्होंने नितान्त वैयक्तिक अनुभूति को ही अपने वर्ण्य-विषय का अंग बनाया। अपनी रचनाओं में वे रूप-सौन्दर्य के उपासक के रूप में सामने आए हैं। मांसल रूप से प्रभावित होते हुए भी उन्होंने स्थूल चित्रण द्वारा उसे ऐन्द्रिय नहीं होने दिया। प्रिय-मिलन की उत्कट अभिलाषा, निराशा, लगन, उपालम्भ, अभ्यर्थन आदि की रागात्मक अभिव्यक्ति द्वारा हृदय की गहराई तक पहुँचे हुए रूप-सौन्दर्य के प्रभाव की व्यंजना कुछ ऐसी भंगिमा से की गई है कि इनकी सौन्दर्यनुभूति सहृदय की चेतना को मुग्ध कर देती है। रूप-दर्शन की यह ललक चरमोत्कर्ष के क्षणों के यद्यपि विरह रूप धारण करती हुई मनोव्यथा को तो व्यक्त कर देती है, पर उससे कहीं भी मन और इन्द्रियों की व्याकुलता को प्रकट करने वाली घनानन्द जैसी टीस अथवा कसक का आभास नहीं मिलता। इसके विपरीत विधाता की इस सृष्टि (रूप) को उसके दर्शक प्रेमी के लिए उसे सहज-सुलभ होने से रोकने वाले रूप के विषय के प्रति आक्रोश मिलता है जो व्यंग्य और उपालम्भ के रूप में व्यक्त होता है।

कवि ठाकुर ने अपनी शृंगारिक रचनाओं में भावुक रूप-सौन्दर्य को अभिव्यक्त किया है। इससे शृंगारेतर विषयों के प्रति उनके गम्भीर, सरल एवं व्यावहारिक व्यक्तित्व का परिचय मिलता है। उनकी भक्तिपरक रचनाओं में सामान्य हिन्दुओं की आस्था के दर्शन होते हैं। नीतिपरक रचनाओं में उनकी लोकव्यवहार और वैयक्तिक सूझ-बूझ की झलक मिलती है। कवि ठाकुर ने ऋतु वसन्त और पावस का मनोहारी चित्रण किया है। इनका ऋतु वर्णन रीतिकवियों जैसा प्रभावहीन और वस्तु परिगणन मात्र न होकर हृदय के सुख-दुःखात्मक भावों से परिचालित है। होली तथा अन्य पर्वोत्सवों में उनके हृदय का स्वाभाविक एवं अवसरानुकूल सहज उल्लास दिखता है। बिम्बों की रेखाओं में अनुभूति की सहज तरलता के साथ-साथ उनके गाम्भीर्य के उभार भी बड़ी कुशलता के साथ प्रस्तुत हुए हैं। ठाकुर का अलंकारों के प्रति किसी तरह का आग्रह दिखाई नहीं देता। अलंकार स्वतः ही इनके काव्य में रच-बस गए हैं।

1.2.4. रीतिबद्ध, रीतिसिद्ध एवं रीतिसिद्ध कवियों की सामान्य प्रवृत्तियों का तुलनात्मक स्वरूप

रीतिबद्ध, रीतिसिद्ध एवं रीतिसिद्ध कवियों की सामान्य प्रवृत्तियों को तुलनात्मक रूप में इस प्रकार देखा जा सकता है –

क्र. सं.	रीतिबद्ध कवि	रीतिसिद्ध कवि	रीतिमुक्त कवि
01.	लक्षण-ग्रन्थकार कवि	रीतिशास्त्र के अनुयायी कवि	रीतिमुक्त स्वच्छन्द कवि
02.	काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों के निर्माता	रीति-ग्रन्थों से प्रभावित	काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों के निर्माण के प्रति उदासीन
03.	काव्यांग-विवेचन के लिए लक्षण-ग्रन्थ लिखे	लक्षण-ग्रन्थ न लिखकर लक्षणों को ध्यान में रखकर काव्य-रचना की	रीति-ग्रन्थों के प्रभाव से मुक्त होकर स्वतन्त्र रूप से काव्य-रचना की
04.	कलावादी थे, कलापक्ष को महत्त्व दिया	भावपक्ष एवं कलापक्ष को समान महत्त्व दिया	भाववादी थे, भावपक्ष को महत्त्व दिया, इनके अनुसार कला जीवन के लिए होती है
05.	रस, छन्द, अलंकार आदि के लक्षणों का विवेचन किया	रस, अलंकार आदि के लक्षण प्रस्तुत न करते हुए सीधे ही उन पर आधारित काव्य-रचना की	शृंगार और वीर रस प्रधान काव्य-रचना की
06.	आचार्य और कवि थे	काव्यांग-मर्मज्ञ थे	अनुभूति पक्ष की श्रेष्ठ अभिव्यक्ति की
07.	दरबारी साहित्य की रचना करना मुख्य उद्देश्य था	काव्य-रचना स्वतःस्फूर्त थी	स्वतन्त्र रूप से प्रबन्ध और मुक्तक काव्यों की रचना की
08.	शृंगारिक और कलापूर्ण लक्ष्य लक्षण ग्रन्थों की सृष्टि की	रीति को धारण कर काव्य-रचना की	विशुद्ध शृंगारमयी प्रेमपरक और रहस्यवादी रचनाएँ की
09.	कलापक्ष साध्य था	काव्य ही साध्य था	प्रेम साध्य और काव्य साधन था
10.	लक्षणों को समझाने के लिए कभी अन्य कवियों द्वारा विरचित तो कभी स्वरचित लक्षणों के उदाहरण प्रस्तुत किये	रीति को प्रतिपादित करने का ढंग मानकर स्वतन्त्र उद्‌भावनाएँ व्यक्त कीं	रीतिकाल की बँधी-बँधायी परिपाटी पर न चलकर, अपनी स्वतन्त्र काव्यशक्ति का परिचय दिया
11.	अलंकृत और चमत्कारपूर्ण काव्य-रचना की	अलंकृत होने के साथ नैसर्गिक रूप से सुन्दर काव्य-रचना की	नैसर्गिक रूप से सुन्दर काव्य-रचना की
12.	कल्पना की ऊँची उड़ान भरने वाले	कल्पना की अपेक्षा वास्तविकता को महत्त्व देने वाले	यथार्थपरक और सुन्दर काव्य-रचना करने वाले
13.	शब्द की प्रधानता	शब्द और अर्थ दोनों की प्रधानता	अर्थ की प्रधानता
14.	रूढ़ि-परम्परानुसार काव्य-निर्मिति	रूढ़ि परम्परानुसार काव्य-निर्मिति	रूढ़ि-परम्परा से स्वतन्त्र काव्य-निर्मिति

1.2.5. बोध प्रश्न

टिप्पणी लिखिए –

1. रीतिबद्ध कवि
2. रीतिसिद्ध कवि
3. रीतिमुक्त कवि
4. रस सम्प्रदाय
5. अलंकार सम्प्रदाय

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. रीतिमुक्त और रीतिबद्ध काव्य में अन्तर स्पष्ट कीजिए।
2. रीतिमुक्त काव्य की विशेषताएँ लिखिए।
3. 'बिहारी सतसई' में रीतितत्त्व की पहचान कीजिए।
4. देव की काव्यगत विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।
5. "घनानन्द प्रेम की पीर के कवि थे।" सिद्ध कीजिए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. रीतिकालीन साहित्य में निहित संस्कृति एवं काव्यशास्त्रीय और साहित्यिक परम्परा के निर्वाह का विस्तार से वर्णन कीजिए ?
2. रीतिकालीन साहित्य को कितने वर्गों में विभक्त किया गया है ? प्रत्येक स्वरूप का वर्णन करते हुए उनकी विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।

1.2.6. सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

01. केशवदास, विजयपाल सिंह, राधाकृष्ण प्रकाशन, दरियागंज, दिल्ली-110006, संस्करण – 1970
02. हिन्दी साहित्य का भक्तिकाल और रीतिकाल : संधिकालीन प्रवृत्तियाँ, डॉ॰ विष्णु शरण 'इन्दु', विभू प्रकाशन, साहिबाबाद, प्रथम संस्करण – 1975
03. हिन्दी साहित्य का समग्र इतिहास, रमेशचन्द्र शर्मा, विद्या प्रकाशन, कानपुर-6, प्रथम संस्करण – 1990
04. बिहारी की काव्यकला, प्रो॰ उदयभानु, रीगल बुक डिपो, दिल्ली-110006, संस्करण – 1970
05. घनानन्द का रचना संसार, शशि सहगल, अभिनव प्रकाशन, दरियागंज, प्रथम संस्करण – 1980
06. हिन्दी रीति साहित्य, डॉ॰ भगीरथ मिश्र, राजकमल प्रकाशन, तृतीय संशोधित संस्करण – 1984

07. रीतिकालीन शृंगार-भावना के स्रोत, सुधीन्द्र कुमार, स्वराज प्रकाशन, नयी दिल्ली-110085, संस्करण – 1999
08. घनानन्द की काव्यसाधना, चित्रलेखा प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण – 1989
09. हिन्दी साहित्य का रीतिकाल : भावात्मक परिचय, डॉ॰ राजकिशोर पाण्डेय, हिन्दी साहित्य भण्डार, प्रथम संस्करण – 1971
10. हिन्दी के प्राचीन प्रतिनिधि कवि, डॉ॰ द्वारिका प्रसाद सक्सेना, विनोद पुस्तक मन्दिर, संस्करण – 1992
11. हिन्दी साहित्य का इतिहास, डॉ॰ नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, दरियागंज, दिल्ली-110002, संस्करण – 1988, ISBN- 81-214-0222-8291-434
12. मध्यकालीन हिन्दी काव्य, डॉ॰ दिलीप मेहरा, ज्ञान प्रकाशन, किदवई नगर, कानपुर, संस्करण – 2010, ISBN- 978-81-905470-6-2
13. रीतिकाव्य की इतिहास दृष्टि, डॉ॰ सुधीन्द्र कुमार, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नयी दिल्ली, संस्करण – 1998, ISBN 81-7055-599-X
14. हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास, बच्चन सिंह, राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, अंसारी मार्ग, दरियागंज, नयी दिल्ली-110002, संस्करण – 2014, ISBN - 978-81-8361-180-0

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 1 : रीतिकालीन हिन्दी साहित्य

इकाई – 3 : काव्यानुभूति के विविध आयाम : शृंगार-वर्णन, नायिका-भेद, सौन्दर्य-बोध, प्रकृति-चित्रण

इकाई की रूपरेखा

1.3.0. उद्देश्य
1.3.1. प्रस्तावना
1.3.2. काव्यानुभूति के विविध आयाम
 1.3.2.1. रीतिकालीन कविता में शृंगार-वर्णन
 1.3.2.2. रीतिकालीन कविता में नायिका-भेद
  1.3.2.2.1. स्वकीया नायिका
  1.3.2.2.1. परकीया नायिका
  1.3.2.2.1. सामान्या नायिका
 1.3.2.3. रीतिकालीन कविता में सौन्दर्य-बोध
 1.3.2.4. रीतिकालीन कविता में प्रकृति-चित्रण
1.3.3. पाठ-सार
1.3.4. बोध प्रश्न
1.3.5. व्यवहार
1.3.6. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

1.3.0. उद्देश्य

प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. रीतिकालीन काव्य के विविध आयामों को जान पाएँगे।
ii. रीतिकालीन साहित्य की प्रवृति शृंगारिकता को समझ पाएँगे।
iii. रीतिकालीन काव्य के सौन्दर्य-बोध और नायिका-भेद को समझ सकेंगे।
iv. प्रकृति-चित्रण के स्वरूप को जान पाएँगे।

1.3.1. प्रस्तावना

सन् 1700-1900 ई. के आस-पास की हिन्दी कविता को रीतिकालीन काव्य के नाम से जाना जाता है। वस्तुतः यह काव्य तात्कालिक दरबारी संस्कृति और संस्कृत साहित्य से प्रेरणा (उत्तेजना) प्राप्त करता है। संस्कृत साहित्यशास्त्र के कतिपय अंशों ने उसे शास्त्रीय अनुशासन की ओर प्रवृत्त किया। हिन्दी में 'रीति' या 'काव्यरीति' शब्द का प्रयोग काव्यशास्त्र के लिए हुआ था। इसलिए काव्यशास्त्र के अनुसार निरूपित बहुसंख्यक लक्षणग्रन्थों को देखते हुए उस समय के काव्य को 'रीतिकाव्य' कहा गया।

रीतिकाल के कई कवि ऐसे थे, जो आचार्य भी थे और विविध काव्यांगों के लक्षण देने वाले ग्रन्थ भी लिखने वाले थे। इस युग में शृंगार की प्रधानता रही लेकिन मुक्तक में रचनाएँ लिखी गई। रीतिकालीन कविता में चमत्कारपूर्ण व्यंजना की विशेष मात्रा मिलती है परन्तु कविता जनसाधारण से विमुख भी हो गई। रीतिकाल के अधिकांश कवि दरबारी थे, जैसे – केशवदास (ओरछा), प्रताप सिंह (चरखारी), बिहारी (जयपुर, आमेर), मतिराम (बूँदी), भूषण (पन्ना), चिन्तामणि (नागपुर), देव (पिहानी), भिखारीदास (प्रतापगढ़-अवध), रघुनाथ (काशी), बेनी (किशनगढ़), गंग (दिल्ली), टीकाराम (बड़ौदा), ग्वाल (पंजाब), चन्द्रशेखर बाजपेई (पटियाला), हरनाम (कपूरथला), कुलपति मिश्र (जयपुर), नेवाज (पन्ना), सुरति मिश्र (दिल्ली), रतन कवि (श्रीनगर-गढ़वाल), बेनी बन्दीजन (अवध), बेनी प्रवीन (लखनऊ), ठाकुर बुन्देलखण्डी (जैतपुर), बोधा (पन्ना), गुमान मिश्र (पिहानी) आदि। अनेक कवि तो स्वयं राजा ही थे, जैसे – महाराज जसवन्तसिंह (तिर्वा), भगवन्तराय खीची, भूपति, रसनिधि (दतिया के ज़मींदार), महाराज विश्वनाथ, द्विजदेव (महाराज मानसिंह) इत्यादि।

रीतिकालीन कवि राजाओं और रईसों के आश्रय में रहते थे। सो वहाँ मनोरंजन और कलाविलास का वातावरण होना लाज़िमी था। बौद्धिक आनन्द का मुख्य साधन वहाँ उक्ति-वैचित्र्य समझा जाता था। ऐसे वातावरण में लिखा गया साहित्य अधिकतर शृंगारमूलक और कला-वैचित्र्य से युक्त था। पर इसी समय प्रेम के स्वच्छन्द गायक भी हुए जिन्होंने प्रेम की गहराइयों का स्पर्श किया है। मात्रा और काव्यगुण दोनों ही दृष्टियों से इस समय रचित प्रेम और सौन्दर्य का काव्य महत्त्वपूर्ण है।

इस समय वीरकाव्य भी लिखा गया। ऐसे कवियों में भूषण प्रमुख हैं जिन्होंने रीतिशैली को अपनाते हुए भी वीरों के पराक्रम का ओजस्वी वर्णन किया। इस समय नीति, वैराग्य और भक्ति से सम्बन्धित काव्य भी लिखा गया। अनेक प्रबन्धकाव्य भी निर्मित हुए। इसलिए रीतिकालीन काव्य को नितान्त एकांगी और एकरूप समझना उचित नहीं है। इस समय के काव्य में पूर्ववर्ती कालों की सभी प्रवृत्तियाँ सक्रिय हैं।

रीतिकाव्य मुख्यतः मांसल शृंगारपरक है। इसमें नर-नारी जीवन के रमणीय पक्षों का सुन्दर उद्घाटन हुआ है। अधिक काव्य मुक्तक शैली में है, पर प्रबन्धकाव्य में भी है। इन दो सौ वर्षों में शृंगारकाव्य का अपूर्व उत्कर्ष हुआ। पर धीरे-धीरे रीति की जकड़ बढ़ती गई और हिन्दी कविता का भावक्षेत्र संकीर्ण होता गया। आधुनिक युग तक आते-आते इन दोनों कमियों की ओर साहित्यकारों का ध्यान विशेष रूप से आकृष्ट हुआ। इहलौकिकता, शृंगारिकता, नायिकाभेद और अलंकार-प्रियता इस युग की प्रमुख विशेषताएँ हैं। प्रायः सभी कवियों ने ब्रज-भाषा को अपनाया है। स्वतन्त्र कविता कम लिखी गई। रस, अलंकार इत्यादि काव्यांगों के लक्षण लिखते समय उदाहरण के रूप में विशेषकर शृंगार के आलम्बनों एवं उद्दीपनों के उदाहरण के रूप में सरस रचनाएँ इस युग में लिखी गईं। भूषण कवि ने वीर रस की रचनाएँ भी दीं। भाव-पक्ष की अपेक्षा कला-पक्ष अधिक समृद्ध रहा। शब्द-शक्ति पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया, न नाट्यशास्त्र का विवेचन किया गया। विषयों का संकोच हो गया और मौलिकता का ह्रास होने लगा। इस समय हिन्दी के अनेक महत्त्वपूर्ण कवि हुए। जैसे – केशव, चिन्तामणि, देव, बिहारी, मतिराम, भूषण, घनानन्द, पद्माकर आदि। इनमें से केशव, बिहारी और भूषण को इस युग का प्रतिनिधि

कवि माना जा सकता है। इस युग के कवियों को तीन श्रेणियों में बाँटा जाता है – रीतिबद्ध कवि, रीतिमुक्त कवि और रीतिसिद्ध कवि।

1.3.2. काव्यानुभूति के विविध आयाम

कवि अपनी अनुभूतियों को ही अपनी रचना में अभिव्यक्त करता है। अर्थात् अनुभूति कवि की रचना को समझाने का साधन होती है। रचनाकार की अनुभूतियों के विश्लेषण और विवेचना में रचनाकार की रचनाएँ ही प्रमाण के रूप में आती हैं। भारतीय साहित्य के उत्तर मध्यकाल में भी अनुभूति की सत्यता और प्रामाणिकता को लेकर पर्याप्त चर्चा हुई है, लेकिन शास्त्रीयता के आवरण में रहकर। यह चर्चा कभी समर्थन में हुई तो कभी विरोध में। साहित्य में जिसे हम साधारणीकरण कहते हैं, वस्तुतः वह काव्यानुभूति ही है। काव्यानुभूति को कुछ विद्वानों ने वास्तविक चरित्रों में, कुछ ने कवि की अनुभूति में तो कुछ ने सहृदय के हृदय में स्वीकार किया है। उन विभिन्न बहसों और विवादों से अब यह सिद्ध हो चुका है कि अनुभूति शब्द किसी न किसी रूप में आवश्यक है। इस सन्दर्भ में नेमीचंद जैन का मानना है कि– "जहाँ तक साहित्य की अपनी निजी शक्ति का प्रश्न है, सबसे पहला तत्त्व है – साहित्यकार की अनुभूति, उस अनुभूति की सच्चाई और गहराई। समस्त कलात्मक सर्जन की प्रभावोत्पादक व्यापकता का मूल, उसकी भावात्मकता का स्रोत, अनुभूति में ही है। साहित्य की शक्ति और मानव-मन को गहराई में जाकर संस्कारित करने की क्षमता का भी अनुभूति की सच्चाई और तीव्रता से घनिष्ठसम्बन्ध है। जो अनुभूति नहीं है, वह साहित्य का विषय नहीं है, न उसका प्रकटीकरण का रूप ले सकता है, उसे और चाहे जिस नाम से पुकारें। साथ ही अनुभूति जितनी गहरी और सच्ची होगी, जीवन की वास्तविकता को जितनी ही समग्रता और विविधता में साहित्यकार ने उपलब्ध किया होगा, उसके साहित्य में उतना ही भाव-सम्प्रेषण की मन के संस्कार की, क्षमता होगी, वह साहित्य उतना ही श्रेष्ठ होगा।" रीतिकाल में जिन्हें रीतिमुक्त कवि कहा जाता है, सम्भवतः इसीलिए उनकी कविता सहृदय के हृदय को ज्यादा स्पर्श करती है।

रीतिकाल दरबार का युग था। कवि समुदाय उत्पादक वर्ग का था लेकिन वह अपनी आजीविका सामन्तों के मनोरंजन के लिए कविता कर्म से चलाता था। जाहिर है, उसकी कविता की अनुभूति सामन्तों के रुचियों के अनुसार निर्मित होगी। इसीलिए उनकी कविता में कवियों के निजी जीवन की झलक बहुत दिखती है। निजी जीवन की झलक आपको रीतिमुक्त कवियों में ही दिख पाती है। बावजूद इसके, रीतिकाल की कविता बहुआयामी है अर्थात् शृंगार-वर्णन, नायिका-भेद, सौन्दर्य-बोध, प्रकृति-चित्रण के अतिरिक्त नीति और शौर्य-वीर भाव की भी कविता लिखी गई।

1.3.2.1. रीतिकालीन कविता में शृंगार-वर्णन

शृंगार रीतिकलीन कविता का प्राण है। रीति-निरूपण की प्रवृति के तरह ही इस प्रवृत्ति के भीतर यद्यपि स्वतन्त्र अन्तःप्रवृत्तियाँ तो विद्यमान रहीं, तथापि एक ओर से काव्यशास्त्रीय बन्धनों के निर्वाह और दूसरी ओर से नैतिक बन्धनों की छूट तथा विलासी आश्रयदाताओं के प्रोत्साहन के कारण शृंगार की प्रवृत्ति ने जो स्वरूप प्राप्त

किया, उसे इतर कवियों की शृंगारिक प्रवृति से सहज ही अलगाया जा सकता है। शास्त्रीय बन्धनों ने तो इसे इतना रूढ़ बना दिया कि शृंगार के विभाव पक्ष में नायक-नायिकाओं के प्रत्येक भेद तथा उद्दीपक सामग्री के प्रत्येक अंग, अनुभावों के विविध रूपों, प्रत्येक संचारी तथा संयोग के भीतर वर्णित भावों और वियोग के भेदोपभेदों सहित विभिन्न कामदशाओं सम्बन्धी रचनाओं के अलग-अलग वर्ग बनाये जा सकते हैं। ऐसा लगता है कि इन विषयों में से प्रत्येक से सम्बद्ध बिम्बों का एक साँचा है, जिसमें से ढाल कर उन्हें निकाला गया है, उनकी रेखाओं को विशिष्ट परिवेश से बाहर आने ही नहीं दिया गया। दूसरी ओर नैतिक बन्धनों की छूट तथा आश्रयदाताओं के प्रोत्साहन के कारण ये लोग अपनी कल्पना के पंख उतने अवश्य फैला सके हैं कि काव्यशास्त्रीय घेरे के भीतर भी बिम्बों की रेखाएँ उभर कर अपने निर्माताओं की अभिरुचि और दृष्टि की व्यंजना के द्वारा उनकी इस प्रवृत्ति की सामान्य विशेषताओं को प्रकट कर गई हैं। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि इन कवियों की शृंगार-भावना में दमन से उत्पन्न किसी प्रकार की मानसिक ग्रन्थियाँ न होकर, शरीर-सुख की वह साधना है, जिसमें विलास के समस्त उपकरणों के संग्रह की ओर ही व्यक्ति की दृष्टि केन्द्रित रहती है तथा प्रेम को अतीन्द्रिय रूप देने अथवा वासना के उन्नयन का प्रयत्न नहीं होता। यही कारण है कि संयोग के नग्न चित्रों तथा नायकों की धृष्टाओं के विभिन्न रूपों को प्रस्तुत करते समय इन्होंने किसी प्रकार का संकोच नहीं किया, क्योंकि इस प्रवृति में विलासिता की प्रमुखता है। इसलिए प्रेम-भावना में एकोन्मुखता का स्थान अनेकोन्मुखता ने कुछ इस तरह से ले लिया है कि कुण्ठारहित प्रेम की उन्मुक्तता रसिकता का रूप धारण कर गई है। इसलिए अनेक पत्नियों के बीच अकेला नायक किसी मानसिक तनाव का शिकार हुआ दृष्टिगत नहीं होता। निर्द्वन्द्व भोग करने में ही वह अपने जीवन की सार्थकता समझता है। उसकी निर्द्वन्द्विता पत्नियों के आँसुओं से व्यक्त होने वाली निराशा और पीड़ा को ग्रहण ही नहीं कर पाती। वास्तव में स्त्री के प्रति इन कवियों की दृष्टि सामन्तीय ही रही है। ये स्त्री को पुरुष के समकक्ष समाज की चेतन इकाई नहीं मानते। इनके लिए वह पुरुष की उपभोग्य वस्तुओं की श्रीवृद्धि मात्र है। इतना ही नहीं, यह मानते हुए उसके विरह तथा तज्जन्य व्याधियों के प्रति मानव-सुलभ सहानुभूति के स्थान पर इनमें उपेक्षा अथवा कौतूहल का भाव ही अधिक रहा है। शायद इसीलिए इनकी विरहिणी नायिकाओं की कामदशाओं के बिम्ब या तो प्रभावहीन रहे हैं या फिर महज़ तमाशा बन कर रह गए हैं। इधर विलासिता की प्रधानता और सामन्तीय प्रभाव के कारण ही इन लोगों की सौन्दर्य-भावना भी विषयीगत न होकर विषयगत रही है। नारी के बाह्य-रूप के परिचायक अंगों के बनावट में ही इनकी दृष्टि उलझी रही है, उसके आन्तरिक गुणों तक नहीं पहुँच पाई।

विलासिता, उन्मुक्त प्रेम की अभिव्यक्ति तथा स्त्री के प्रति सामन्तीय दृष्टि के होते हुए भी इस प्रवृत्ति में गार्हस्थ्य प्रेम की व्यापक स्वीकृति देखने को मिलती है। "छोड़ी आपनो भौन तुम, भौन कौन के जात" अथवा "ते धनि जे ब्रजराज लखें गृहकाज करें अरु लाज संभारें" (मतिराम) द्वारा स्वकीया प्रेम की जिस प्रकार स्थापना की गई है, वह सामान्यतः इस प्रवृत्ति के प्रत्येक कवि की रचनाओं में देखने को मिलेगी। नायकों की रसिकता अपनी पत्नियों के साथ किये गए उचित-अनुचित प्रेम-व्यवहार से प्रायः बाहर नहीं जा पाई। इसमें सन्देह नहीं कि परकीया और सामान्या प्रेम का वर्णन भी इन लोगों ने किया है, किन्तु ऐसा उन्हें अपने नायिकाभेद-विवेचन को पूर्ण बनाने के कारण ही करना पड़ा है। इसमें व्यापक रूप से इनकी प्रवृति नहीं रही। "पर रस चाहै परकीया, तजै आपु गुन गोत" तथा "प्रेमहीन त्रिय वेश्या है शृंगारभास" (देव) के द्वारा परकीया-प्रेम में मर्यादाहानि तथा सामान्या-प्रेम में

अनौचित्य को जिस प्रकार से व्यक्त किया है, वह इसकी पुष्टि के लिए पर्याप्त है। कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि रीतिकवियों की शृंगारिकता दमनजन्य कुण्ठा और हीनता न होकर शारीरिक सुख की वह साधना है, जिसमें अनेकोन्मुख प्रेमजन्य विलासिता, रूपलिप्सा, भोगेच्छा तथा स्त्री के प्रति सामन्तीय दृष्टि आदि गुण-दोषों के रहते हुए भी ऐसी ताजगी है, जो काव्यशास्त्रीय नियमों के घेरे में बंद रह कर भी साधारण पाठक को एक क्षण के लिए आत्मविभोर कर सकती है।

1.3.2.2. रीतिकालीन कविता में नायिका-भेद

रीतिकाल में शृंगार-वर्णन और नायक-नायिका-भेद विवेचन की व्यापक प्रवृति सर्वाधिक प्रचलित रही है, किन्तु कुल मिलाकर इस दिशा में किसी प्रकार का मौलिक योगदान नहीं हो पाया। जो भी उद्‌भावनाएँ अपने आप में मौलिक प्रतीत होती हैं, उनमें या तो मौलिकता ही नहीं है या फिर वे इतनी अशास्त्रीय हैं कि उन्हें किसी प्रकार का महत्त्व देने में संकोच होता है। वर्ण, प्रदेश आदि के आधार पर नायिकाओं के विविध भेदों की परिकल्पना तथा शृंगार में इतर रसों का अन्तर्भाव आदि इसके प्रमाण हैं कि इनमें न शास्त्रीयता है और न मौलिकता ही। इनके विवेचन का आधार भी अत्यन्त सीमित कहा जा सकता है। संस्कृत में भानुदत्त की 'रसमंजरी' और 'रसतरंगिणी' तथा हिन्दी में कृपाराम की 'हिततरंगिणी' केशव की 'रसप्रिया' और रहीम कृत 'बरवैनायिकाभेद' और 'नगरशोभा' ही इनके आश्रय रहे हैं। बहुत ही कम लोग ऐसे हैं, जिन्होंने भरत के 'नाट्यशास्त्र', धनञ्जय के 'दशरूपक' तथा रुद्रभट्ट के 'शृंगारतिलक' का आश्रय लिया हो। इधर विवेचन-शैली भी इन सबकी लगभग एक जैसी है।

नायिका-भेद के अन्तर्गत इस बात पर विचार किया जाता है कि विभिन्न आयु, विभिन्न प्रकार की परिस्थिति तथा घटना उन पर क्या प्रभाव डालती है ? विरह में वे क्या सोचती हैं ? मिलन उन पर किस प्रकार का प्रभाव जमाता है ? इसी प्रकार नायक की प्रतीक्षा, सम्मिलन की उत्कण्ठा, सम्मिलन के अवसर की प्रवृति, प्रेम की प्रतिकूलता, नायक का अपराध इत्यादि का विभिन्न प्रकार की अवस्था पर प्रभाव ही नायिका-भेद का मुख्य विषय है।

जैसा कि पहले संकेत किया गया कि रीतिकाल और उसके पूर्व में सूरदास की 'साहित्यलहरी', नन्ददास की 'रसमंजरी', रहीम की 'बरवै नायिका भेद', कृपाराम की 'हित तरंगिणी', केशव की 'रसिकप्रिया', चिन्तामणि की 'कविकुल कल्पतरु' इत्यादि ग्रन्थों की रचना हुई, जिनमें नायिकाओं के भेदोपभेद करने की कोशिश हुई है। इनके आधार पर मुख्य तौर पर तीन प्रकार की नायिकाएँ स्वीकार की गई हैं – स्वकीया, परकीया और सामान्या।

1.3.2.2.1. स्वकीया नायिका

स्वकीया नायिका का विवेचन करते हुए चिन्तामणि ने कहा है कि ऐसी नायिका शील, शुद्धता और लाज से परिपूर्ण केवल अपने ही पति में प्रीतिवंत होती है । सभी काव्यकारों ने स्वकीया नायिका को श्रेष्ठ माना है। इस नायिका के तीन भेद माने गए हैं – मुग्धा, मध्या और प्रौढ़ा। बिहारी शृंगारी कवि थे। उनका मत है –

कोटि अपछरा वारिये यों सुकिया सुख देई।
ढीली आँखिन ही चितै गहै गहि मनु लेई ॥

क्योंकि स्वकीया के सम्पर्क में सामाजिक, धार्मिक अथवा कोई नैतिक विघ्न नहीं होता है, छिप कर मिलने का झंझट नहीं, उसका प्रेम द्विधाभावंर हित होता है। विरह में काम-ज्वर का सामना नहीं करना पड़ता है और धर्म-लाभ में बाधा नहीं पड़ती है, अतः यही श्रेष्ठ है। मुग्धा नायिका के बारे में रीतिकालीन कवियों ने बताया है कि प्रथम वतीर्णयौवना, मदन विकारा, रतौ वामा, माने मृदवी और समाधिक लज्जावती नायिका मुग्धा होती है। इन पाँचों गुणों का एक स्थान पर पाना असम्भव है।

1.3.2.2.2. परकीया नायिका

यह नायिका प्रौढ़ा विवाहिता स्त्री होती है। ये अपने पति के प्रति असन्तुष्ट भाव रखती है जबकि अन्य पर इनकी आसक्ति होती है। किन्हीं कारणों से नायक जब अपनी पत्नी के अतिरिक्त किसी अन्य विवाहिता स्त्री के प्रति आकृष्ट होता है, वह स्त्री भी परकीया कहलाती है। दशरूपककार धनञ्जय के अनुसार परकीया नायिका के दो भेद हैं – कन्या और प्रौढ़ा। वास्तव में पिता के अधीन होने के कारण कान्यनुराग को परकीया अनुराग सदृश माना गया है।

1.3.2.2.3. सामान्या नायिका

यह नायिका कुमारी कन्या भी हो सकती है। साहित्य में धर्म का दबाव अधिक होने के कारण परकीया और सामान्या पर अधिक लिखने का साहस निरंकुश कवियों ने नहीं किया है। इस श्रेणी की सर्वसाधारण स्त्री भी प्रेयसी बन सकती है। वस्तुतः वेश्या को साधारण स्त्री कहा गया है। वह कलाओं में प्रवीण होते हुए भी गुणहीनों से द्वेष नहीं करती है, जब तक उसे धन की प्राप्ति होती रहती है, वह राग-प्रदर्शन करती रहती है। इसको प्रायः चोर, नपुंसक या संन्यासियों से प्रेम होताहै। अतः साहित्यशास्त्र और धर्मशास्त्र में इसे अत्यधिक हेय समझा गया है।

रीतिकालीन कवियों ने परम्परा के अनुसार ही नायिकाओं की भिन्न अवस्थाओं का चित्रण किया है। उपर्युक्त तीन प्रकार की नायिकाओं की निम्नलिखित आठ अवस्थाएँ बतायी गई हैं – स्वाधीनपतिका, खण्डिता, अभिसारिका, कल्हान्तरिता, विप्रलब्धा, प्रोषितपतिका, वासकसज्जा और विरहोत्कण्ठिता।

'स्वाधीनपतिका' वह है जिसका पति नायिका के अधीन रहे या इसे यूँ कहा जाय कि जो अपने रूप और गुणों से अपने पति को सम्मोहित कर ले। नायिका के प्रति आसक्त, सदा उसी की निकटता का इच्छुक नायक के प्रति नायिका की देखिए, कैसी व्यंजनात्मक हो गई है –

नैक उतै उठि बैठिए, कहा रहे गहि गेहु।
छूटी जाति नह दी छिनकु महदी सूकन देहु॥

शृंगार करके प्रियतम के आगमन की कामना करने वाली नायिका को 'वासकसज्जा' कहते हैं। रात्रि भर प्रिय की प्रतीक्षा करने पर भी जब वह नहीं आता, उसके उद्वेग की सीमा नहीं रहती, ऐसी अवस्था में नायिका को 'विरहोत्कण्ठिता' कहा गया है। जब नायिका सम्पूर्ण रात्रि प्रिय-आगमन की प्रतीक्षा में व्यतीत कर देती है और प्रातः नायक का आगमन होता है तो नायक के मुख पर परस्त्री-संभोग के चिह्न अंकित देखकर उसपर व्यंग्यबाण छोड़ने वाली नायिका 'खण्डिता' होती है। कभी-कभी नायक से नायिका का झगड़ा हो जाता है, उस समय वियोग की अवस्था असहनीय होती है। ऐसी नायिका को 'कल्हान्तरिता' की संज्ञा दी गई है। जिसका पति विदेश गया है, वह 'प्रोषितपतिका' होती है। जो प्रिय के बुलावे पर संकेतित स्थान पर जा पहुँचती है लेकिन प्रिय वहाँ नहीं आता है, वह 'विप्रलब्धा' होती है। 'अभिसारिका' वह है जो रात्रिकाल में चोरी-छुपे प्रिय-मिलन हेतु जाते समय लोगों की दृष्टि से बचने के लिए शुक्ल पक्ष में श्वेत वस्त्र और बहुल पक्ष में कृष्णवस्त्र धारण करती है। उक्त सभी प्रकार की नायिकाओं की सखियाँ दूती, सहेट, नटी, दासी, धात्री, प्रतिवेशनी, बाला, संन्यासिनी, बढ़इन तथा शिल्पकार आदि निम्न कर्म करने वाली स्त्रियाँ होती हैं।

1.3.2.3. रीतिकालीन कविता में सौन्दर्य-बोध

मनुष्य के शरीर में सौन्दर्य उसी प्रकार छिपा रहता है जैसे सम्पूर्ण तिल में तेल होता है। जैसे पके सेव के फल में मधुर लालिमा झलकती रहती है उसी प्रकार मानव शरीर से सौन्दर्य प्रस्फुटित होता है। सहृदय कवियों ने विविध प्रकार से इन सौन्दर्यों को मूर्त रूप में अभिव्यक्त करने का प्रयास किया है। कभी इन कवियों ने नायिका की देहयष्टि से विच्छुरित होने वाली कान्ति एवं शोभा को वाणी दी है तो कभी प्रत्येक अंगों की शोभा का अलग-अलग वर्णन किया है।

रीतिकाल में सौन्दर्य-वर्णन की एक अति प्रचलित साहित्यिक परम्परा है – नायक, नायिका और नख-शिख वर्णन की। कवियों ने इस पद्धति में नायक अथवा नायिका के शरीर के विभिन्न अवयवों – नख से लेकर शिख तक – के सौन्दर्य का आकर्षक वर्णन किया है। नख-शिख वर्णन के अन्तर्गत नायिका की सुन्दरता, सुकुमारिता, विविध चेष्टाएँ तथा उसके अंग-प्रत्यंग एवं उसके शृंगार-वर्णन किये जाते हैं। नायिका के सर्वांग सौन्दर्य का वर्णन देखिए –

भूषन भार संभारि है, क्यों तन यह सुकुमार।
सूधे पायँ न धर परत, सोभा ही के भार॥

1.3.2.4. रीतिकालीन कविता में प्रकृति-चित्रण

मध्यकालीन सगुण भक्तकवियों सूर, तुलसी, रसखान, रहीम, मीराँबाई इत्यादि ने प्राकृतिक सौम्य का वर्णन अपनी रचना में किया है। उत्तर मध्यकालीन समस्त रीतिकवियों ने भी अपनी कविता में प्रकृति, लता, पुष्प, वाटिका, नदी, समुद्र, पर्वतमाला, रात्रि-दिवस, सूर्य-चन्द्रमा, पशु-पक्षियों का सुन्दर वर्णन किया है। प्राकृतिक वर्णन में कवियों का मन खूब रमा है क्योंकि बिम्ब नायक-नायिका के संयोग-वियोग दशा के चित्रों की दृश्यावली प्रस्तुत

करते हैं। इसी से कवियों ने प्रकृति का उद्दीपन, आलम्बन और आश्रय रूप में वर्णन किया है। रीतिकाल के सिरमौर कवि बिहारीलाल ने प्राकृतिक बिम्बों का खुलकर प्रयोग किया है। उदाहरण देखिए –

सघन कुंज घन, घन तिमिर, अधिक ऍंधेरी राति।
तऊ न दुरिहै स्याम यह, दीप-सिखा सी जाति॥

यहाँ 'कुंज', 'घन', 'राति' आदि सभी प्राकृतिक बिम्ब हैं। 'कुंज' यानी बगीचा', 'घन-तिमिर' अर्थात् बादलों का अन्धकार, 'ऍंधेरी राति' यानी 'अन्धकारमय रात्रि'।

कृष्ण की अनुपस्थिति में उनके साथ व्यतीत क्षणों को स्मरण करती व्याकुल गोपियों का चित्र उकेरते समय भी बिहारी ने यमुनातट पर स्थित प्राकृतिक उपादानों से आच्छादित कुंज का बिम्ब उपस्थित कर दिया है –

सघन कुंज छाया सुखद सीतल सुरभिसमीर।
मनु ह्वै जात अजौं वहै उहि जमुना के तीर॥

सभी लोग वर्षा के समान उदारहृदय नहीं होते। धनी और सम्पन्न होने के साथ ही कुछ व्यक्ति अधिक कृपण हो जाते हैं। राजा से लाभ उठाने की आकांक्षा करने वाले व्यक्ति से, वृक्ष पर अन्योक्ति करके बिहारी कहते हैं कि सामान्य पुरुष से सहज ही में लाभ मिल सकता है, पर किसी राजा से लाभ उठाने के निमित्त बहुत बाट जोहनी पड़ती है तथा निरादर सहना पड़ता है। जैसे पावस (सामान्य वर्षा ऋतु) सहज ही में अमृत सदृश सुखदायी जल प्रदान कर देती है, ऋतुराज वसन्त के आने से वह सुख नहीं पाया जा सकता –

नहिँ पावसु, ऋतुराजु यह; तजि, तरवर, चित-भूल।
अपतु भएँ बिनु पाइहै क्यौं नव दल, फल, फूल॥

कवि देव ने जितनी तन्मयता एवं तल्लीनता से रूप-सौन्दर्य का चित्रण किया है, उतना प्रकृति-सौंदर्य का निरूपण नहीं किया है। फिर भी उद्दीपन के रूप में अंकित प्रकृति के चित्रों में पर्याप्त सौन्दर्य विद्यमान है। जैसे – वर्षा ऋतु का चित्र अंकित करते हुए कवि कहता है–

सुनि के धुनि चातक मोरनि की, चहुँ ओरनि कोकिल कूकनि सों।
अनुराग भरे हरि बागन में, सखि रागत राग अचूकनि सों।
कवि देव घटा उनई जूनई, वन भूमि भई दल दूकनि सों।
रंगराती हरी हहराती लता, झुकि जाती समीर की झूकनि सो॥

प्राकृतिक वैभव को हिन्दी के अधिकांश कवियों ने अपना वर्ण्य-विषय बनाया है। रीतिकाल में स्वच्छन्द कविता की परिपाटी रचने वाले घनानन्द, आलम, बोधा, ठाकुर इत्यादि ने भी अपनी वैयक्तिक चेतना को प्रकृति के आलम्बन, उद्दीपन आदि के माध्यम से अभिव्यक्त किया है। परन्तु मध्यकाल के इन स्वच्छन्द कवियों की

संवेदना केवल प्रेम की संवेदना थी, ये 'प्रेम की पीर' के पक्षी थे। घनानन्द की नायिका कोयल की आवाज सुनकर किस तरह हृदय से पीड़ित है इसका अनुमान उनके निम्नलिखित कवित्त को पढ़कर सहज ही किया जा सकता है –

कारी-कूर कोकिला ! कहाँ को बैर काढ़ति री,
कूकि-कूकि अबही करेजो किन कोरि लै।
पैड़ें परे पापी ये कलापी निस द्यौस ज्योंही,
चातक ! घातक त्यौंही तुहू कान फोरि लै।
आनँद के घन प्रानजीवन सुजान बिना,
जानि कै अकेली सब घेरौ दल जोरि लै।
जौं लौं करै आवन विनोद-बरसावन वे,
तौ लौं रे डरारे बजमारे घन घोरि लै ॥

काव्य में कुछ बाह्य दृश्यों का चित्रण अनिवार्य होता है। जैसे आलम्बन के स्वरूप का प्रत्यक्षीकरण। इस सन्दर्भ में दुर्गाप्रसाद मिश्र का स्पष्ट कथन है कि "सेनापति ने भी प्रचलित परिपाटी को ही ग्रहण किया है तथा प्रकृति का वर्णन उद्दीपन विभाव के रूप में ही किया है।" सेनापति ने अपने काव्य 'ऋतुवर्णन' या 'बारहमासा' के अन्तर्गत वर्ष के प्रत्येक महीने का वर्णन किया है। इस अर्थ में उन्होंने रीतिकाल के कवियों में सबसे अधिक प्रकृति के चित्रण में रुचि ली है। ग्रीष्म में भीषण उत्ताप से बचने के लिए जिन उपचारों की आवश्यकता होती है, उनका उल्लेख उन्होंने इस प्रकार किया है –

जेठ ननिकाने सुधरत खसखाने, तल
ताख तहखाने के सुधारि झारियत हैं।
होति है मरंमति बिबिध जल जंत्रन की,
ऊँचे ऊँचे अटा, ते सुधा सुधारियत हैं ॥
सेनापति उतर, गुलाब, अरगजा साजि,
सार सार हार मोल लै लै धारियत हैं।
ग्रीष्म के बासर बराइवे कौं सीरे सब,
राजभोग काज साज यौं सम्हालरियत है ॥

वसन्त ऋतु में वियोगिनी को प्रकृति की सुषमा अत्यधिक दुःखदायी प्रतीत होती है क्योंकि उसका पति परदेश में है। प्रिय के विदेश में होने के कारण मलयानिल उसे अत्यन्त उष्ण प्रतीत हो रहा है और रसाल के विकसित पुष्प उसे प्रियतम की प्रीति की स्मृति कराकर व्यथित कर रहे हैं –

केतकि, असोक, नव चंपक, बकुल कुल,
कौन धौ वियोगिनी कौं ऐसो बिकराल है।
सेनापति साँवरे की, सूरति की सुरति की,
सुरित कराइ करि डारत बिहाल है ॥
ददिन-पवन एती ताहू की दवन जऊ,

सूनौ है भवन परदेस प्यारी लाल है ।
लाल हैं प्रबाल फूले देखत बिसाल,
जाऊ फूले और साल पै रसाल उर साल हैं ॥

प्रकृति का स्वतन्त्र निरीक्षण जैसा सेनापति ने किया है वैसा बहुत कम प्राचीन कवि कर सके हैं । उनके ऋतुवर्णन में जैसी वास्तविकता दृष्टिगोचर होती है वैसी बहुत कम ब्रजभाषा के कवियों में दीख पड़ती है । जब ब्रजभाषा के प्रकृति-वर्णन करने वाले कवियों का इतिहास लिखा जायेगा तब निस्सन्देह ही सेनापति का स्थान प्रथम श्रेणी में रखा जाएगा ।

रीतिकालीन काव्य में प्रकृति के प्रति कवियों ने पूर्व परम्परा को अपनाया है । यही कारण है कि संस्कृत के कवियों से उनका मोहभंग न हो सका । उनके काव्य में प्रकृति का चित्रण, उद्दीपन, आलम्बन, आश्रय, वियोगिनी नायक-नायिका के रूप में आया है, जहाँ उन्हें प्रकृति उनके प्रति विपरीत मालूम होती प्रतीत होती है । प्रत्येक कवि प्रकृति रचना के तादात्म्य से बच न सका । सच तो यह है कि मनुष्य का सम्पर्क प्रकृति से सदैव कहीं न कहीं अवश्य रहता है । बिना प्रकृति के मनुष्य का जीवन अधूरा है ।

1.3.3. पाठ-सार

रीतिकालीन कवियों की शृंगार-भावना दमन से उत्पन्न किसी प्रकार की मानसिक ग्रन्थि न होकर, दैहिक सुख की वह साधना है, जिसमें विलास के समस्त उपकरणों के संग्रह की ओर ही व्यक्ति की दृष्टि केन्द्रित रहती है तथा प्रेम को अतीन्द्रिय रूप देने अथवा वासनात्मक रूप देने का कोशिश नहीं हुई है । यही वजह है कि संयोग के नग्न चित्रों तथा नायकों की ढिठाई के विभिन्न रूपों को प्रस्तुति में रीतिकवियों ने किसी प्रकार का संकोच नहीं किया है, क्योंकि इस प्रवृति में विलासिता का प्राधान्य है । इसलिए प्रेम-भावना में एकोन्मुखता का स्थान अनेकोन्मुखता ने इस प्रकार से ले लिया है कि कुण्ठारहित प्रेम की उन्मुक्तता रसिकता का रूप धारण कर गई है ।

सूरदास की ‘साहित्यलहरी’, नन्ददास की ‘रसमंजरी’, रहीम की ‘बरवै नायिका-भेद’, कृपाराम की ‘हित तरंगिणी’, केशव की ‘रसिकप्रिया’, चिन्तामणि की ‘कविकुल कल्पतरु’ इत्यादि ग्रन्थों में नायिकाओं के भेदोपभेद का प्रयास किया गया । इनके आधार पर ही मुख्यतः तीन प्रकार की नायिकाएँ स्वीकार की गई हैं – स्वकीया नायिका, परकीया नायिका और सामान्या नायिका । फिर इन तीनों प्रकार की नायिकाओं की आठ अवस्थाएँ – स्वाधीनपतिका, खण्डिता, अभिसारिका, कल्हान्तरिता, विप्रलब्धा, प्रोषितपतिका, वासकसज्जा और विरह उत्कण्ठिता बतायी गईं ।

रीतिकाल में सौन्दर्य-वर्णन की एक अति प्रचलित साहित्यिक परम्परा बनी – नायक, नायिका और नख-शिख वर्णन की । कवियों ने इस पद्धति में नायक अथवा नायिका के शरीर के विभिन्न अवयवों – नख से लेकर शिख तक – के सौन्दर्य का आकर्षक वर्णन किया है ।

1.3.4. बोध प्रश्न

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. निम्नलिखित में से रीतिकाल को किस नाम से सम्बोधित नहीं किया गया है ?

(क) शृंगारकाल
(ख) अलंकृतकाल
(ग) वीरकाल
(घ) दरबार काल

2. रीतिकाल को अलंकृतकाल किसने कहा है ?

(क) मिश्रबन्धु
(ख) ग्रियर्सन
(ग) शुक्ल
(घ) विश्वनाथ प्रसाद मिश्र

3. स्वकीया नायिका के कौनसे तीन भेद माने गए हैं –

(क) मुग्धा, मध्या और प्रौढ़ा
(ख) वासकसज्जा, विरहोत्कण्ठिता, प्रोषितपतिका
(ग) अभिसारिका, सुरतगोपना, चतुरा
(घ) लक्षिता, अनुशयना और मुदिता

4. परकीया नायिका के लक्षण हैं –

(क) पतिमात्र विषयक केलिकलाचातुरता
(ख) मदन के वशीभूत होकर लज्जायुक्तता
(ग) परपुरुष के साथ प्रेम करने की उद्दाम भावना से युक्तता
(घ) हित अथवा अहित करने वाले नायक का सदा हित करने की सदाशयता से युक्तता

5. निम्नलिखित में से किन ग्रन्थों में नायिका-भेद की चर्चा की गई है ?

(क) सूरदास-कृत 'साहित्यलहरी', नन्ददास-कृत 'रसमंजरी'
(ख) रहीम-कृत 'बरवै नायिका भेद', कृपाराम-कृत 'हिततरंगिणी'
(ग) केशव-कृत 'रसिकप्रिया', चिन्तामणि-कृत 'कविकुलकल्पतरु'
(घ) उपर्युक्त सभी ।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. रीतिकालीन कवियों ने प्रकृति का चित्रण किस रूप में किया है ?
2. रीतिकालीन साहित्य में शृंगारिकता की प्रवृति के बारे में विस्तृत वर्णन कीजिए।
3. रीतिकालीन कवियों में प्रकृति का कौन-सा रूप अभिव्यक्त हुआ है ?
4. रीति-निरूपण से क्या तात्पर्य है ?
5. रीतिकाल के किस कवि का मन प्रकृति-चित्रण में खूब रमा है ? सोदाहरण उत्तर दीजिए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. सौन्दर्यबोध से क्या आशय है ? रीतिकालीन काव्य में सौन्दर्यबोध के कौन-कौन से आयाम मिलते हैं ?
2. नायिका-भेद की दृष्टि से रीतिकालीन साहित्य कितना मौलिक है ? तर्क देते हुए नायिका-भेद का परिचय दीजिए।
3. "शृंगार रीतिकाल का प्राण है।" इस कथन के आलोक में रीतिकाल को शृंगारकाल कहे जाने के समर्थन में विद्वानों के तर्क प्रस्तुत कीजिए।

1.3.5. व्यवहार

1. आप इस तर्क से कहाँ तक सहमत हैं कि "कलाकार और कवि दरबार में रहकर अपने सच को पूरी ईमानदारी से अभिव्यक्त नहीं कर पाता है।" मध्यकालीन इतिहास की पुस्तकों में रीतिकालीन दरबारी व्यवस्थाओं का अध्ययन कीजिए और रीतिमुक्त कवियों की स्वच्छन्द चेतना से तुलना करते हुए आश्रित कवियों एवं कलाकारों पर एक सारगर्भित आलेख लिखिए।

1.3.6. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

1. डॉ॰ नगेन्द्र (सं.), हिन्दी साहित्य का इतिहास
2. भगीरथ मिश्र, हिन्दी रीति साहित्य, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण – सन् 1999
3. सुधीश पचौरी, रीतिकाल : सेक्सुअलिटी का समारोह, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण – 2017

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://www.hindisamay.com/content/2243/1/मैनेजर-पाण्डेय-आलोचना-रीतिकाल-मिथक-और-यथार्थ.cspx
2. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
3. http://www.hindisamay.com/

❖❖❖

खण्ड – 1 : रीतिकालीन हिन्दी साहित्य

इकाई – 4 : अभिव्यंजना शिल्प : भाषा, शैली, रस, छन्द, अलंकार आदि काव्यांग

इकाई की रूपरेखा

1.4.0. उद्देश्य
1.4.1. प्रस्तावना
1.4.2. रीतिकालीन साहित्य की पृष्ठभूमि
- 1.4.2.1. दरबारी पृष्ठभूमि
- 1.4.2.2. ऐतिहासिक पृष्ठभूमि
- 1.4.2.3. सामाजिक पृष्ठभूमि
- 1.4.2.4. सांस्कृतिक पृष्ठभूमि
- 1.4.2.5. स्थापत्य-कला
- 1.4.2.6. संगीत-कला
- 1.4.2.7. धार्मिक पृष्ठभूमि
- 1.4.2.8. साहित्यिक पृष्ठभूमि

1.4.3. रीतिकालीन काव्य का स्वरूप
1.4.4. काव्यशास्त्रीय रूप
- 1.4.4.1. रीतिबद्ध काव्य
  - 1.4.4.1.1. आचार्य केशवदास
  - 1.4.4.1.2. मतिराम
  - 1.4.4.1.3. भूषण
  - 1.4.4.1.4. देव
  - 1.4.4.1.5. भिखारीदास
  - 1.4.4.1.6. पद्माकर
- 1.4.4.2. रीतिसिद्ध काव्य
- 1.4.4.3. रीतिमुक्त काव्य

1.4.5. विविधांग या विशिष्टांग निरूपक काव्य
- 1.4.5.1. रस-निरूपक
- 1.4.5.2. अलंकार-निरूपक
- 1.4.5.3. पिंगल-निरूपक

1.4.6. शृंगारेतर काव्य
- 1.4.6.1. भक्तिकाव्य
- 1.4.6.2. वीर और प्रशस्तिपरक काव्य
- 1.4.6.3. नीतिपरक काव्य
- 1.4.6.4. तत्त्वज्ञान एवं वैराग्यपरक काव्य

1.4.7. रीतिकालीन काव्य का भाषा-शिल्प

1.4.8. सारांश
1.4.9. अभ्यास-प्रश्न

1.4.0. उद्देश्य

प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. रीतिकाव्य की पूर्व पीठिका से परिचित हो सकेंगे।
ii. रीतिकालीन सामाजिक, सांस्कृतिक एवं भाषिक विशेषताओं को समझ सकेंगे।
iii. रीतिकालीन साहित्य की अभिव्यंजना शिल्प का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।
iv. रीतिकालीन प्रवृत्तियों की भी जानकारी प्राप्त होगी।
v. रीतिकालीन साहित्य के स्वरूप का अध्ययन कर सकेंगे।

1.4.1. प्रस्तावना

काव्य साहित्य का उद्‌भव अपने देश, काल, पात्र, समाज, संस्कृति और इतिहास का परिणाम होता है। काव्य का स्वरूप और अर्थ अपने समय की परिस्थितियों के आधार पर सृजित होता है। रीतिकालीन साहित्य को समझने के लिए तत्कालीन पृष्ठभूमि को जानना आवश्यक है। रीतिकालीन काव्य में एक विशिष्ट प्रकार का सौन्दर्य समाविष्ट है। इसके अन्तर्गत प्रेम तथा शृंगार का विवेचन रीतिकवियों की ऐहिकतावादी चिन्तन-दृष्टि का परिणाम था। भाषा, समाज एवं संस्कृति तथा उस युग की कविता के मध्य अन्तःसूत्रों का अध्ययन भी प्रस्तुत इकाई में किया जाएगा।

इस पाठ्यचर्या की पूर्व इकाइयों में आपने नामकरण, काव्य-प्रवृत्तियाँ, सौन्दर्यबोध तथा प्रकृति-चित्रण आदि का अध्ययन किया है। इस इकाई में आप अभिव्यंजना शिल्प विषयक काव्यांग का अध्ययन करेंगे।

1.4.2. रीतिकालीन साहित्य की पृष्ठभूमि

रीतिकालीन साहित्य अधिकतर दरबारी पृष्ठभूमि में विकसित हुआ है। इसका कारण यह है कि राजाश्रय में ही उसका पोषण होता रहा। प्राचीन राजाओं के राजदरबार में विद्वान्, संगीतज्ञ, कवि, चित्रकार, विदूषक तथा इतिहास-पुराण के ज्ञाता सभी जन आश्रय प्राप्त करते थे। अपने आश्रयदाताओं की वीरता, यश, सम्मान तथा राजवैभव से सम्पन्न विलासिता का वर्णन करना भी इन राज्याश्रित कवियों के काव्य की विषयवस्तु होती थी। राजा भोज तथा विक्रमादित्य ऐसे ही गुणज्ञ शासक थे। धीरे-धीरे दरबारी कवियों के काव्य में भाव की गम्भीरता और व्यापकता के स्थान पर अलंकरण तथा प्रदर्शन की प्रवृत्ति अधिक व्यापक हो गई।

1.4.2.1. दरबारी पृष्ठभूमि

विविध कलाओं के साथ काव्य का उत्कर्ष तभी होता है जब देश की शासन-व्यवस्था सुदृढ़ होती है और चारों ओर शान्ति होती है । आठवीं शती विक्रमी तक देश में सम्राट् हर्षवर्धन के शासनकाल तक शान्ति-सुव्यवस्था सुदृढ़ थी। उस समय काव्य और कलाओं का उत्कर्ष हुआ । कालान्तर में पश्चिमोत्तर सीमा से विदेशियों का आक्रमण प्रारम्भ हुआ । अराजकता का वातावरण छा गया । अकबर के समय तक यह परिस्थिति बनी रही । मुग़ल दरबार में अनेक कवि, कलाकार, शिल्पी आदि आश्रय पाते थे । अब्दुल रहीम खानखाना, नरहरि, तानसेन, गंग, बीरबल जैसे गुणज्ञ अकबर के दरबार में थे । यह परम्परा जहाँगीर और शाहजहाँ तक बनी रही । औरंगज़ेब की कट्टरता के बाद यह दरबारी परम्परा टूटने लगी।

अकबर के द्वारा स्थापित समृद्ध राज्य के उत्तराधिकारी अत्यधिक विलासी एवं प्रदर्शन-प्रिय हो गए थे । उनका प्रभाव देशी राजाओं पर भी पड़ा । वहाँ भी सुरा-सुन्दरी का व्यापक प्रचार-प्रसार हुआ । रीतिकालीन कवि और उनका साहित्य इस दरबारी वातावरण से पूर्णरूपेण प्रभावित हुआ । रीतिबद्ध और रीतिमुक्त दोनों धाराओं के कवि विलासितापूर्ण काव्य-सौन्दर्य के सृजन में डूब गए । ये कवि दरबारों से मुक्त होकर भी अपनी स्वच्छन्द वृत्ति के कारण स्वतन्त्रतापूर्वक काव्य-रचना करने लगे । यह रीतिकालीन साहित्य की दरबारी पृष्ठभूमि थी ।

1.4.2.2. ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

ऐतिहासिक वातावरण की दृष्टि से औरंगज़ेब की मृत्यु के पश्चात् सन् 1707 ई. से देश की केन्द्रीय सत्ता कमजोर होने लगी । अलग-अलग स्थानों पर सामन्तों की शक्ति बढ़ने लगी । वे बादशाहों की तरह जीवन-शैली और आचार-व्यवहार अपनाने लगे । उनके यहाँ भी हरमखाने खुलने लगे । स्त्री पुरुष के मनोरंजन की वस्तु बनकर रह गई । मांसल सौन्दर्य और प्रेम की प्रधानता काव्य का प्रमुख अंग बन गई । कला और संगीत के घरानों का उदय भी इसी युग में हुआ।

रीतिकाल युगीन सम्राट् और सामन्त राजसी वैभव-विलासिता के प्रभाव में अपने कर्त्तव्यों से विमुख हो चुके थे। शाहजहाँ के बाद उसके बेटों में सत्ता के लिए संघर्ष छिड़ गया था। सहिष्णु दाराशिकोह की हत्या करके औरंगज़ेब गद्दी पर बैठा । वह कट्टर सुन्नी मुसलमान था । वह अत्यन्त रूढ़िवादी था । उसने कला, संगीत व साहित्य का बहिष्कार किया । हिन्दुओं पर अनेकानेक अत्याचार किए । परिणामस्वरूप सिक्खों, मराठों, जाटों आदि में उसके प्रति विद्रोह उत्पन्न हो गया । औरंगज़ेब का समय युद्ध करते ही बीता । औरंगज़ेब के बाद उसके वंश में कोई ऐसा पुरुषार्थी शासक उत्पन्न नहीं हुआ जो देश में शान्ति-सुव्यवस्था की स्थापना कर पाता।

इस परिस्थिति में आन्तरिक कलह उत्पन्न हो गई और विदेशियों के आक्रमण प्रारम्भ हो गए । नादिरशाह और अहमदशाह अब्दाली ने खूब कत्लेआम किया तथा प्रजा को लूटा । उसके प्रतिरोध या मुकाबले की क्षमता न दिल्ली के बादशाह में थी न देशी राजाओं में । शासक वर्ग में चारों ओर षड्यन्त्र तथा स्वार्थपरता व्याप्त थी । राजे-

महराजे और सामन्तों में एकता तथा संगठन का सर्वथा अभाव था। इसका पूरा लाभ विदेशी आक्रमणकारियों ने उठाया। देश का पूर्वी भाग अंग्रेज़ों के अधिकार में आ गया।

1.4.2.3. सामाजिक पृष्ठभूमि

सामाजिक वातावरण की दृष्टि से देश में सर्वत्र विलासिता तथा वैभव के प्रदर्शन की प्रवृत्ति व्याप्त थी। चारों ओर पौरुषहीनता परिलक्षित हो रही थी। शासक और शासित के मध्य खाई बढ़ती जा रही थी। शासक-तन्त्र निरंकुश और शोषक बन चुका था। ऐसे वातावरण में कवि-कलाकार उत्पन्न तो होते थे किन्तु उन्हें अपनी आजीविका के लिए सामन्त या राजन्य वर्ग की शरण लेनी पड़ती थी। अतः वे अपने आश्रयदाता की रुचि के अनुकूल अपनी कला या काव्य-रचना को ढालते थे। रीतिकाल के कवियों को रसिक वर्ग में रखा जा सकता है। परिणामस्वरूप रीतिकाव्य लोकजीवन की त्रासद स्थितियों से कट कर केवल सामन्ती विलासिता का चित्रण मात्र रह गया।

1.4.2.4. सांस्कृतिक पृष्ठभूमि

सांस्कृतिक वातावरण की दृष्टि से भी रीतिकालीन काव्य पर तत्कालीन दरबारों की गहरी छाप मिलती है। दरबार चाहे मुग़ल बादशाहों, नवाबों, या देशी राजा-महाराजाओं का हो, कवियों-कलाकारों को वहीं प्रश्रय मिलता था। मुग़ल दरबारों में फ़ारसी भाषा प्रचलित थी। उनकी कलात्मक अभिव्यक्ति ईरानी शैली से प्रभावित थी। हिन्दू दरबारों में पलने वाली कलाओं में भारतीय सांस्कृतिक परम्परा का प्रभाव परिलक्षित होता है।

1.4.2.5. स्थापत्य-कला

मुग़लकाल में भारतीय स्थापत्य-कला के साथ फ़ारसी वास्तुशैली का सम्मिश्रण होने से एक नयी शिल्पकला का उद्भव हुआ। 'ताजमहल' में इसका साक्ष्य उपलब्ध है। उस युग में प्रायः लाल पत्थरों का प्रयोग करके किले का निर्माण होता था। अलंकरण तथा प्रदर्शन से चमत्कार उत्पन्न करने की प्रवृत्ति उस समय अधिक परिलक्षित होती है। राजपूताना शैली में निर्मित भवनों तथा महलों में भी मुग़ल शैली का प्रभाव दिखाई देता है। विलासिता एवं वैभवपूर्ण प्रदर्शन के उस युग में संगमरमर के श्वेत पत्थरों में आकर्षक बेलबूटेविशेष प्रभाव उत्पन्न करते थे।

1.4.2.6. संगीत-कला

मुग़लकाल में विशेषकर अकबर के समय संगीत-कला का चरमोत्कर्ष परिलक्षित होता है। ग्वालियर के दरबार में 'ध्रुपद' जैसी गम्भीर शैली विकसित हुई। तानसेन का कीर्तिमान इस युग की उपलब्धि है। जहाँगीर के समय 'संगीत दर्पण' जैसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाश में आए। शाहजहाँ के समय कोमल रागों का अधिक प्रयोग हुआ। कोमलता, सुकुमारता आदि वैभव एवं विलास के ही प्रतीक हैं। मुग़ल तथा हिन्दू संगीतज्ञों को राज्याश्रय

प्राप्त था किन्तु औरंगज़ेब की धार्मिक कट्टरता के कारण कलात्मक अभिव्यक्ति अधिक तिरस्कृत हुई। तत्पश्चात् मुहम्मद शाह 'रंगीले' के समय में दिल्ली दरबार एक बार पुनः कलाकारों, संगीतज्ञों तथा रसिकों से गुलजार हुआ। भारतीय संगीत फ़ारसी प्रभाव से भी सम्पन्न हुआ। चतुरंग शैली में ख्याल, तराना, सरगम, चिवट (मृदंग के बोल) आदि के सम्मिश्रण से संगीत की वैचित्र्यपूर्ण रचना होने लगी। अवध के नवाब वाजिद अली शाह के समय की रसीली-रंगीली ठुमरी उस समय के समाज की मनोरंजन प्रधान रुचि की ही परिचायक है।

1.4.2.7. धार्मिक पृष्ठभूमि

धर्म भी युगधर्म का प्रतिरूप बन जाता है। अकबर ने विभिन्न धर्मों में समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया था किन्तु औरंगज़ेब की कट्टरता से अकबर के दीर्घकालीन प्रयासों पर पानी फिर गया। नैतिक पतन के इस युग में धार्मिक अन्धविश्वास भी बढ़ गया।

आचाय शाण्डिल्य द्वारा प्रतिपादित ईश्वर के प्रति उत्कृष्ट प्रेम की अभिव्यक्ति कालान्तर में भक्ति-भावतत्त्व से विहीन होकर स्थूल भौतिक काम-चेष्टाओं का साधन बन गई। दास्य भक्ति के प्रतिपादक, श्री सम्प्रदाय के आचार्य रामानुज की शिष्य परम्परा में आने वाले रीतिकालीन सतनामी, लालदासी, नारायणी आदि सम्प्रदायों के शिष्य विलासिता-वैभव में डूब गए। कृष्णभक्तिधारा के कवि भी भौतिक विलास-कलाओं का विस्तार करने लगे। प्रेममूला भक्ति, काममूला भक्ति या रति में परिणत हो गई।

1.4.2.8. साहित्यिक पृष्ठभूमि

साहित्य समाज का दर्पण है। समाज संस्कृति प्रधान होता है। रीतिकालीन काव्य भी अन्य ललित कलाओं की भाँति सामन्ती परिवेश से प्रभावित है। इसमें मुग़लकालीन वैभव और विलास से प्रेरित सौन्दर्यबोध अभिव्यक्त हुआ है। विदेशी शिष्टता और सभ्यता के व्यवहार का अनुकरण तथा फ़ारसी के लच्छेदार शब्दों का बाहुल्य होने लगा। भक्तिकाल की अन्तिम रचनाएँ काव्य-दृष्टि से शृंगार की ही रचनाएँ हैं। यद्यपि भारतीय मर्यादा को ध्यान में रखते हुए प्रेम के आलम्बन तो कृष्ण और राधा ही रहे किन्तु घोर वासनापूर्ण रचना करने वाले कवियों ने राधा-कृष्ण के नाम के साथ उनकी वे सारी लीलाएँ भी जोड़ लीं जो तत्युगीन वैलासिक अभिव्यक्ति में सहायक सिद्ध हुईं।

1.4.3. रीतिकालीन काव्य का स्वरूप

रीतिकाल हिन्दी साहित्य के इतिहास का एक कालखण्ड है। वास्तव में संस्कृत साहित्य तथा हिन्दी साहित्य में रीति शब्द का अभिप्राय भिन्नार्थक है। संस्कृत साहित्य में अलंकार, रीति, रस, ध्वनि, वक्रोक्ति आदि काव्यशास्त्रीय चिन्तन के पहलू हैं। हिन्दी साहित्य के रीतिकालीन कवियों का उद्देश्य काव्यांगों का शास्त्रीय विवेचन करना नहीं था। उनका मुख्य उद्देश्य कविता करना था। कविता के प्रति उनका दृष्टिकोण भी बहुत सीमित

था। वे अर्थोपार्जन के लिए कविता करते थे। इसके लिए वे सामन्तों की रुचि तथा मनोरंजन का विशेष ध्यान रखते थे। अतः इस कार्य के लिए रीतिकालीन हिन्दी काव्य के तीन प्रमुख आधार निम्नलिखित थे –

(i) प्रेम-क्रीड़ाओं से सम्बन्धित कामशास्त्र
(ii) उक्ति-वैचित्र्य से सम्बन्धित अलंकारशास्त्र
(iii) नायक-नायिका के स्वभाव का वर्णन करने वाले रसशास्त्र

1.4.4. काव्यशास्त्रीय रूप

हिन्दी की रीतिकालीन काव्यधारा का प्रमुख उद्देश्य संस्कृत की भाँति काव्यशास्त्रीय चिन्तन नहीं था किन्तु उसके विकास का प्रमुख आधार काव्यशास्त्रीय है। भक्तिकाल में ही कृपाराम की 'हिततरंगिणी' नन्ददास की 'रसमंजरी', सूरदास की 'साहित्यलहरी', केशवदास की 'कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया' की रचना हो चुकी थी। आचार्य केशवदास से हिन्दी में रीति-निरूपण की सुदृढ़ परम्परा स्थापित हुई। सेनापति तक रीति-निरूपक आचार्यों की परम्परा मिलती है। हिन्दी के रीतिकवियों ने संस्कृत काव्यशास्त्र को अप्रत्यक्ष रूप से स्वीकार किया है। तत्कालीन सामन्ती एवं सामाजिक रसिकता के परिणामस्वरूप रस तथा अलंकार सम्प्रदायों का ही किंचित् परिचय हिन्दी काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में मिलता है।

रीतिकाल में जो काव्य प्राप्त होता है उसके आधार पर रीतिकालीन कवियों को प्रायः तीन प्रमुख श्रेणियों में विभाजित किया जाता है। इन तीन वर्गों में विभक्त करके ही रीतिकालीन काव्य का स्वरूप समझा जा सकता है। ये वर्ग निम्नवत हैं – (i) रीतिबद्ध, (ii) रीतिसिद्ध तथा (iii) रीतिमुक्त।

1.4.4.1. रीतिबद्ध काव्य

रीतिबद्ध काव्य में मुख्यतः शास्त्रीय स्वरूप के उद्घाटन का परिचय मिलता है। अतः उसमें विभिन्न काव्य-रीतियों का बन्धन पाया जाता है। वास्तव में रीतिबद्ध कविता में शास्त्रीयता तथा शृंगारिकता का अद्भुत संयोग दिखाई देता है। इस प्रवृत्ति के पीछे दरबारी मानसिकता कार्य कर रही थी। दरबारी कविता संगीत और नृत्य की भाँति मनोरंजन प्रधान हो गई थी। शृंगार रस एवं सामान्य शास्त्रीय जानकारी के संयोग से रीतिबद्ध काव्य में चमत्कार की प्रमुखता हो गई। जिससे आश्रयदाता अचम्भित और प्रसन्न हो सकें। अतः रीतिबद्ध काव्य में वाग्वैदग्ध्यता, सघनता, लघुता तथा शृंगारिक उत्तेजना का प्रयोग अधिक मिलता है। इस वर्ग में आने वाले कुछ प्रमुख कवि-आचार्य तथा उनके साहित्य का परिचय इस प्रकार है –

1.4.4.1.1. आचार्य केशवदास (1560 – 1601 ई.)

केशवदास की रचना में उनके आचार्यत्व के साथ उनका महाकवि रूप तथा इतिहासकार का व्यक्तित्व स्पष्ट परिलक्षित होता है। ये हिन्दी के प्रथम आचार्य हैं। इनके द्वारा ही हिन्दी में संस्कृत-परम्परा की सुव्यवस्थित

स्थापना हुई। आचार्यत्व, पाण्डित्य प्रदर्शन तथा कठिन काव्य के प्रणेता के रूप में केशवदास की आलोचना भी हुई है। इन्होंने मुक्तक और प्रबन्ध दोनों काव्य-रूपों में रचना की। उनके प्रमुख ग्रन्थों में – रस (रसिकप्रिया), अलंकार (कवि प्रिया), छन्द और भक्ति (रामचन्द्रिका, छन्दमाला), वीर-प्रशस्तिकाव्य (वीरसिंहदेव चरित, जहाँगीर जस चन्द्रिका, रतन बावनी), वैराग्य (विज्ञानगीता) आदि हैं। केशव का नायिका-भेद-विवेचन शास्त्रीयता से परिपुष्ट है जो रीतिकाल का प्रमुख लक्षण है। यथा –

मोहिबो मोहन की गति को, गति ही पढ़ै बैन कहाँ धौ पढ़ैगी।
ओप उरोजन की उपजै दिन काई मढ़ै अंगिया न मढ़ैगी।

– रसिकप्रिया

नायिका का रूप-वर्णन देखिए –

गोरो गात पातरी न लोचन समात मुख,
उर उरजातन की बात अवरोहिये।
हँसति कहति बात फूल से झरत जात,
ओठ अवदात राती रेख मन मोहिये।

1.4.4.1.2. मतिराम (1617 – 1730 ई.)

रीतिकाल के विशिष्टांग (रस, छन्द, अलंकार) निरूपक आचार्यों में मतिराम का प्रमुख स्थान है। इन्होंने भानुमिश्र के रस और नायिका-भेद के लक्षणों का आधार लेकर 'रसराज' नामक प्रसिद्ध काव्य-ग्रन्थ की रचना की। 'ललित ललाम', 'कुवलयानन्द', 'सतसई' आदि इनकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। नवविवाहिता नायिका के लज्जापूर्ण सौन्दर्य की मोहक छवि इन पंक्तियों में प्रस्तुत है–

गौने के द्यौस सिंगारन को मतिराम सहेलिन को गन आयो।
कंचन के बिछुआ पहिरावत प्यारी सखी परिहास जनायो।

1.4.4.1.3. भूषण (1613 – 1715 ई.)

भूषण शिवाजी के समकालीन थे। उन्होंने शिवाजी तथा छत्रसाल दोनों का आश्रय ग्रहण किया था। 'शिवराजभूषण', 'शिवाबावनी', और 'छत्रसालदशक' इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। रीतिकालीन काव्य की शृंगारप्रधान प्रवृत्ति की उपेक्षा करके इन्होंने अलंकार-निरूपण तथा वीर प्रशस्तिपरक रचनाएँ कीं। इसके साथ ही इन्होंने अद्भुत, भयानक, वीभत्स तथा रौद्र रसों का भी प्रयोग किया। भूषण के छन्दों में आवेग और अनुभूति की एकता परिलक्षित होती है, यथा –

इंद्र जिम जंभ पर बाड़व ज्यौ अंभ पर
रावन सदंभ पर रघुकुलराज हैं।

पौन बारिबाह पर संभु रतिनाह पर
ज्यौं सहस्त्रबाहु पर राम द्विजराज हैं।
दावा द्रुमदण्ड पर चीता मृगझुंड पर
भूषन बितुंड पर जैसें मृगराज हैं।
तेज तम-अंस पर कान्ह जिम कंस पर
यौं मलेच्छ-बंस पर सेर सिवराज हैं॥

1.4.4.1.4. देव (1673 – 1767 ई.)

रीतिकालीन सर्वांग निरूपक आचार्यों में देव का महत्त्वपूर्ण स्थान है। ये किसी एक दरबार में नहीं रहे। जीवन भर छोटे-बड़े कई राजाओं के दरबार में रहे। इनके ग्रन्थों की संख्या बहत्तर बतायी जाती है। अभी तक पच्चीस ग्रन्थ ही उपलब्ध हैं। 'प्रेमचन्द्रिका', 'रागरत्नाकर', 'देवशतक', 'देवचरित्र' और 'देव मायाप्रपंच' आदि इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। वासनारहित प्रेम, संगीतचर्चा तथा वैराग्यपरक रचनाएँ इनका वर्ण्य-विषय थीं। प्रेमभाव में मन की चंचलता का रमणीय चित्रण निम्न पद में प्रस्तुत है–

मूरति जो मनमोहन की मनमोहिनी के थिर ह्वै थिरकी सी।
देव गोपाल को बोल सुने छतियाँ सियराति सुधा छिरकी सी।

1.4.4.1.5. भिखारीदास (1721)

भिखारीदास द्वारा रचित 'रससारांश' में रस और रसांगों का तथा 'शृंगारनिर्णय' में नायक-नायिका भेदों का निरूपण किया गया है। 'काव्यनिर्णय' में रस, अलंकार, गुण, दोष, तथा ध्वनि का विवेचन किया गया है। इन्होंने नीतिपरक सूक्तियाँ भी रची हैं। भावों की स्वाभाविकता के साथ कलात्मकता का संयोग भी इनकी रचनाओं की विशेषता है, यथा –

आवै यही अब जी मैं विचार सखि चलि सौतिन के गृह जैये।
मान घटे ते कहा घटिहै जु पै प्रान पियारे को देखन पैये।

1.4.4.1.6. पद्माकर (1753 – 1833 ई.)

जयपुर नरेश जगतसिंह के आश्रय में पद्माकर ने 'जगद्विनोद' नामक नवरस-निरूपक ग्रन्थ की रचना की। इन्होंने 'हिम्मत बहादुर विरुदावली' नामक वीररस प्रधान रचना लिखी। इनका अलंकार ग्रन्थ 'पद्माभरण' लक्षणों की स्पष्टता और उदाहरणों की सरसता के लिए अधिक प्रसिद्ध हुआ। पद्माकर की कविता में उल्लास और आनन्द की अनुपम छटा है। शृंगारिक भाव की व्यंजना में उन्मुक्तता और खुलापन है। ब्रजमण्डल के फाग के दृश्य की एक प्रसिद्ध कविता है –

छीन पितम्बर कमर तेसु बिदा दई मीड़ि कपोलन रोरी ।
नैन नचाइ कही मुसकाई लला फिर आइयौ खेलन होरी ।

1.4.4.2. रीतिसिद्ध काव्य

रीतिसिद्ध काव्य में काव्यशास्त्रीयता इतनी अधिक है कि ऐसा प्रतीत होता है कि कवि रस, अलंकार, ध्वनि, नायक-नायिका भेद आदि के उदाहरणस्वरूप काव्य-रचना कर रहा है । इस वर्ग के कवि 'शास्त्रकाव्योमय कवि' माने गए जो रीति से बँधे भी थे और उससे कुछ स्वच्छन्द होकर भी रचना करते थे । इस वर्ग के कवियों ने रीति की बँधी परिपाटी के अनुकूल ही रचना की लेकिन लक्षणग्रन्थ प्रस्तुत न करके स्वतन्त्र रूप से अपनी रचनाएँ प्रस्तुत की हैं। अतः ऐसे कवि जो रीतिविरुद्ध नहीं है लेकिन लक्षणग्रन्थों से बँधे भी नहीं है और रीति परम्परा को अपनी अभिव्यक्ति का आधार बनाकर स्वतन्त्र रचनाएँ करते हैं, वे रीतिसिद्ध कवि हैं। वास्तव में रीतिसिद्ध कवियों ने अपने काव्य-कौशल के प्रदर्शन पर विशेष बल दिया । उनमें आचार्य या कवि-शिक्षक बनने की अभिलाषा नहीं थी । इनमें स्वानुभूति की प्रधानता है । इनकी काव्य-दृष्टि तत्कालीन सामन्ती परिवेश से ही निर्मित थी। इसलिए इन पर फ़ारसी काव्य का भी प्रभाव पाया जाता है । रीतिसिद्ध काव्य विलासप्रधान है अतः उसके केन्द्र में नारी का रूपाकर्षण प्रमुख है। फिर भी उसमें शृंगार के साथ भक्ति, प्रशक्ति, नीति, ज्ञान, वैराग्य और प्रकृति के रूपों का वर्णन मिलता है । इस युग के प्रतिनिधि कवि बिहारी (1603 से 1663 ई.) की 'बिहारी सतसई' इनकी महत्त्वपूर्ण रचना है । बिहारी ने छोटे-छोटे दोहों के माध्यम से गहन अनुभूति की व्यापक और बहुविध अभिव्यक्ति की है । उनके बारे में कहा जाता है –

सतसैया के दोहरे, अरु नावुक कै तीरु ।
देखत तौ छोटै लगैं, घाव करै गंभीरु॥

1.4.4.3. रीतिमुक्त काव्य

रीतिमुक्त या स्वच्छन्द काव्यधारा के कवि अपने समय के रीतिबद्ध कवियों से वर्ण्य-विषय एवं वर्णन-शैली की दृष्टि से अलग स्थान प्राप्त थे । रीतिमुक्त कवियों ने शास्त्रीय रीतिबद्ध शैली को स्वीकार नहीं किया । वे आत्मानुभूति के आवेग में रचना करते थे । इनमें वैयक्तिकता की प्रधानता थी । ये कवि सामाजिक या दरबारी मर्यादा में बँधकर रचना करने वाले नहीं थे । इस धारा के सभी कवि प्रेममार्ग के पथिक थे । इन कवियों का प्रेम स्थूल जगत् से सम्बद्ध था किन्तु अपनी गम्भीरता, गहनता तथा व्यापकता में अलौकिक ऊँचाइयों को स्पर्श करने लगता था । अतः उस पर सूफी 'प्रेम की पीर' का प्रभाव तो था ही, साथ ही, इश्क मज़ाजी की इश्क हक़ीक़ी में परिणति थी । रीतिबद्ध कवियों का संयोग मांसल और स्थूल था जबकि रीतिमुक्त कवियों का भाव मानसिक था। इन कवियों ने संयोग की अपेक्षा वियोग वर्णन अधिक किया है । इन कवियों ने मुक्तक और प्रबन्ध दोनों विधाओं में रचना की । रीतिमुक्त कवि अपने मन पर पड़ने वाले प्रभाव का चित्रण मनोयोगपूर्वक करते हैं ।

रीतिमुक्त काव्यधारा के प्रमुख कवि हैं – घनानन्द, बोधा, आलम, ठाकुर और द्विजदेव । किन्तु इनमें घनानन्द का स्थान सर्वोपरि है। इनका प्रेममार्ग अत्यन्त सरल, सीधा और समर्पणप्रधान है। घनानन्द ने लिखा है –

अति सूधो सनेह को मारग, है जहाँ नेकु सयानप बाँक नहीं।
तहाँ साँचे चलैं तजि आपनपौ, झिझकैं कपटी जे निसाँक नहीं।
घनआनँद प्यारे सुजान सुनौ, यहाँ एक तें दूसरों आँक नहीं।
तुम कौन धौं पाटी पढ़े हौ कहौ, मन लेहु पै देहु छटाँक नहीं॥

ये लोकलाज का साहसपूर्वक तिरस्कार करके अपनी एकनिष्ठता में लीन रहने वाले थे । एक दृष्टि से रीतिमुक्त काव्य, रीतिबद्ध काव्य के विरुद्ध स्वच्छन्द वृत्ति के कवियों का विद्रोह दिखाई पड़ता है । इस स्वच्छन्द धारा के प्रमुख गुण – भावात्मक वक्रता, लाक्षणिकता, भावों की वैयक्तिकता, रहस्यात्मकता, मार्मिकता आदि माने जाते हैं । ये सभी गुण घनानन्द में स्फुट रूप से प्राप्त होते हैं । इनका जन्म 1689 ई. माना जाता है । इनका जीवनवृत्त अज्ञात है ।

1.4.5. विविधांग या विशिष्टांग निरूपक काव्य

रीतिकालीन कवियों का एक दूसरा वर्ग भी था जो काव्यशास्त्र के उन अंगों का निरूपण कर रहा था जिनमें उन्हें सरस उदाहरणों की रचना का अधिक अवकाश था । यह काव्य मुख्यतः तीन प्रकार का है – (i) रस-निरूपक, (ii) अलंकार-निरूपक और (iii) पिंगल-निरूपक ।

1.4.5.1. रस-निरूपक

रस-निरूपक आचार्यों ने मुख्यतः शृंगाररस का सांगोपांग विवेचन किया किन्तु अन्य रसों का संक्षिप्त परिचय मात्र दिया । इसमें भी उनकी अधिक रुचि नायक-नायिका भेद तक ही अधिक केन्द्रित रही । इनका आधार संस्कृत ग्रन्थ 'रसमंजरी' तथा 'रसतरंगिणी' थे । कहीं-कहीं 'नाट्यशास्त्र', 'कामशास्त्र', 'काव्यप्रकाश' और 'साहित्यदर्पण' से भी सहायता ली है । इस वर्ग के लगभग बीस कवियों और उनकी कृतियों का विवेचन 'हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास' के षष्ठ भाग में किया गया है । इनमें हिन्दी रीतिकवि तोष की 'सुधानिधि', देव के 'भावविलास', भिखारीदास के 'रस सारांश', सैयद गुलाम नबी 'रसलीन' के 'रसप्रबोध', पद्माकर के 'जगद्विनोद', बेनी 'प्रवीन' के 'नवरस तरंग' का विशेष स्थान है ।

1.4.5.2. अलंकार-निरूपक

अलंकार-निरूपक आचार्यों ने संस्कृत के जयदेव के 'चन्द्रालोक' ओर अप्पय दीक्षित के 'कुवलयानन्द' को अधिक आधार बनाया । हिन्दी में केवल केशवदास ने ही आचार्य दण्डी के 'काव्यादर्श' को अपने अलंकार-विवेचन का आधार बनाया । केशवदास के पचास वर्ष बाद महाराज जसवन्तसिंह ने 'कुवलयानन्द' के आधार पर अलंकार-निरूपण किया । इनके ग्रन्थ 'भाषाभूषण' में एक ही दोहे में लक्षण और उदाहरण भी 'कुवलयानन्द' की

शैली में निबद्ध किए गए हैं। इस वर्ग में मतिराम के 'ललितललाम', और 'अलंकार पंचाशिका' दो ग्रन्थ मिलते हैं। भूषण कवि का 'शिवराजभूषण' तथा रीतिकाल के अन्तिम प्रसिद्ध आचार्य पद्माकर का ग्रन्थ 'पद्माभरण' सरस तथा संक्षिप्त शैली के कारण विशेष उल्लेखनीय अलंकार-निरूपक ग्रन्थ हैं।

1.4.5.3. पिंगल-निरूपक

पिंगल या छन्द-निरूपक आचार्यों में सर्वप्रथम केशवदास तथा उनके बाद आचार्य चिन्तामणि और उनके भाई मतिराम माने जाते हैं। केशव ने 'छन्दमाला' की रचना कवि शिक्षक के रूप में की। वे स्वयं लिखते हैं–

भाषा कवि समुझै सबै सिगरे छंद सुझाइ।
छंदन की मालाकरी सोभन केसवराइ॥

मतिराम की 'वृत्तकौमुदी' छन्दनिरूपक ग्रन्थों में महत्त्वपूर्ण है। इनमें मात्रिक और वर्णिक छन्दों का सुव्यवस्थित और परिपूर्ण विवेचन किया गया है। हिन्दी' में काव्यशास्त्रीय विवेचन की परम्परा संस्कृत से भिन्न रही। संस्कृत में लक्ष्य ग्रन्थों की रचना पहले हुई और लक्षण ग्रन्थों की रचना बाद में। संस्कृत में कवि अविचारित सौन्दर्ययुक्त रचना प्रस्तुत करता था और उसके आधार पर आचार्य सुविचारित नियमों की स्थापना करते थे। हिन्दी में दोनों प्रकार की रचना एक ही व्यक्ति करने लगा। परिणामस्वरूप संस्कृत की बँधी-बँधाई पद्धति पर लक्षणों का अनुवाद प्रस्तुत करके उसके अनुसार उदाहरण प्रस्तुत किए जाने लगे। हिन्दी के तथाकथित आचार्य मौलिक चिन्तक नहीं थे।

हिन्दी के भारतेन्दु युग तक रस, छन्द, अलंकार के ज्ञान को विद्वत्ता का प्रतीक माना जाता था। कालान्तर में नवजागरण, सुधारवादी प्रवृत्ति, ज्ञान-विज्ञान के विविध क्षेत्रों के विस्तार तथा द्विवेदीयुगीन आदर्शवादी राष्ट्रीय चेतना के प्रसार, राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन एवं प्रगतिवादी चेतना के फलस्वरूप तत्कालीन उपयोगितावादी दृष्टि प्रधान हो गई और रीतिकाल को अश्लील तक कहा जाने लगा। बाद में शुक्लोत्तर युग के विद्वानों में आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, भगीरथ मिश्र आदि आधुनिक आलोचकों ने रीतिकाल के साहित्यिक शाश्वत स्वरूप की पुष्टि की।

1.4.6. शृंगारेतर काव्य

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा डॉ॰ नगेन्द्र के साहित्येतिहास ग्रन्थों में उल्लिखित है कि स्वच्छन्द धारा के कवियों ने रीतिकाल में लक्षण-लक्ष्य परम्परा से मुक्त होकर अनेक काव्य-ग्रन्थ लिखे। रीतिकालीन कुछ कवियों ने आदिकाल और भक्तिकाल की प्रवृत्तियों का विस्तार करते हुए, सन्त काव्य, सूफी काव्य, प्रशस्ति काव्य तथा नीति, वैराग्य आदि काव्य का सृजन किया। यह रीतिकाल का शृंगारेतर काव्य है। इनमें से कुछ प्रबन्ध, कुछ निबन्ध और कुछ मुक्तक हैं। प्रबन्ध काव्यों में सबलसिंह का 'महाभारत', गुरु गोविन्दसिंह का 'चण्डीचरित्र', लाल कवि का 'छत्रप्रकाश', जोधराज का 'हम्मीर रासो', गुमान मिश्र का 'नैषध चरित्र', सूदन का 'सुजान चरित्र',

देवीदत्त का 'वैताल पचीसी', चन्द्रशेखर का 'हम्मीर हठ', श्रीधर का 'जंगनामा', पद्‌माकर का 'रामरसायन', मधुसूदन दास का 'रामाश्वमेध' आदि की गणना की जाती है। कुछ वर्णनात्मक प्रबन्ध भी लिखे गए जिनमें वनविहार, मृगया, झूला, जलविहार, होली, जन्मोत्सव, रामकलेवा आदि का वर्णन है। तीसरे प्रकार की रचनाएँ सूक्तिप्रधान हैं। इनमें वाग्वैदग्ध्यपूर्ण तथ्य कथन रहता है। इस वर्ग में – वृन्द, गिरधर, घाघ और वैताल आदि की परिगणना की जाती है। चौथे प्रकार में ज्ञानोपदेश तथा वैराग्यपरक पद्यों को रखा जा सकता है। इनके अतिरिक्त भक्तकवि तथा प्रशस्तिकाव्य-रचनाकारों का भी उल्लेखनीय योगदान है।

1.4.6.1. भक्तिकाव्य

रीतिकालीन शृंगारप्रधान वातावरण में भी सामान्य जनता में भक्तिकाव्य का विशेष महत्त्व एवं सम्मान था। कवि भी अपना जीवन राजदरबारों में व्यतीत करने के बाद वृद्धावस्था में सामान्य जन ही बन जाता था। निम्न वर्णों में सन्तों और सूफियों का तथा सवर्णों में राम-कृष्ण की भक्ति का अधिक प्रचार था। भक्ति में आडम्बर की भी प्रमुखता थी। रीतिकालीन अधिकांश कवियों ने जीवन के उत्तरार्द्ध में ही भक्तिकाव्य की रचना की। उसमें उनका दैन्य और अभाव झलकता है। इसके साथ ही, राधा-कृष्ण के प्रेम-प्रसंग का सहारा लेकर रीतिकालीन भक्त कवियों ने लौकिक प्रेम को अलौकिकता से भी जोड़ा।

उत्तर भारत में रामानन्द की निर्गुणोपासक शिष्य परम्परा, बिहार में दरियासाहब की लम्बी शिष्य परम्परा प्रचलित थी। इनमें दादूदयाल, पलटू साहब, चरनदास आदि प्रमुख सन्त हैं। तुलसी साहब दक्षिण के ब्राह्मण और पूना के युवराज थे। गुरु तेगबहादुर सिक्खों के नवें गुरु थे। इनकी वाणियाँ 'आदिग्रन्थ' में संकलित हैं। अक्षर अनन्य ने योग-वेदान्त पर छह पुस्तकों की रचना की है। सूफी काव्यधारा भी भक्ति से रीतिकाल तक प्रवाहित होती रही। रीतिकाल में इसके दो रूप मिलते हैं – एक शुद्ध सैद्धान्तिक और दूसरा शुद्ध प्रेमपरक। दोनों रूप भारतीय प्रेम कथाओं पर आधारित हैं। पहले रूप में रहस्यात्मकता प्रमुख है तो दूसरे में प्रेम का महत्त्व। कासिम शाह का 'हंसजवाहर' (1736 ई.), और नूर मुहम्मद का 'इन्द्रावती' (1744 ई.) उल्लेखनीय है। ये भक्तिप्रधान प्रेमाख्यान काव्य हैं। इनकी भाषा क्रमशः अवधी, ब्रजमिश्रित तथा परिनिष्ठित अवधी है।

रामकाव्य और कृष्णकाव्य भी रीतिकाल में रचा गया। रामकाव्य में रसिकता या शृंगारी प्रवृत्ति घुलने लगी थी। कृष्णभक्ति में तो माधुर्योपासना थी ही। रामकाव्य में सिक्खों के दसवें गुरु गोविन्द सिंह की 'गोविन्द रामायण', जानकी रसिकशरण (1700 ई.) का 'अवधसागर', भगवन्तराय खीची का हनुमत्पचीसी (1760 ई.), जनक राजकिशोरी शरण (रचनाकाल 1800 ई.), नवलसिंह कायस्थ (1816 से 1867 ई.) तथा रीतिकाल के अन्तिम प्रसिद्ध रामभक्त कवि रीवाँनरेश विश्वनाथ सिंह प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं।

कृष्णकाव्य में गुमान मिश्र का 'कृष्णचन्द्रिका (1781 ई.), ब्रजवासी दास का 'ब्रजविलास' (1770 ई.) कवि मंचित का 'सुरभिदानलीला' और 'कृष्णायन' (1779 ई. के लगभग) उल्लेखनीय हैं। मुक्तक शैली के

रचनाकारों में सखी सम्प्रदाय के भक्तवर नागरीदास (रचनाकाल 1723 – 1762 ई.), अलबेली अली, चाचा हितवृन्दावनदास तथा भगवत रसिक आदि प्रमुख रचनाकार हैं।

1.4.6.2. वीर और प्रशस्तिपरक काव्य

रीतिकालीन वीरकाव्य में मान कवि का उल्लेख सर्वप्रथम किया जा सकता है। इन्होंने अपने आश्रयदाता मेवाड़ नरेश राजसिंह की प्रशंसा में 'राजविलास' (1677 ई.) की रचना की। इसमें राजस्थानी मिश्रित ब्रजभाषा का प्रयोग है। कवि सूदन ने अपने 'सुजानचरित' में अपने आश्रयदाता भरतपुर के सुजान-सिंह 'सूरजमल' की युद्धवीरता का वर्णन किया है। इन्हें संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और अनेक भाषाओं का अच्छा ज्ञान था। इसके अतिरिक्त जोधराज ने नींवगढ़ (अलवर) के राजा चन्द्रभान चौहान की आज्ञा से 'हम्मीररासो' की रचना 1828 ई. में की जिसमें रणथम्भौर के हम्मीर तथा अलाउद्दीन के युद्धों का वर्णन है।

मुक्तक वीरकाव्यों में भूषण के 'शिवाबावनी' और 'छत्रसालदशक' के अतिरिक्त कविराज बाँकीदास का नाम उल्लेखनीय है। 'सूर छत्तीसी' और 'वीर विनोद' इनके प्रसिद्ध वीर रसात्मक काव्य-ग्रन्थ हैं। आदिकालीन वीरगाथा की रचना प्रायः चारणों और भाटों ने की थी। उनमें अत्युक्तिपूर्ण चाटुकारिता अधिक थी। रीतिकालीन वीरकाव्य में राष्ट्रहित प्रमुख था। आदिकालीन कवियों की भाषा डिंगल थी और रीतिकाल की भाषा ब्रज थी। तुलनात्मक दृष्टि से कहा जा सकता है कि आदिकाल की तुलना में रीतिकालीन वीरकाव्य ऐतिहासिक प्रामाणिकता, भाव व्यंजना-कौशल, भाषा की शुद्धता आदि की दृष्टि से अधिक समुन्नत और श्रेष्ठ है।

1.4.6.3. नीतिपरक काव्य

रीतिकालीन काव्य में नीति-वैराग्य, प्रशस्ति तथा भक्तिपरक उक्तियाँ दो रूपों में प्राप्त होती हैं – (i) लक्षण ग्रन्थों में उदाहरणस्वरूप निबद्ध और (ii) स्वतन्त्र रूप से।

विशेषकर स्वतन्त्र रूप से जीवन-जगत् के यथार्थ रूप को प्रकट करने वाले छन्दों की रचनाएँ नीतिकाव्य के अन्तर्गत ही मिलती हैं। वास्तविकता यह भी है कि इन आकुल अन्तर्मन के कवियों के लिए भक्तिभाव शरण-भूमि थी और संघर्षमय दरबारी जीवन के घात-प्रतिघातों से उत्पन्न मानसिक द्वन्द्व के विरेचन हेतु नीतिपरक काव्य-रचना शान्ति का आधार थी। इन कवियों के आत्मोपदेश तथा अन्योक्तिपरक छन्दों में इनके वैयक्तिक अनुभवों की छाप स्पष्टतः परिलक्षित होती है। इन छन्दों में रीति परम्परा का अनुसरण होने के साथ-साथ जीवन के उत्थान-पतन, आशा-निराशा का चित्रण भी मिलता है।

रीतिकाल में वृन्द (1643 – 1723 ई.) ने 'दृष्टान्त सतसई', या 'वृन्द सतसई' की रचना की थी। इनमें सद्गुण-दुर्गुण आदि विषयक दोहों का संग्रह है। गिरधर ने कुण्डलियों की रचना की। इनमें सामाजिक-पारिवारिक सम्बन्धों पर नैतिक दृष्टि से प्रकाश डाला गया है। इस वर्ग के अन्तिम रीतिकालीन कवि दीनदयाल गिरि (काव्य काल 1822 – 1855 ई.) की 'अन्योक्ति कल्पद्रुम', 'अन्योक्तिमाला' और 'दृष्टान्त तरंगिणी' में विविध विषयों पर

गुण-दोषों की दृष्टि से विचार किया गया है । इन नीतिकाव्यों में लोकजीवन के अनुभवों को प्रस्तावित किया गया है । 'वृन्द सतसई' का यह दोहा भले मनुष्य की पहचान को व्यंजित करता है –

भले बुरे सब एक सम, जो लौं बोलत नाहिं।
जान परत हैं काक पिक ऋतु बसन्त के माहिं॥

1.4.6.4. तत्त्वज्ञान एवं वैराग्यपरक काव्य

वैराग्य तथा तत्त्वज्ञान का महत्त्व भी रीतिकालीन काव्य में मिलता है । यह अत्यधिक शृंगारिकता का मनोवैज्ञानिक परिणाम था । इसमें सांसारिक व्यक्तियों के लिए प्रबोधन है। इसमें नीति के साथ अध्यात्म-कथन भी है । जीवन की क्षणभंगुरता, संसार की असारता, मोह-माया के बन्धन से मुक्ति आदि विषयों को रोचक शैली में प्रस्तुत किया गया है।

रीतिकालीन कवियों ने अपने समय की सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक आदि पृष्ठभूमि से जैसी मानसिक अवस्था प्राप्त की थी उसमें भक्ति की तरह ही वैराग्य भाव भी सहज सम्भूत था । रीतिकवियों ने अपने जीवनानुभवों को नीति तथा वैराग्यमूलक उक्तियों में निबद्ध किया है । नीति, तत्त्वज्ञान और वैराग्य विषयक सूक्तियाँ महाभारत, पुराण, महाकाव्य और मुक्तकों में प्राचीनकाल से ही प्राप्त होती रही हैं । संस्कृत में विदुर, चाणक्य, भर्तृहरि आदि; प्राकृत में गाहासत्तसई, वज्जालग्ग; तथा अपभ्रंश में पाहुड़दोहा उपदेशरसायन, प्राकृत पैंगलम आदि नीति-वैराग्य एवं तत्त्वज्ञानपरक दोहों के उद्‌बोधक ग्रन्थ हैं । हिन्दी के भक्तिकाल में भी कबीर, तुलसी, रहीम आदि कवियों ने इस ज्ञानधारा को आगे बढ़ाया । रीतिकाल में इसी परम्परा का विस्तार पाया जाता है ।

1.4.7. रीतिकालीन काव्य का भाषा-शिल्प

रीतिकालीन कवियों की भाषा मुख्यतः ब्रज थी । ब्रज भारत के हृदयस्थल मध्यदेश की भाषा थी । शौरसेनी अपभ्रंश से इसका विकास हुआ और हिन्दी साहित्य के मध्यकाल की साहित्यिक भाषा के रूप में दूर-दूर तक इसका विस्तार हुआ । बंगाल के पश्चिमी किनारे से पंजाब और गुजरात के पूर्वी किनारे तक इसका प्रसार था। अतः राजस्थानी, पंजाबी, बुंदेलखंडी और पूर्वी क्षेत्रों की शब्द-सम्पदा ब्रज की विस्तृत सीमा में समाहित हो गई । यहाँ तक कि खड़ीबोली, उर्दू, अरबी-फ़ारसी और तुर्की के भी शब्द ब्रज में रच-बस गए । मध्यकालीन हिन्दी कविता पर मध्यदेश की भाषा और संस्कृति का प्रभाव भी पड़ा । आचार्य भिखारीदास ने इस ओर संकेत करते हुए कहा है कि –

तुलसी गंग द्वौ भए सुकविन के सरदार।
इनके काव्यन में मिली भाषा विविध प्रकार॥

भाषा-क्षेत्र के विस्तार के कारण ही यह विविधता दिखाई देती है । लगभग छह सौ वर्षों तक काव्य-भाषा के रूप में ब्रज का प्रयोग सैकड़ों कवियों ने किया । व्याकरण सम्बन्धी शिथिलता तथा विविधता ब्रजभाषा का अंग

बन गई। अतः वाक्य, लिंग, शब्द रूप आदि से सम्बन्धित दोषों का निराकरण नहीं हो सका। कहीं-कहीं अप्रचलित देशज शब्दों के प्रयोग से दुरूहता भी आ गई। फिर भी बिहारी, घनानन्द, पद्माकर आदि के काव्य में ब्रजभाषा का शुद्ध रूप मिलता है। लाक्षणिक व्यंजना इन कवियों की विशेषता बन गई। बिम्बात्मकता, चित्रात्मकता, अनेक अर्थ-छवियाँ रीति-कवियों की बहुविध सृजन-क्षमता को अभिव्यक्त करती हैं। इन कवियों ने फ़ारसी के शब्दों को ब्रजी के अनुकूल ढाल कर ही प्रयोग किया है। यथा –

कहै पद्माकर सु पन्नन के हौज हरे
ललित लबालब भरे हैं जल बास-बास।
गूँदि गेंदे गुल गज गौहरनि गंज गुल
गुपत गुलाबी गुल गजरे गुलाब पास।
खासे खस बीजन सुपौन पौन खाने खुले।
खस के खजाने खसखाने खूब खास खास ॥

रीतिकालीन काव्य की भाषा में शृंगार रसानुकूल माधुर्यगुण तो मिलता ही है, साथ ही उसमें ओजगुण की अभिव्यक्ति क्षमता भी पर्याप्त है। भाषा की सुघड़ता और सरलता रीतिकालीन ब्रजभाषा की अपनी मौलिक विशेषता है। इसी युग में भाषा-शैली को कलात्मक सज्जा प्रदान की गई। वस्तुतः मुग़ल दरबार में कलात्मक अभिव्यक्ति को विशेष महत्त्व प्राप्त था। देशी राज-दरबारों की भी यही स्थिति थी। अतः कवियों की शिल्प सम्बन्धी सजगता स्वाभाविक थी। भारतेन्दु युग तक इन कवियों की काव्य-भाषा का वर्चस्व बना रहा।

1.4.8. सारांश

वस्तुतः रीतिकालीन काव्य का उद्भव सामन्ती समाज की पृष्ठभूमि में हुआ था। सामन्ती मनोवृत्ति और शास्त्रीयता का अद्भुत संयोग रीतिकाव्य में प्रतिबिम्बित होता है। चमत्कार-प्रदर्शन, शृंगार और सौन्दर्य रीतिकाव्य के प्रमुख बिन्दु हैं। रीतिकाल में अतिशय शृंगारिकता के परिणामस्वरूप ही भक्ति, वैराग्य, वीरता, प्रशस्ति और नीतिपरक काव्य-रचना भी सृजित हुई है। इन काव्यधाराओं का अध्ययन रीतिबद्ध, रीतिसिद्ध और रीतिमुक्त काव्य के अन्तर्गत किया जा सकता है। इन सभी काव्य-प्रवृत्तियों में रीतिकालीन परिवेश का प्रभाव पाया जाता है। काव्यरूप की दृष्टि से रीतिकालीन काव्य मुक्तक प्रधान है। ये मुक्तक अपनी पूर्ववर्ती भक्ति, वीर, नीति, वैराग्य आदि काव्यों की सुदीर्घ परम्परा का विस्तार हैं।

1.4.9. अभ्यास-प्रश्न

1. रीतिबद्ध तथा रीतिमुक्त काव्य के अन्तर को स्पष्ट कीजिए।
2. रीतिमुक्त काव्य की विशेषताओं को रेखांकित कीजिए।
3. रीतिकालीन भक्ति-भावना के स्वरूप का परिचय दीजिए।
4. रीतिकालीन नीतिकाव्य की विशेषताओं का परिचय दीजिए।

5. रीतिकालीन कवियों की भाषा-शैली पर प्रकाश डालिए।
6. रीतिकालीन शृंगारेतर काव्य-प्रवृत्तियों का संक्षेप में उल्लेख कीजिए।
7. दरबारी काव्य-परम्परा की दृष्टि से रीतिकालीन काव्य की समीक्षा कीजिए।
8. रीतिकालीन सामाजिक पृष्ठभूमि ने तत्कालीन काव्य को किस प्रकार प्रभावित किया। स्पष्ट कीजिए।

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 2 : आधुनिककाल : पूर्वपीठिका

इकाई – 1 : आधुनिकता की अवधारणा, आधुनिकता से अभिप्राय, नामकरण

इकाई की रूपरेखा

2.1.0. उद्देश्य कथन
2.1.1. प्रस्तावना
2.1.2. आधुनिकता की अवधारणा
2.1.3. आधुनिकता से अभिप्राय
2.1.4. नामकरण
2.1.5. पाठ-सार
2.1.6. अभ्यास-प्रश्न
2.1.7. सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

2.1.0. उद्देश्य कथन

प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. आधुनिकता क्या है ! इसे जाना जा सकेगा।
ii. आधुनिकता के निर्धारक तत्त्वों का अध्ययन किया जा सकेगा।
iii. आधुनिकता को प्रभावित करने वाले विभिन्न परिवेशों की जानकारी मिल सकेगी।
iv. आधुनिकता के नामकरण की प्रक्रिया को जाना जा सकेगा।
v. आधुनिकता से अभिप्रेत तत्त्वों और तथ्यों को समझा जा सकेगा।

2.1.1. प्रस्तावना

भारतवर्ष में उन्नीसवीं सदी का मध्यकाल अर्थात् सन् 1857 ई. का समय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कालखण्ड रहा। यद्यपि अंग्रेज़ी शासन की नींव तो इससे सौ वर्ष पूर्व (सन् 1757 ई.) में प्लासी की लड़ाई के दौरान ही पड़ चुकी थी। किन्तु इस कालखण्ड में ब्रिटिश शासन-व्यवस्था भारतीय परिवेश में पूर्णतः स्थापित हो गई। अंग्रेज़ी राज की स्थापना के साथ-साथ भारतीय जनजीवन भी एक नयी सभ्यता और संस्कृति के सम्पर्क में आया। और इस नवीन सभ्यता और संस्कृति ने काफी हद तक भारतीय परिवेश को भी प्रभावित किया। इसीलिए कई विद्वान् आधुनिककाल पर पाश्चात्य प्रभाव को भी स्वीकार करते हैं। इसके प्रभाव ने नवीन विचारधाराओं को जन्म दिया और यहीं से आधुनिकता का सूत्रपात हुआ। संक्षेप में नवीन विचारों और भावों के पल्लवन को ही आधुनिकता माना जाता है।

साहित्यिक दृष्टि से भी यह कालखण्ड विकास और परिवर्तनों का समय था। हिन्दी साहित्य की दृष्टि से देखें तो शायद ही इतना विकास और परिवर्तन किसी अन्य युग में हुआ हो। भाषायी दृष्टि से आधुनिककाल ब्रजभाषा से मुक्त हुआ और खड़ीबोली की प्रतिष्ठापना हुई। पहली बार इस युग में गद्य-विधा में साहित्य-सृजन की शुरुआत हुई। ऐसा नहीं था कि इस युग में पद्य रचनाएँ बंद हो गई थीं बल्कि गद्य-विधा में सृजन प्रचुर मात्रा में होने लगा था, इसीलिए इस युग को गद्यकाल भी कहा गया। इसकी सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता यह थी कि इस युग में साहित्य के विविध रूपों के विकास के द्वार उजागर हुए। नाटक, निबन्ध, कहानी, उपन्यास आदि साहित्य विधाएँ पहली बार जनजीवन के सम्पर्क में आईं। रचनाकारों ने भी भक्ति-भाव, वीर रस और शृंगार से परे जाकर लोकाभिमुख साहित्य की रचना की। पहली बार सामान्य मनुष्य की संवेदनाएँ साहित्य के केन्द्र में स्थान पाने लगीं। विषय व्यापकता के साथ साहित्य ने इस युग में विशेष उन्नति की। पद्य विधा की दृष्टि से कविताएँ पश्चिमी शिक्षा व्यवस्था, राजनीति, समाज, अर्थव्यवस्था आदि से प्रभावित होकर नव-नवीन विषयों की ओर उन्मुख होती गईं।

भारतीय सभ्यता और संस्कृति अब तक के विविध आक्रमणों, नियन्त्रणों, विभिन्न विजेताओं से प्रभावित होकर बहुत अस्थिर और शिथिल हो चली थी। अंग्रेज़ों ने राजनैतिक और सामाजिक दृष्टि से इसका लाभ उठाकर अपनी सभ्यता का परिचय एक शक्तिशाली और गतिमान सभ्यता के रूप में करवाया। नियोजनबद्ध तरीके से की गई इस गतिविधि के कारण भारतीय जनजीवन भी इस नयी सभ्यता से बहुत प्रभावित हुआ।

परिणामतः साहित्यिक दृष्टि से भी व्यापक परिवर्तन सामने आए। रूढ़िवादिता से आगे बढ़कर रचनाकारों ने भी नवीनता और आधुनिकता को अपनाया। इस सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि साहित्यिक दृष्टि से आधुनिकता के बीज बोने का श्रेय पश्चिमी सभ्यता और प्रभावों को जाता है। प्लासी की लड़ाई के बाद अंग्रेज़ भारत के उत्तरी हिस्से में भले ही अपनी विजय-पताका लहरा चुके थे किन्तु इसका प्रभाव हिन्दी प्रदेशों पर उस प्रमाण में नहीं था। हिन्दी प्रदेश में अंग्रेज़ों का प्रभाव बक्सर की लड़ाई के बाद अर्थात् सन् 1764 ई. में व्याप्त हो पाया। क्योंकि बक्सर की लड़ाई के बाद हिन्दी के पूर्वी प्रदेश पर अंग्रेज़ों ने अपना अधिकार जमा लिया। इसी के बाद अंग्रेज़ धीरे-धीरे हिन्दी प्रदेशों के चारों ओर फैलते गए। बिहार से अवध, बनारस की लासवाड़ी की लड़ाई के बाद आगे बढ़ते हुए आगरा और दिल्ली के प्रदेशों पर उनका अधिकार स्थापित हो गया। भारतीय परिवेश के उत्तर मध्य तक साम्राज्य विस्तार के कारण फ्रांसीसी और मराठों की शक्तियाँ भी क्षीण होने लगीं। कई राजपूत रियासतें भी सन् 1800 ई. के आसपास अंग्रेज़ों के अधीन हो गईं। और इस प्रकार अंग्रेज़ों का साम्राज्य विस्तार क्रमशः आगे बढ़ता रहा। सन् 1857 ई. की क्रान्ति के बाद ईस्ट इंडिया कंपनी की बागडौर अंग्रेज़ों के हाथों में चली गई। इस तरह साम्राज्य विस्तार के साथ-साथ शासन-व्यवस्था की कमान हाथ आते ही भारतीय जनमानस अंग्रेज़ों की नवीन शासन-नीतियों से परिचित हुआ। यहाँ परिवर्तन केवल शासन-तन्त्र का ही नहीं था अपितु सन् 1857 ई. की क्रान्ति के कुछ पहले और बाद में बहुत वैज्ञानिक और तकनीकी दृष्टि से बहुत अविष्कार हुए जिन्होंने कालान्तर में भारत के विविध क्षेत्रों को बहुत प्रभावित किया। इन प्रभावित क्षेत्रों में साहित्य-जगत् भी था। साहित्य समाज का दर्पण है। ऐसे में सामने आ रहे विविध परिवर्तनों की प्रतिच्छाया साहित्य पर पड़नी ही थी।

आधुनिकता के इन परिवर्तनों के बीच भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के आगमन ने इस युग को एक नव चेतना प्रदान की। इन्हीं की प्रेरणा से हिन्दी को नवजीवन प्राप्त हुआ और हिन्दी को लेकर एक आन्दोलन का वातावरण बनने लगा। विविध सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक संगठनों ने इस चेतनाओं को प्रेरणा प्रदान की। साहित्यिक दृष्टि से काशी नागरीप्रचारिणीसभा, 'सरस्वती' पत्रिका आदि की भूमिका भी महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुई। इन पत्रिकाओं और संस्थाओं के माध्यम से भारतीय जनजीवन के बीच भारतीय संस्कृति की महत्ता को प्रस्थापित करने का प्रयास किया गया। साथ ही रचनाकारों ने अपने-अपने तरीके से ब्रिटिश शासन की अराजकतापूर्ण नीतियों को उजागर किया। रचनाकारों ने अपनी रचनाओं में यह बताने का प्रयास किया कि किस तरह अंग्रेज़ भारतीय सभ्यता को नष्ट कर रहे हैं, किस प्रकार वे देश को गुलाम बना रहे हैं, किस तरह देश को लूट रहे हैं। इस प्रकार के कई विषयों पर रचनाकारों की लेखनी चली। भारतेन्दु ने कहा है –

अँगरेज़ राज सुख साज सजे सब भारी।
पै धन विदेस चली जात यहै अति ख्वारी॥

अंग्रेज़ों की नीतियों से देश की आर्थिक स्थिति चरमरा गई थी। जिसे सुधारने में कालान्तर में बहुत समय लगा। आधुनिककाल ने रचनाकारों के समक्ष कई विषय प्रस्तुत किए जिसका अनुसरण करते हुए रचनाकारों ने साहित्य-सृजन कर भारतीय समाज का मार्गदर्शन किया।

साहित्यिक दृष्टि से आधुनिककाल विषय, भाव, संवेदनाओं, शैली आदि सभी दृष्टियों से परिवर्तन का युग रहा। इस युग ने विभिन्न विषयों के साथ साहित्य के दो रूपों को विकसित किया। खड़ीबोली के माध्यम से राष्ट्रप्रेम की भावना का विकास हुआ, रचनाकारों ने जीवन से सम्बन्धित साहित्य भी रचे इसके साथ ही जीवन के विविध पक्ष, स्वानुभूतियों की निरपेक्ष अभिव्यक्ति आदि विषयों पर रचनाकारों ने अपनी लेखनी चलाई। प्रस्तुत पाठ में साहित्यिक दृष्टि से आधुनिकता की संकल्पना और उसका तात्पर्य समझने का प्रयास किया जाएगा। साथ ही, इस कालखण्ड के नामकरण को लेकर भी चर्चा की जाएगी।

2.1.2. आधुनिकता की अवधारणा

'आधुनिकता' शब्द अपने आप में कई अर्थों को पोषित करता है। सामान्यतः ये अर्थ विभिन्न मत-मतान्तरों से सृजित होते रहते हैं। प्रायः प्रत्येक विद्वान् इसकी अभिव्यक्ति के लिए विभिन्न तथ्यों का सहारा लेते हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि आधुनिकता को लेकर विद्वानों में अलग-अलग संकल्पनाएँ और मनोवृत्तियाँ विद्यमान होती हैं। यही वृत्तियाँ और संकल्पनाएँ अवधारणा कहलाती हैं। आदिम सभ्यता से ही मनुष्य समाज क्रमशः प्रगति करता रहा और अपने आप को सभ्यता की दिशा में विकसित करता रहा। प्रत्येक सभ्यता और समाज के कुछ जीवन-मूल्य होते हैं कुछ तौर-तरीके होते हैं जिनमें समय के साथ-साथ परिवर्तन होते रहते हैं। ये परिवर्तन नवीनता के सापेक्ष होते हैं जिसे 'आधुनिकता' कहा जाता है। किन्तु यह भी आधुनिकता की व्याख्या नहीं हो सकती क्योंकि वर्तमान आधुनिकता भी भविष्य की दृष्टि से पुरानी हो सकती है। इसीलिए विद्वान्

आधुनिकता को स्पष्ट करने के लिए अतीत का आधार ग्रहण करते दिखाई देते हैं। जिसकी पुष्टि करते हुए जी. एस. फ्रेजर कहते हैं – "आधुनिकता को अपनी सुरक्षा के लिए अतीत से सम्बन्ध रखना चाहिए।" आधुनिकता की प्रासंगिकता चिरकालिक नहीं होती। इस तरह से आधुनिकता की अवधारणा को स्पष्ट करना पेचीदा हो जाता है। वैसे भी आधुनिकता को समझा जा सकता है किन्तु व्याख्यायित नहीं किया जा सकता। क्योंकि आधुनिकता अपने आप में एक व्यापक अर्थ को समाए हुए है और ये अर्थ सतत बदलते रहते हैं। इसे समझने के लिए हमें विद्वानों की मान्यताओं और मतों का सहारा लेना पड़ता है।

आधुनिकता को परिभाषित करते हुए अपने 'आधुनिक बोध' नामक ग्रन्थ में रामधारी सिंह 'दिनकर' कहते हैं – "आधुनिकता एक प्रक्रिया का नाम है। यह प्रक्रिया अन्धविश्वास से बाहर निकालने की प्रक्रिया है। यह प्रक्रिया नैतिकता में उदारता बरतने की प्रक्रिया है। यह प्रक्रिया बुद्धिवादी बनाने की प्रक्रिया है। यह प्रक्रिया धर्म के सही रूप पर पहुँचने की प्रक्रिया है।" अर्थात् दिनकर आधुनिकता को एक सकारात्मक विकास-प्रक्रिया के रूप में स्वीकार करते हैं। इसी तरह कुछ विद्वान् आधुनिकता को विज्ञान से प्रेरित मानकर उसे वैज्ञानिक विकास के साथ वैज्ञानिकता से प्रवाहित मनोवृत्तियों की परिवर्तित होती एक प्रक्रिया मानते हैं। वहीं कुछ विद्वान् आधुनिकता को अतीत के आधार पर वर्तमान की सम्यक् और सार्थक तुलना की एक प्रक्रिया मानते हैं। उल्लेखनीय है कि प्रायः सभी विद्वानों ने आधुनिकता के लिए विकास और प्रक्रिया पर जोर दिया है। लक्ष्मीकान्त वर्मा ने आधुनिकता को परिभाषित करते हुए कहा है – "आधुनिकता इसलिए कोई रूढ़ि नहीं है, वह एक ऐतिहासिक परिधि है जो एक युग के मानसिक धरातल को कुछ नयी उपलब्धियों के अनुसार काटती-छाँटती है अथवा नए सन्दर्भ जोड़ती है और पुरानों को या ऐसों को जो सतत गतिशील नहीं रह पाते, अपने से पृथक् भी कर देती है।" (– नयी कविता के प्रतिमान)

उपर्युक्त तथ्यों का अवलोकन करने पर स्पष्ट हो जाता है कि आधुनिकता का आधार अतीत ही है। सभी विद्वानों ने आधुनिकता को अतीत के साथ ही स्वीकार किया है। आधुनिकता के परिप्रेक्ष्य में अतीत के मान्य स्तम्भों को यूँ ही खारिज नहीं किया जा सकता अपितु ऐसा करते समय हमें समयानुकूल नये प्रतिमानों को भी पूरी सशक्तता के साथ स्थापित करना पड़ता है। ये नये प्रतिमान ही परिस्थितियों को चलायमान करते हैं। आधुनिकता पुरातनता या अतीत का विरोध कतई नहीं है, बल्कि यह परिस्थिति के अनुरूप अतीत और वर्तमान का संयोग है। यह वर्तमान चिरकालिक है जिसका अन्त नहीं है अतः आधुनिकता की परिधि भी अनिश्चित ही है। आधुनिकता गतिशीलता और सापेक्ष विकास की द्योतक होती है, इसीलिए कई बार इसे भी विरोध का सामना करना पड़ता है। यह आधुनिकता हमेशा से ही विगत विकृति का विरोध करती है। जिससे व्यक्ति और समाज नवीनता की ओर उन्मुख होता है। इसीलिए आधुनिकता में जनहित के अंशों की अनदेखी नहीं की जा सकती। किन्तु नितान्त आधुनिकता घातक हो सकती है। ऐसा तब होता है जब आधुनिकता के तथ्यों को बिना सोचे-समझे उनका अंधानुकरण होने लगता है।

आधुनिकता को पश्चिम से प्रेरित माना गया है। विद्वानों ने भी पश्चिमी सभ्यता के संक्रमण के उपरान्त भारतीय परिवेश में हुए परिवर्तनों के बाद से आधुनिकता के प्रभाव को स्वीकार किया है। यहाँ विशेष बात यह है

कि, आधुनिकता और आधुनिक दोनों शब्दों में कोई विशेष अन्तर प्रतीत नहीं होता किन्तु साहित्य में आधुनिक शब्द मध्यकाल और रीतिकाल से पृथक् होने का संकेत है जबकि आधुनिकता वैज्ञानिक विकास से प्रेरित है। जिसमें द्वितीय विश्वयुद्ध की परिणति के पुट समाए हुए हैं। आधुनिकता के पदार्पण के बाद साहित्य रीतिकालीन अतीव रूमानी प्रवित्तियों का प्रभाव कम होकर रचनाओं में तकनीकी, विज्ञान, महानगरीय संत्रास, औद्योगीकरण जैसे नये विषयों ने स्थान पाया। और एक नयी प्रवृत्ति का अविर्भाव हुआ। आधुनिकता की अवधारणा को हम निम्नलिखित मुद्दों के आधार पर समझ सकते हैं–

(i) आधुनिकता विकास से प्रेरित है किन्तु इसे प्रमाणित करने के लिए अतीत का सहारा लेना पड़ता है। अर्थात् अतीत के आधार पर ही आधुनिकता की कसौटी को कसा जा सकता है।

(ii) आधुनिकता पर पश्चिमी राजनैतिक गतिविधियों का भी प्रभाव रहा जिसने मानव समाज के विचारों को भी प्रभावित किया। अतः आधुनिकता में भावों और संवेदनाओं की नवीनता है।

(iii) अतीत की सभ्यता और संस्कृति तथा मूल्यों पर नवप्रभाव आधुनिकताहै। यद्यपि यह पुराने मूल्यों की प्रतिक्रिया न होकर सापेक्षिक विकास की परिणति है। अर्थात् आधुनिकता पुरातन मूल्यों का विरोध नहीं है अपितु उनमें नये दृष्टिकोण को समाविष्ट करता है।

(iv) प्रायः प्रत्येक नया परिवर्तन आधुनिकता से प्रेरित होता है अतः इसका दायरा भी असीम है। जो आज आधुनिक है, सम्भव है कि वह कल अतीत बन जाए।

(v) साहित्य में आधुनिकता ने नवीन विधाओं, शैलियों और साहित्य-रूपों को जन्म दिया।

(vi) आधुनिकता अतीत को साथ में रखकर विकासोन्मुख भविष्य की विकास-प्रक्रिया है।

उपर्युक्त मुद्दों के अतिरिक्त भी कई तथ्यों के आधार पर आधुनिकता की अवधारणा को व्याख्यायित किया जा सकता है। आधुनिकता वर्तमान और भविष्य से प्रेरित होती है। इसीलिए इसे अथवा इसकी व्याख्या को शब्दों की आबद्धता में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। इसमें अतीत का स्थान न होकर भी अतीत का बोध सन्निहित होता है जिसमें भविष्य के प्रति एक विशिष्ट दृष्टिकोण होता है, यथार्थ होता है। इसकी व्याख्या में मानव समाज का परिवेश समाया होता है। हिन्दी साहित्य में यह आधुनिकता राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक गतिविधियों और परिवर्तनों से आविर्भूत हुई। इसमें राष्ट्रीय चेतना है, सार्त्र का अस्तित्ववाद, फ्रायड का मनोविश्लेषण, मार्क्स का साम्यवाद जैसी नव-नवीन अवधारणाएँ विद्यमान हैं। संक्षेप में कहा जा सकता है कि आधुनिकता एक ऐसी अवधारणा है, एक ऐसी विचारधारा है जो मानव समाज को पारम्परिक जटिलताओं से बाहर निकालकर एक विकास की ओर बढ़ने की प्रेरणा देती है। आधुनिकता एक सापेक्षिक और सार्थक विचारधारा है। यह एक ऐसा दृष्टिकोण है जो मनुष्य को व्यष्टि और समष्टिगत संकीर्णताओं से मुक्ति दिलाकर एक नयी भाव-संवेदना की पृष्ठभूमि तैयार करती है।

2.1.3. आधुनिकता से अभिप्राय

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आधुनिकता नवीनता की पोषक रही जिसके लिए राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक परिस्थितियों ने अपना-अपना योगदान दिया। आधुनिकता एक ऐसी प्रवृत्ति के रूप में विकसित हुई जो परम्परा और संस्कृति के आलोक में नयेपन का अनुकरण करती है। मनुष्य जीवन को नित नवीनता से आलोकित करना ही आधुनिकता है। पुरातनता के धरातल पर रहकर परिवर्तित मूल्यों में नवीनता की पड़ताल करना आधुनिकता है। कोई भी आधुनिकता सतत स्थायी नहीं हो सकती। नवीनता की अनवरत प्रक्रिया हमेशा आधुनिकता को पुरातनता में बदलती रहती है। इसलिए आधुनिकता को निश्चित रूप से परिभाषित नहीं किया जा सकता। प्रायः सभी विद्वानों ने आधुनिकता की उत्पत्ति को विज्ञान और पश्चिमी परिवेश से प्रेरित माना है। स्पष्टतः व्यक्तिगत और वस्तुगत आधार पर इनमें मत-भिन्नता अवश्य होगी किन्तु यह तो स्पष्ट है कि इसने पारम्परिक सोच को आधुनिकता और वैज्ञानिकता के साथ जोड़ने का प्रयास किया।

साहित्य में आधुनिकता से तात्पर्य रचनाओं की शिल्प और शैली में परिवर्तन के साथ-साथ रचनाकारों के रचनागत पृष्ठभूमि और विभिन्न परिवेशों में परिवर्तनों से है। साहित्य ने आदिकाल से लेकर वर्तमान तक की साहित्यिक यात्रा तय की है। आदिकाल और मध्यकाल से लेकर साहित्य में हमें विभिन्न विचारों, संवेदनाओं और परिवेशों के दर्शन होते हैं। इन बदलते परिवेशों ने मानव-मूल्यों को भी कभी एक-सा नहीं रहने दिया। अतः आधुनिकता में मानव-मूल्य और परिवर्तित जीवन-शैली की भी पर्याप्त भूमिका रहती है।

हिन्दी साहित्य में 'आधुनिक' शब्द अंग्रेज़ी साहित्य से ही आया जो अंग्रेज़ी के 'मॉर्डन' शब्द का पर्याय था। यद्यपि संस्कृत में 'अधुना' शब्द की प्रयुक्ति मिलती है, जिसका सम्बन्ध आधुनिकता के प्रचलित मूल अर्थों से न होकर काल विशेष माना जाता रहा। "अंग्रेज़ी का 'मॉर्डन' शब्द मूल लैटिन शब्द 'मोडो' (Modo) से बना है। शब्दकोश में इस शब्द का अर्थ है – Modo-lately, Just now और 'मॉर्डन' का अर्थ है – Being or Existing at this time, Present. इस 'आधुनिक' शब्द से 'आधुनिकता' शब्द बनता है।" (पौराणिक काव्य : आधुनिक सन्दर्भ, पृ. 17)

साहित्य में 'आधुनिक' शब्द एक दृष्टिकोण का परिचय देता है जो पूर्ववर्ती विचारों पर नये विकसित विचारों का आवरण चढ़ाता है। इस दृष्टि से भी आधुनिकता का अर्थ काल विशेष से सम्बन्धित प्रतीत होता है। डॉ॰ धीरेन्द्र वर्मा बताते हैं – "आधुनिक शब्द को बहुत दूर तक समय-सापेक्ष मान लिया जाता है। जैसे इतिहास का विभाजन प्राचीन, मध्यकालीन तथा आधुनिक कालों में करते समय। परन्तु यह आधुनिक शब्द का सुविधा-निष्पन्न और लचीला अर्थ है जिसके अनुसार अगला काल अपनी पूर्ववर्ती की अपेक्षा आधुनिक या अधिक आधुनिक होता है पर अपने विशिष्ट रूप में आधुनिक अर्थ इससे भिन्न है। आधुनिकता की पहली और अनिवार्य शर्त स्वचेतना है।" (हिन्दी साहित्य कोष, भाग-1, पृ. 110) यहाँ जिस 'स्वचेतना' शब्द का प्रयोग हुआ है वह व्यक्ति की तात्कालिक व्यक्तिगत अनुभूति से अनुप्रेरित होता है। इसके अलावा कुछ विद्वानों ने आधुनिकता को विशिष्ट दृष्टिकोण और कुछ ने भावबोध की प्रेरणा भी माना है। कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि आधुनिकता

'नित विकास' का ही पर्याय है। आधुनिकता को स्पष्ट करने में कुछ तत्त्वों का विशिष्ट स्थान रहा है जिनमें परिवेश, मार्क्सवाद, अस्तित्ववाद, मनोविश्लेषणवाद जैसी अवधारणाओं ने प्रमुख भूमिका निभायी। परिवर्तन को सृष्टि का नियम कहा जाता है। परिवर्तन की यह प्रक्रिया अनवरत जारी रहती है। ऐसे में आने वाला भविष्य हमेशा आधुनिक ही होता है किन्तु उसकी आधुनिकता कभी चिर स्थायी नहीं होती अपितु उसमें उसमें भी परिवेशानुरूप परिवर्तन होता रहता है। अतः प्रत्येक वर्तमान अपने पूर्ववर्ती समय से आधुनिक ही होता है। आधुनिकता की दृष्टि से यहाँ परिवेश का महत्त्व अधिक होता है। उल्लेखनीय है कि इस परिवेश को समयानुरूप वैज्ञानिक दृष्टिकोण और वैकासिक विचारधाराएँ प्रभावित करती हैं।

भारतीय परिवेश में बीसवीं सदी के दौरान हुए सांस्कृतिक संक्रमण से व्यापक और कुछ अपवादों के साथ-साथ सकारात्मक परिवर्तन सामने आए। विज्ञान और तकनीकी ने मानव-मन और विचारधारा को भी बदल दिया। विज्ञान के सम्पर्क में आने से मनुष्य का बौद्धिक विकास हुआ। फलस्वरूप जनमानस की संकीर्णता के भावों को नष्ट होने में बल मिला। और उसे पुरातन सामाजिक रूढ़ि और परम्परादि की आबद्धता से मुक्ति मिली। रचनाकारों की रचनाओं में भी यह उन्मुक्तता दिखाई देती है। इस प्रक्रिया ने नये जीवन-मूल्यों को भी जन्म दिया। इन बदलते जीवन-मूल्यों ने जहाँ एक ओर सकारात्मक परिणाम दिए वहीं दूसरी ओर इसके दुष्परिणाम भी सामने आए। नितान्त भौतिकतावादी हो जाने के कारण मनुष्य का सम्पर्क अलौकिकता से टूट गया। भाग्यवाद के स्थान पर कर्म के आते ही मनुष्य अपनी सारी संवेदनाएँ भूलकर इस लौकिक जगत् का मालिक बन बैठा। और एक प्रकार की संवेदनहीनता का वातावरण पनपने लगा। साहित्यिक दृष्टि से आधुनिककाल में ऐसे साहित्य को महत्त्व प्राप्त होने लगा जो जनोपयोगी हो। पाश्चात्य देशों के सम्पर्क में आने के कारण रचनाकारों ने भी नये विचारों को अपनाया। आधुनिकता की विशेषता यह है कि यह विज्ञान और यथार्थवादी होने के कारण तथ्यों की आलोचना करता है।

पश्चिम के प्रभाव में आते ही कुछ अवधारणाओं ने भी भारतीय जनमानस पर अपना प्रभाव अंकित किया। मार्क्सवाद भी उसी विचारधारा का एक हिस्सा है। मार्क्सवाद आधुनिकता की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता रही है जिसके प्रणेता कार्ल मार्क्स हैं। मार्क्सवाद मनुष्य को अभौतिकता की अपेक्षा भौतिकता की प्रेरणा देता है। मार्क्सवाद के अनुसार कोई भी समाज आर्थिक आधार पर टिका रहता है। अतः मार्क्सवाद ने समाज में समन्वय की स्थापना के साथ-साथ अर्थव्यवस्था को विकसित करने में समाज के प्रत्येक तबके के महत्त्व को भी मान्य किया। आधुनिकता की अवधारणा को व्याख्यायित करते हुए मार्क्सवाद ने मानव संस्कृति को नित परिवर्तनशील माना और सिद्ध किया कि इस स्थिति में मानव-मूल्य कभी शाश्वत नहीं रह सकते। क्योंकि पुरातनता विकास में बाधा उत्पन्न करती है। अतः समाज को उन्नति करने के लिए वर्तमान का साथ देना चाहिए। इस प्रकार से मार्क्सवाद ने परम्परा की जगह मानव को प्रतिष्ठापित करने का प्रयास किया। मार्क्स के अनुसार मनुष्य-जीवन का निर्धारण उसके अन्तर्मन से नहीं होता अपितु मनुष्य की सामाजिक स्थिति ही उसके अन्तर्मन को विकसित करती है। अन्तर्मन और समाज के बीच का यह द्वन्द्व 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' कहलाता है। साहित्य की दृष्टि से प्रगतिवादी साहित्य में मार्क्सवादी दृष्टिकोण दिखाई देते हैं।

विज्ञान और तकनीकी विकास ने विश्लेषण और आलोचना जैसी प्रवृत्ति को बढ़ावा दिया । इस विश्लेषणवादी वृत्ति ने आधुनिकता को फलने-फूलने में बहुत सहायता की । मनोविश्लेषण भी उसी वृत्ति का अंग रहा । सिग्मंड फ्रायड प्रणीत मनोविश्लेषण के अन्तर्गत फ्रायड ने मनुष्य-जीवन में मनुष्य की चेतना को महत्त्व दिया । अपनी अवधारणा को समझाने के लिए फ्रायड ने मनुष्य मन को तीन अवस्थाओं में विभक्त किया – (i) चेतन, (ii) अर्द्धचेतन और (iii) अवचेतन । फ्रायड के अनुसार मनुष्य की स्थिति उसकी आन्तरिक चेतना, उसकी दमित और अतृप्त इच्छाओं पर आधारित होती है । और भावी जीवन में यही अतृप्त इच्छाएँ कला या किसी अन्य माध्यम से अपने को अभिव्यक्ति प्रदान करती है । संक्षेप में मनुष्य की दमित या अतृप्त इच्छाएँ उसे प्रवृत्त करती है । ऐसे में उसकी दिशा सकारात्मक या नकारात्मक कोई भी हो सकती है ।

इस प्रकार मनोविश्लेषणवाद द्वारा मानव-मन को सम्बल मिलने से पुरातन अलौकिक जीवन-मूल्य आधारहीन होने लगे । और विश्लेषण तथा तर्क के आधार पर आधुनिकता के परिप्रेक्ष्य में नये जीवन-मूल्यों की प्रतिष्ठापना हुई । साहित्य में कई रचनाकारों ने उक्त सिद्धान्त को आधार बनाकर अपने समकालीन समाज को अभिव्यक्त किया है ।

स्वानुभूति की अभिव्यक्ति भी आधुनिकता का आधारभूत अंश है । नवीन वैज्ञानिक दृष्टिकोण ने तर्क और विश्लेषण की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन दिया जिससे निजी अभिव्यक्तियों को बढ़ावा मिला और एक ऐसी अवधारणा विकसित हुई जिसे 'अस्तित्ववाद' कहा गया । अस्तित्ववाद में निजता की अभिव्यक्ति होती है । इस प्रकार हम देखते हैं कि आधुनिकता के सन्दर्भ में विद्वानों ने भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण प्रस्तुत कर आधुनिकता को स्पष्ट करने का प्रयास किया है । किन्तु संक्षिप्त रूप से आधुनिकता का सम्बन्ध उपर्युक्त सभी विचारधाराओं से है जो सतत विकास की ओर उन्मुख होती रहती हैं । ये विचारधाराएँ कई सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक आदि तत्त्वों से समय-समय पर प्रभाव ग्रहण करती और बदलती रहती हैं । और साथ ही, पुरातन जीवन-मूल्यों को भी परिवर्तित करती रहती हैं । अतः कहा जा सकता है कि आधुनिकता सार्थक नवपरिवर्तन का ही पर्याय है । दोनों ही एक दूसरे पर आश्रित हैं । किन्तु आधुनिकता कोयहाँ परम्परा से विभक्त करके नहीं देखा जा सकता अपितु आधुनिकता का आधार परम्परा होती है । इस प्रकार परम्परा और आधुनिकता एक दूसरे के पूरक हैं । अतः आधुनिकता का तात्पर्य है – "अपने वर्तमान के प्रति सतर्कता, तार्किक विश्लेषण, वैज्ञानिकता, सृजनात्मक वैकासिक दृष्टिकोण जैसे तत्त्वों की सार्थक अभिव्यंजना।" इनके अभाव में आधुनिकता की व्याख्या नहीं की जा सकती ।

2.1.4. नामकरण

किसी भी युग का नामकरण तात्कालिक प्रवृत्तियों के अनुरूप होता है । नामकरण के लिए समयानुकूल गुणधर्म एवं सामान्य जनभावनाएँ परिवेश का नामकरण करने में मुख्य भूमिका निभाते हैं । इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे रचनाकार जो अपने-अपने परिवेश को प्रभावित करते हैं उनके नाम के आधार पर भी तात्कालिक समय का नामकरण होता रहता है । हिन्दी साहित्य में 'भारतेन्दु युग', 'द्विवेदीयुग', 'प्रसाद युग', 'प्रेमचंद युग' आदि नाम इसी तथ्य की पुष्टि करते हैं । स्पष्ट है कि किसी भी नामकरण में तात्कालिक जनचेतना का परिचय होता है ।

साहित्यिक दृष्टि से 'भक्तिकाल' नाम अपनी भक्तिपरक रचनाओं के लिए जबकि 'रीतिकाल' नाम अपनी पारम्परिक रीतियों का अनुसरण करने और रोमानी भावों का परिचय देता है । उसी प्रकार आधुनिककाल का साहित्य एक नव परिवर्तन की सूचना देता है। जिसका प्रादुर्भाव सामाजिक, राजनैतिक एवं सांस्कृतिक संक्रमण के कारण हुआ था । आधुनिककाल के दौरान अनेक अवधारणाओं, सभ्यताओं, संस्कृतियों ने महत्त्वपूर्ण स्थान पाया। आधुनिककाल में भी आगे चलकर कई नयी अवधारणाएँ भी प्रचलित हुईं। पूर्वोक्त है कि आधुनिककाल में सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, राजनैतिक आदि दृष्टियों से व्यापक परिवर्तन होने लगा था। यह एक ऐसा दौर था जब जनमानस के बीच पश्चिमी प्रभाव के कारण विज्ञान, तकनीकी और विकास के प्रति आकर्षण उत्पन्न हुआ। आधुनिकता से पूर्व जिन भावों का प्रचलन था उसमें जड़ता तो थी ही, साथ ही वहाँ परम्परा के प्रति एक दुराग्रह की भावना भी थी। जनमानस के बीच उससे विमुख होने का यह भी एक कारण था। आधुनिकता पूर्व विचारधारा की जड़ता को आधुनिकता ने गति प्रदान की। आधुनिकता की यही गति और विकास उसके नामकरण का आधार बनी।

डॉ॰ नगेन्द्र के अनुसार " 'आधुनिक' शब्द दो अर्थों – 'मध्यकाल से भिन्नता' और 'इहलौकिक दृष्टिकोण' की सूचना देता है ।" अर्थात् आधुनिक शब्द से मध्यकालीन सभ्यता और संस्कृति के साथ-साथ सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक विचारधाराओं में परिवर्तनों की प्रतीति होती है । तथा दूसरा अर्थ धार्मिक, आध्यात्मिक परिवर्तनकारी विचारधारा का द्योतक रहा है । ऐतिहासिक दृष्टि से प्राचीनकाल से लेकर आधुनिककाल की पृष्ठभूमि के बनने में एक क्रम दिखाई देता है । और यह क्रम आगे भी जारी रहता है । आधुनिकता काल-सापेक्ष होती है। इस सन्दर्भ में दूधनाथ सिंह का कथन है – "इसमें उस तत्त्व की ओर संकेत है, जो अखण्ड काल प्रवाह से सम्बद्ध है। जो समय से कट कर चलता है। आधुनिकता इस या उस कालखण्ड की बपौती नहीं है। यह एक प्रवृत्ति है जो काल से बँधकर नहीं चलती। तथा कथित ऐतिहासिक आधुनिक युग में रहने वाला मानस पूर्णतः या अंशतः मध्ययुगीन हो सकता है और मध्यकाल में भी आधुनिकता के कबीर जन्म ले सकते हैं।" (आधुनिकता एक पहचान, पृ. 11)

पूर्वोक्त है कि आधुनिक शब्द अंग्रेज़ी के 'मॉडर्न' शब्द से उत्पन्न हुआ है जिसका सम्बन्ध 'वर्तमान स्थिति' से होता है। मोटे तौर पर आधुनिकता एक संकेत है जिसके कुछ लक्षण होते हैं। इतिहास के क्रम की दृष्टि से यह 'क्लासिकवाद' और 'रोमांसवाद' के प्रति एक प्रतिक्रिया है। व्यक्तिगत दृष्टि से परम्परा से एक बौद्धिक असहमति भी इसमें निहित रहती है। बौद्धिकता एक ऐसे विज्ञानवाद को जन्म देती है जिसमें मूल्य परिवर्तन के लिए बाध्य हो जाते हैं और इन सबसे प्रेरणा पाकर नये-नये वाद प्रकट होते हैं। वाद जल्दी-जल्दी बदलते हैं। संक्षेप में ये ही आधुनिकता के मोटे-मोटे लक्षण हैं। कहीं न कहीं आधुनिकता के केन्द्र में मनुष्य बुद्धि की सक्रियता होती है न कि भावुकता। यह भावुकता पूर्ववर्ती रचनाओं का अहम हिस्सा होती है। आधुनिकता वर्तमान के समानान्तर चलती है। आधुनिकता मानव-समाज और मानवीय मूल्यों का क्रमिक विकास है जिसके लिए वर्तमान कारणीभूत होता है। आधुनिकता अपने परिवेश के अनुसार भावों और संवेदनाओं की पड़ताल कर युगानुरूप उनमें परिवर्तन करवाती है। आधुनिकता एक मानसिकता है, जो नित नवीन सकारात्मकता का पोषण करती है।

2.1.5. पाठ-सार

आधुनिकता पुरातन जीवन-मूल्यों की परिवर्धित और परिमार्जित एक सकारात्मक प्रक्रिया है। यह एक ऐसी अवधारणा है जिसमें सतत नव-नवीन परिवर्तन होता रहता है। किन्तु इन आधुनिक परिवर्तनों का सम्बन्ध पुरातनता से होता ही है। यदि कहा जाए कि पुरातनता आधुनिकता का पोषण करती है या दोनों एक दूसरे के पूरक हैं तो गलत नहीं होगा। आधुनिकता कभी चिरस्थायी नहीं होती। इसीलिए विद्वानों में भी इसकी व्याख्या को लेकर मतभेद मिलता है। प्रायः सभी ने न्यूनाधिक अन्तर के साथ आधुनिकता में परिवर्तन और नवीनता के गुणधर्म को माना है। वर्तमान आधुनिकता भविष्य में पुरानी हो ही जाती है। भारतीय परिवेश में ईस्ट इंडिया कंपनी के स्थापित हो जाने के बाद राजनैतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक संक्रमण का प्रारम्भ हुआ। साहित्यिक दृष्टि से आधुनिकता मध्यकालीन तथा पूर्ववर्ती प्रवृत्तियों से भिन्न दिखाई देती है। अर्थात् आधुनिकता मध्यकालीन सभ्यता और संस्कृति से भिन्नता का प्रतीक है। क्योंकि इसमें विज्ञान और तकनीकी की प्रधानता थी। आधुनिकता में मध्यकालीन सामाजिक जीवन में व्याप्त नितान्त परम्परावादिता के प्रति नीरसता दिखाई देती है। आधुनिकता ने सामाजिक जीवन को विकास का एक दृष्टिकोण प्रदान किया। आधुनिकता में सकारात्मक प्रगतिशीलता का गुणधर्म होता है जो पुरातन जीवन-मूल्यों के समय के साथ सापेक्षिक निर्वहन में सहायता करता है। वास्तव में आधुनिकता अपने ही अतीत को परिमार्जित करके उसका पुनर्निर्माण करती है। भारतीय पृष्ठभूमि में आधुनिकता का प्रादुर्भाव सन् 1857 ई. के प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम के दौरान हुआ। प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम ने भारतीयों में जनजाग्रति का काम किया। यद्यपि यह संग्राम सफल नहीं हो पाया किन्तु इस चिनगारी ने आगे चलकर अंग्रेज़ों के विरुद्ध एक विकराल रूप धारण कर लिया। अनेक क्रान्तिकारियों के साथ विविध रचनाकारों ने भी इस संग्राम में अपना योगदान दिया। प्रायः सभी रचनाकारों ने अपनी रचनाओं में अंग्रेज़ों की कुव्यवस्था का पटाक्षेप किया। सच तो यह है कि भारतीय परिवेश में आधुनिकता के पीछे स्वतन्त्रता की आकांक्षा विद्यमान थी जिसके फलस्वरूप राष्ट्रप्रेम की भावना फलीभूत हुई। समय के साथ-साथ साहित्य-जगत् में भी व्यापक परिवर्तन आए। आधुनिकता के फलस्वरूप साहित्य का परिचय नयी साहित्य विधाओं जैसे नाटक, निबन्ध, उपन्यास आदि एवं भाषा के रूप में खड़ीबोली तथा शिल्प-विधानों और शैलियों से हुआ। मध्यकाल तक साहित्य में पद्य का प्रभाव था। लेकिन आधुनिकता के कारण ही साहित्य में गद्य के माध्यम से भी अभिव्यक्ति सम्भव हो पाई। इसीलिए इस कालखण्ड को 'गद्यकाल' के नाम से भी सम्बोधित किया गया। रचनाकारों ने संवेदनशीलता का परिचय देते हुए नये-नये भाव-बोधों पर अपनी कलम चलायी। इस दौरान विशेष बात यह सामने आई कि रचनाकारों में अब तक जो नितान्त कल्पनागम्यता थी उसमें यथार्थ ने अपनी जड़ें जमाना प्रारम्भ कर दिया। फलस्वरूप विशिष्ट वर्ग के साथ सामान्य वर्ग के मनुष्य और उसके परिवेश को भी साहित्य में स्थान मिला। जिससे सामाजिक स्थिति के परिमार्जन में भी सहयोग मिला। आधुनिकता एक ऐसा दृष्टिकोण है जिसकी स्थायी व्याख्या कर पाना सम्भव नहीं है। आधुनिकता अतीत को वर्तमान के साथ जोड़कर भविष्योन्मुखी अवधारणाओं का निर्माण करती है। एक अर्थ में यह भी कहा जा सकता है कि आधुनिकता में समयहीनता का गुण विद्यमान होता है। और यही समयहीनता आधुनिकता के शाश्वत बने रहने में भी सहायक सिद्ध होती है। गतिशीलता और विकास आधुनिकता का अनिवार्य अंग है।

2.1.6. अभ्यास-प्रश्न

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. आधुनिकता किसका पोषण करती है ?

(क) विज्ञान

(ख) अन्धविश्वास

(ग) पुराण

(घ) लोकविश्वास

2. आधुनिकता क्या है ?

(क) एक दृष्टिकोण

(ख) नीति

(ग) परम्परा

(घ) संकीर्णता

3. आधुनिकता को किसने प्रभावित किया ?

(क) पश्चिमी सभ्यता ने

(ख) पूर्वी सभ्यता ने

(ग) मुगलों ने

(घ) प्राचीन संस्कृति ने

4. आधुनिक शब्द अंग्रेज़ी के किस शब्द का पर्याय है ?

(क) मॉडर्न

(ख) न्यू

(ग) फ्रेश

(घ) लेटेस्ट

लघूत्तरीय प्रश्न

1. आधुनिकता किसका अनुकरण करती है ?
2. आधुनिकता की दृष्टि से भारतीय परिवेश में सांस्कृतिक संक्रमण किस सदी मेंहुआ ?
3. मार्क्सवाद मनुष्य को क्या प्रेरणा देता है ?
4. स्वानुभूति की अभिव्यक्ति से कौनसी अवधारणा विकसित हुई है ?

दीर्घोत्तरीय प्रश्न

1. आधुनिकता क्या है ? आधुनिकता से क्या अभिप्रेत है ? विस्तारपूर्वक समझाइए।
2. विभिन्न विद्वज्जनों के मतों का उल्लेख करते हुए आधुनिकता के नामकरण पर प्रकाश डालिए।
3. "आधुनिक जीवन-मूल्यों ने जहाँ एक ओर सकारात्मक परिणाम दिए हैं वहीं दूसरी ओर इसके दुष्परिणाम भी सामने आए हैं।" उक्त कथन पर युक्तियुक्त विचार कीजिए।

2.1.7. सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

01. हिन्दी साहित्य का विश्लेणात्मक इतिहास, अवनीश
02. हिन्दी साहित्य का इतिहास, डॉ॰ नगेन्द्र
03. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
04. आधुनिक हिन्दी साहित्य, लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय
05. हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास, खण्ड 1 और 2, गणपतिचन्द्र गुप्त
06. आधुनिकता एक पहचान, डॉ॰ चंद्रभान रावत एवं डॉ॰ रामकुमार खंडेलवाल
07. आधुनिक बोध, रामधारी सिंह 'दिनकर'
08. आधुनिक हिन्दी साहित्य की विचारधारा पर पाश्चात्य प्रभाव, डॉ॰ हरिकृष्ण पुरोहित
09. आधुनिक हिन्दी का आदिकाल, श्रीनारायण चतुर्वेदी
10. हिन्दी साहित्य कोष, भाग – 1, धीरेन्द्र वर्मा
11. नयी कविता के प्रतिमान, लक्ष्मीकान्त वर्मा

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 2 : आधुनिककाल : पूर्वपीठिका

इकाई – 2 : सांस्कृतिक चेतना और नवजागरण, नवजागरण की अवधारणा, परिस्थितियाँ

इकाई की रूपरेखा

2.2.0. उद्देश्य कथन
2.2.1. प्रस्तावना
2.2.2. सांस्कृतिक चेतना और नवजागरण
2.2.3. नवजागरण की अवधारणा
2.2.4. परिस्थितियाँ
    2.2.4.1. राजनैतिक परिस्थिति
    2.2.4.2. सामाजिक परिस्थिति
    2.2.4.3. आर्थिक परिस्थिति
2.2.5. पाठ-सार
2.2.6. अभ्यास-प्रश्न
2.2.7. सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

2.2.0. उद्देश्य कथन

प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. नवजागरण का मन्तव्य समझ सकेंगे।
ii. नवजागरण की पृष्ठभूमि से परिचित हो सकेंगे।
iii. नवजागरण की अवधारणा से अवगत हो सकेंगे।
iv. नवजागरणकालीन परिस्थितियों का अनुशीलन कर सकेंगे।
v. नवजागरणकालीन सांस्कृतिक चेतना को समझ सकेंगे।

2.2.1. प्रस्तावना

आधुनिकता के परिप्रेक्ष्य में हिन्दी साहित्य के लिए उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध का कालखण्ड सबसे महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ। इसी दौर में भारतीय सभ्यता और संस्कृति का परिचय पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति से हुआ। परिणामतः सांस्कृतिक संक्रमण के कारण एक नवीन चेतना का जन्म हुआ। पश्चिमी सभ्यता के प्रभाव से भारतीय संस्कृति की जड़ता और नितान्त परम्परावादिता के गतिशीलता और विकास में परिवर्तित होने में बहुत सहायता मिली। भारतीय परिवेश में यह नवचेतना सांस्कृतिक क्षेत्र में जागी तो वहीं अन्य देशों में इस नवजागरण का प्रादुर्भाव साहित्य, धर्म, कला, संगीत, विज्ञान, तकनीकी आदि क्षेत्रों में दिखाई देता है।

भारतवर्ष में नवजागरण का आगमन बंगाल से हुआ। ईस्ट इंडिया कंपनी के स्थापित होने के बाद अंग्रेज़ों की राजनैतिक मंशा स्पष्ट हो चुकी थी। अंग्रेज़ अपना साम्राज्य विस्तार करने में लगे थे। अंग्रेज़ी शासन-व्यवस्था के साथ-साथ अंग्रेज़ी शिक्षा और औद्योगिक विकास का भी प्रारम्भ हुआ। पारम्परिक संस्कृति और नवीन गतिशील संस्कृति के संक्रमण के कारण भारतवर्ष में बौद्धिक स्तर पर एक सांस्कृतिक उथलपुथल होने लगी। और इसी गतिरोध के बीच भारतवर्ष में भी विज्ञान और तकनीकी क्षेत्रों में विकास प्रारम्भ हुआ। पश्चिमी संस्कृति गतिशील और विज्ञानप्रधान होने के कारण भारतीय संस्कृति पर हावी होने का प्रयास कर रही थी। इस स्थिति को भाँपते हुए भारतीय परिवेश में सांस्कृतिक प्रभाव को लेकर एक नये चिन्तन की शुरुआत हुई। भारत भूमि पर नवजागरण का एक अन्य कारण 'राष्ट्रीयता' भी थी। पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव के फलस्वरूप भारत में भी सामाजिक रूप से समाज-सुधार की शुरुआत हुई। राजा राममोहन राय, महर्षि दयानन्द सरस्वती, ईश्वरचंद विद्यासागर आदि समाज-सुधारकों ने समाज को पारम्परिक जड़ता से मुक्त करने का भरसक प्रयास किया। वहीं साहित्यिक क्षेत्र में भी भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी जैसे विद्वानों ने साहित्य के परिष्करण और परिमार्जन का महान् कार्य किया।

1857 के विद्रोह के बाद राजनैतिक दृष्टि से अतीत-गौरव और राष्ट्रीयता के स्वर मुखर होने लगे। राष्ट्रीयता के अन्तर्गत पूर्ण स्वतन्त्रता पहली माँग थी जिसके कारण भारतवर्ष में राष्ट्रीयता का प्रचार-प्रसार हुआ। नवजागरण का सम्बन्ध उस विचारधारा से था जिसमें अभौतिकता का स्थान भौतिकता लेने लगी थी। आधुनिकता के आलोक में विज्ञान और तकनीकी विकास हुआ उसने मनुष्य को विश्लेषण और तर्कशक्ति प्रदान की। परिणामतः अस्तित्ववादी अवधारणा को सम्बल मिला और ईश्वर के स्थान पर मनुष्य की प्रतिष्ठापना हुई। मनुष्य विभिन्न प्रकार के चिन्तन और दर्शन के केन्द्र आया। आधुनिकता और नवजागरण लगभग समकालीन और परस्परपूरक संकल्पनाएँ हैं। दोनों संकल्पनाओं के संयोग के चलते नवजागरण में विज्ञान, तकनीकी, विश्लेषण, भौतिकता, समाज-सुधार, अस्तित्व, राष्ट्रीयता जैसे तत्त्व समाहित हुए हैं। प्रस्तुत अध्याय में हम नवजागरण की अवधारणा, नवजागरण दौर की परिस्थितियों के साथ सांस्कृतिक चेतना को समझने का प्रयास करेंगे।

2.2.2. सांस्कृतिक चेतना और नवजागरण

व्यापार के लिए भारत आई अंग्रेज़ी संस्कृति अपने व्यापारिक उद्देश्यों को पूरा करने और साम्राज्य-विस्तार में लग गई। अपना साम्राज्य-विस्तार करने के लिए उन्होंने प्रत्येक क्षेत्र को प्रभावित किया। ऐसे में अपने उद्देश्यों की पूर्ति करने के लिए शोषण की नीति को अपनाना स्वाभाविक था। अंग्रेज़ों ने अपनी नीतियों के अन्तर्गत भारतीय अतीत की गरिमा को समाप्त करने या फिर उसे दूषित करने का भरसक प्रयास किया। पश्चिमी सभ्यता के प्रभाव में भारतीयों के मन में जो अतीत गौरव की भावना थी उसे बहुत ठेस पहुँची। किन्तु उनके ऐसा करने से भारतीय समाज में उनकी राजनैतिक महत्त्वाकांक्षाओं, नीतियों और व्यवस्थाओं के प्रति असन्तोष उत्पन्न हुआ जो सन् 1857 ई. के विद्रोह के समय उफान पर आ गया। सन् 1857 ई. के इस विद्रोह में समाज के प्रत्येक वर्ग ने बढ़-चढ़ कर हिस्सा लिया। यद्यपि यह विद्रोह एक सैनिक छावनी से उत्पन्न होने के कारण इसे राजनैतिक विद्रोह के

रूप में देखा गया किन्तु इस आन्दोलन को मिले जनसहयोग के कारण यह एक राष्ट्रीय आन्दोलन के रूप में परिवर्तित हुआ। इस ऐतिहासिक विद्रोह की परिणति यह हुई कि इसे उठाने वाले और इसके लिए कारणीभूत सभी को अंग्रेज़ों ने समाप्त कर दिया। इस विद्रोह को दबाने और समूल नष्ट करने के लिए अंग्रेज़ों ने साम-दाम-दण्ड-भेद हर प्रकार की नीतियों का सहारा लिया। कई अमानवीय अत्याचार भी किए। 'फूट डालो और राज करो' की नीति अपनाकर अंग्रेज़ भारतवर्ष में अपना साम्राज्य स्थापित करने में सफल हो गए। किन्तु इसकी परिणति यह हुई कि ईस्ट इंडिया कंपनी से भारतीय व्यवस्था का अधिकार छीनकर रानी विक्टोरिया को सौंप दिया गया। रानी विक्टोरिया ने सेना में भारतीयों की संख्या कम कर दी। रानी विक्टोरिया ने अपने घोषणापत्र में यद्यपि भारतीय समुदाय को निरपेक्ष रूप से प्रशासन-व्यवस्था में लेने की घोषणा की थी किन्तु इस शृंखला में जिस प्रकार की नीतियाँ अपनायी गईं उससे भारतीय समुदाय ऐसे अवसरों से वंचित ही रहा।

नवजागरण से पूर्व धर्म की आड़ में विभिन्न प्रकार के पाखण्ड अपना पैर पसारे हुए थे। यातनामय परम्पराओं के कारण महिलाओं की स्थिति बद से बदतर हो गई थी। जन्म के साथ ही महिलाओं का तिरस्कार, बालविवाह, सतीप्रथा, पर्दाप्रथा आदि परम्पराएँ महिलाओं का शोषण कर रही थीं। समाज में व्याप्त जाति और वर्णव्यवस्था मनुष्य के शोषण का मुख्य आधार थीं। जाति-व्यवस्था के कारण समाज विभिन्न स्तरों में विभाजित हो चुका था। समाज में एक प्रकार की जड़ता थी। किसी भी प्रकार से समाज का उत्थान सम्भव नहीं हो पा रहा था। भारतीय समाज गतिहीन हो गया था। भारतीयों की इन्हीं प्रवृत्तियों के कारण अंग्रेज़ भारतवर्ष में अपनी जड़ें जमा पाए थे। अंग्रेज़ों के आगमन के पश्चात् जो सांस्कृतिक संक्रमण हुआ वही नवजागरण के लिए कारणीभूत था। साम्राज्य स्थापित होने के बाद उनका सांस्कृतिक वर्चस्व बढ़ने लगा। इस वर्चस्व के कारण भारतीय जनमानस में आत्ममंथन की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई। भारतीय समुदाय अपनी सांस्कृतिक न्यूनता की पड़ताल में लग गयाथा। यही वह समय था जब भारतीय समुदाय ने समाज-सुधार की आवश्यकता महसूस की थी। भारतीय परिवेश में सुधार की इसी प्रक्रिया को 'नवजागरण' नाम से सम्बोधित किया गया। इस सन्दर्भ में भारतीय नवजागरण के प्रणेता राजा राममोहन राय ने कहा – "मुझे खेद के साथ कहना पड़ रहा है कि धर्म के वर्तमान ढाँचे ने हिन्दुओं को इस बुरी तरह जकड़ रखा है कि उनके राजनैतिक हितों के बारे में कुछ किया ही नहीं जा सकता। जाति-भेद और जातीय अभिमान ने उन्हें अनगिनत वर्गों और उपवर्गों में बाँट दिया है, जिससे उनमें देश-प्रेम की भावना ही पूरी तरह से खत्म हो गई है। सैकड़ों तरह के धार्मिक रीति-रिवाजों, धार्मिक समारोहों और शुद्धिकरण के नियम ने उन्हें इस कदर बाँध रखा है कि वे जोखिम का काम हाथ में लेने लायक रह ही नहीं गए हैं।" लालच और दण्ड के दम पर अंग्रेज़ भारत पर सदा के लिए अपना साम्राज्य बनाए रखना चाहते थे। भारतीय संस्कृति में अतीत के प्रति हमेशा से सम्मान रहा है। किन्तु अंग्रेज़ भारतीय संस्कृति को हीनतर बताने पर आमादा थे। उन्होंने भारतीयों के मन में अपनी संस्कृति के प्रति हीन भावना भरने की भी कोशिशें कीं। उन्नीसवीं शती में ये कोशिशें बहुत बढ़ गईं और भारतीय बुद्धिजीवी वर्ग के विचारों के केन्द्र में आ गईं। सभी ने अनुभव किया कि भारतीय संस्कृति की रूढ़ियों, अन्धश्रद्धा तथा नितान्त धार्मिकता के कारण अंग्रेज़ सरकार भारतीय समाज को गुलाम बनाकर रखना चाहती है। ऐसी स्थिति में राष्ट्र के अतीत-गौरव के प्रति संवेदनशीलता स्वाभाविक रूप से सक्रिय हुई।

भारतीय परिवेश में पश्चिमी संस्कृति के प्रभाव का एक सकारात्मक परिणाम यह हुआ कि इससे भारतीय समाज में एक नयी दृष्टि का विकास हुआ। समाज में विज्ञान और विश्लेषण का आधार लेकर सामाजिक सुधार के नये प्रयास होने लगे। पश्चिमी शिक्षा के कारण धार्मिक और सामाजिक क्षेत्रों में व्यापक सुधारवादी आन्दोलन भी हुए। जिन्होंने भारतीयों को एक नयी दृष्टि प्रदान की। आस्थाओं और परम्पराओं का मूल्यांकन नये सिरे से प्रारम्भ हुआ। इन सभी बातों के लिए नवजागरण की अवधारणा कारणीभूत थी। राजा राममोहन राय, स्वामी दयानन्द सरस्वती, ईश्वरचंद विद्यासागर, स्वामी विवेकानन्द, रामकृष्ण परमहंस जैसे समाज-सुधारकों ने सामाजिक और धार्मिक सुधार की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। उल्लेखनीय है कि ये सभी आन्दोलन पूर्ववर्ती आधारहीन रूढ़ियों और परम्पराओं के विरुद्ध प्रतिक्रिया थे। सुधारवादी आन्दोलनों के फलस्वरूप परम्पराओं को जड़ता से मुक्ति दिलाकर उनके सामाजिक अनुकूलन पर जोर दिया गया। सभी सुधारवादियों ने भारतीयों के मन में निहित अतीत गौरव की भावना को सक्रियता प्रदान की। सुधारवादियों द्वारा स्थापित ब्रह्म समाज, आर्य समाज, प्रार्थना समाज, सत्यशोधक समाज जैसे संगठनों ने देश के कई हिस्सों में सुधारकार्य आरम्भ किए। समाज का प्रत्येक वर्ग फिर चाहे वह उच्च वर्ग हो चाहे निम्न वर्ग; सभी ने इस सुधारकार्य में बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया। तात्कालिक नितान्त धार्मिकता के कारण सुधारवादियों को धर्म में पकड़ बनाने में काफी मशक्कत करनी पड़ी जिसके बाद ही सामाजिक और धार्मिक सुधार आन्दोलन सफल हो पाया। इन सुधारों के फलस्वरूप सांस्कृतिक क्षेत्र में जनजाग्रति उत्पन्न हुई और एक तरह की नवीनता पनपने लगी। डॉ॰ रामविलास शर्मा ने सांस्कृतिक क्षेत्र में उत्पन्न इस जनजाग्रति, नवीनता और सुधारवादी आन्दोलनों, स्वतन्त्रता आन्दोलन भी जिसका एक हिस्सा रहा है, को 'नवजागरण' कहा है।

सांस्कृतिक दृष्टि से एक ओर यह संघर्ष परम्परा और आधुनिकता के बीच का संघर्ष था तो दूसरी ओर अंग्रेज़ी सत्ता की राजनैतिक विचारधाराओं से भी था। समाज में किए गए सुधारों ने जनता को धार्मिक अन्धविश्वासों से मुक्ति प्रदान की। धार्मिक ठेकेदारों द्वारा किये जा रहे शोषण पर लगाम कसी। विभिन्न धार्मिक ग्रन्थों को सभी के लिए पठनीय बनाने हेतु विभिन्न भाषाओं में उनका अनुवाद किया गया ताकि धार्मिक ग्रन्थों में उल्लिखित मानवीय संवेदनाओं से प्रत्येक भारतीय परिचित हो सके। समाज में व्याप्त जाति व्यवस्था पर भी आघात किया गया जो राष्ट्रीयता की भावना को चोट पहुँचा रही थी। जातिभेद के कारण स्वाधीनता आन्दोलन की गति में अवरोध उत्पन्न हो रहा था। अतः सुधारकों ने जातिभेद की पारम्परिक आधारहीनता से सभी को अवगत कराकर सभी भारतीयों को एकसूत्र में बाँधने का प्रयास किया। सभी सुधारक यह बात मानते थे कि समाज और देश की उन्नति शिक्षा और विज्ञान को अपनाने से ही सम्भव हो सकती है। अतः सभी ने शिक्षा ग्रहण करने पर जोर दिया विशेषकर स्त्री शिक्षा पर ज्यादा ध्यान दिया गया। शिक्षा के प्रचार-प्रसार से दो प्रकार की अवधारणाएँ विकसित हुईं। एक तो मनुष्य समाज का परिचय मानवतावादी दृष्टिकोण से हुआ और दूसरी ओर अंग्रेज़ों द्वारा भारतीय संस्कृति विरोधी अभियान के बारे में पुनर्विचार के लिए भी भारतीय समाज विवश हुआ।

अंग्रेज़ों की दोहरी नीति सभी समाज-सुधारक जानते थे। कृषि और औद्योगिक विकास न होने के कारण भारतवर्ष में विपन्नता का वातावरण था। नवजागरण के बाद सभी भारतीयों ने अपने अधिकारों की बात उठाई।

इन्होंने व्यक्ति के अस्तित्व को महत्त्व देते हुए समानता के तत्त्वों पर आधारित आन्दोलन की रचना की। इन आन्दोलनों के माध्यम से आन्दोलनकारी यह चाहते थे कि चाहे जैसे भी हो लेकिन, भारतीयों के मन का खोया हुआ आत्मविश्वास और राष्ट्र के अतीत के प्रति उनमें सम्मान की भावना का संचार होना चाहिए। राष्ट्र की अस्मिता के लिए सभी को एकजुट होकर कार्य करना चाहिए। सुधारकों ने इसके लिए सांस्कृतिक जागरण का भी कार्य किया। वे अपनी संस्कृति की महत्ता से सभी का परिचय करवा रहे थे। जिसमें तात्कालिक विचारकों और रचनाकारों ने भी अपना सार्थक योगदान दिया। इस प्रकार उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में अंग्रेज़ों द्वारा भारतीय सभ्यता और संस्कृति को हीन बताने का भारतीयों ने भरसक विरोध किया। अंग्रेज़ों द्वारा विकसित प्राच्य विद्या को राष्ट्रहित के लिए घातक तथा गुलामी का साधन बताया गया। भारतीय विचारकों ने भारतीय सभ्यता और संस्कृति के रक्षार्थ अपनी पारम्परिक विद्या का गौरवगान किया। जिसके कारण भारतीय और पाश्चात्य सभ्यता के बीच द्वन्द्वात्मक स्थिति उत्पन्न होने लगी। शासन-व्यवस्था अंग्रेज़ों के अधीन थी अतः शिक्षा के क्षेत्र में भी अंग्रेज़ी भाषा का विस्तार हुआ। किन्तु नवजागरण ने भारतीय भाषाओं को बढ़ावा दिया। खड़ीबोली हिन्दी गद्य एवं पद्य दोनों विधाओं में समान रूप से प्रयुक्त होने लगी। खड़ीबोली हिन्दी प्रयोग के साथ-साथ गद्य-विधा का विकास हुआ। साहित्यिक दृष्टि से भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का अवदान महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ। गद्य के विकास से साहित्य नाटक, निबन्ध, कहानी, उपन्यास जैसी अन्य विधाएँ विकसित होने लगीं। पश्चिमी विद्वानों द्वारा भारतीय साहित्य में रुचि दिखाने के कारण कलकत्ता में फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना हुई। और खड़ीबोली हिन्दी में साहित्य-सृजन होने लगा। किन्तु इस आधार पर अंग्रेज़ी शिक्षा पद्धति को नवजागरण की प्रेरणा नहीं कहा जा सकता। क्योंकि उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अंग्रेज़ी शासन का अत्याचार इतने चरम पर पहुँच चुका था कि उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया तो निश्चित थी। इस नवजागरण और सांस्कृतिक चेतना का सम्बन्ध तात्कालिक समाज और राजनैतिक आवश्यकताओं से था। कालान्तर में हिन्दी रचनाकारों के साहित्य में भी नवजागरण की प्रेरणा अवतरित हुई। रचनाकारों ने नवजागरण से प्रेरित होकर भारतीय सभ्यता और संस्कृति को बचाने और उसके प्रति गौरव की भावना जगाने वाला साहित्य रचा। इस प्रकार भारतीय नवजागरण सांस्कृतिक चेतना की अभिव्यक्ति है।

2.2.3. नवजागरण की अवधारणा

भारतीय परिवेश में उन्नीसवीं शताब्दी के दौरान भारतीय और पश्चिमी संस्कृति का जो संक्रमण हुआ उससे यहाँ सांस्कृतिक, धार्मिक और राजनैतिक दृष्टि से एक नवचेतना का संचार हुआ जिसे कई नामों से जाना जाता है जैसे रिनेसाँ, पुनर्जागरण, पुनरुत्थान, नवजागरण आदि। नवजागरण भारत के अलावा विश्व के अन्य देशों में धर्म, कला, विज्ञान जैसे अलग-अलग क्षेत्रों में हुआ। पाँचवीं से तेरहवीं सदी के बीच यूरोपीय देशों में पुरातन सभ्यताओं के पतन के बाद चौदहवीं सदी से ये सभ्यताएँ नयी चेतना को ग्रहण करते हुए पुनः अंकुरित होने लगीं। उल्लेखनीय है कि यह नवचेतना यूरोप में भी मध्यकाल के बाद आधुनिकता के आगमन के साथ जागी। फ्रांस में इस नयी चेतना को 'रिनेसाँ' कहा गया। 'रिनेसाँ' शब्द का अर्थ होता है 'पुनर्जागरण' अर्थात् पुनः जागना। इस प्रकार 'रिनेसाँ' का अर्थ है – 'एक ऐसी अवधारणा जो पुरातन सभ्यता और संस्कृति को आधुनिक विकास के साथ अपने समकालीन अथवा तात्कालिक परिवेश के अनुरूप ढालने या परिवर्तित करने पर बल देती हो।"

रिनेसाँ की सर्वप्रथम कल्पना इटली के नवजागरण के इतिहासकार वर्कहाट ने की थी । रिनेसाँ मध्ययुग और आधुनिक युग के बीच की कड़ी है । कोसेल इनसाइक्लोपीडिया में यूरोपियन रिनेसाँ की व्याख्या करते हुए इसे यूरोपीय सांस्कृतिक इतिहास का वह काल एवं बौद्धिक आन्दोलन बताया गया है जिसे परम्परागत रूप से मध्यकाल की समाप्ति और आधुनिककाल के आरम्भ में देखा गया । रिनेसाँ वस्तुतः कला और संस्कृति की पुनर्चेतना है । आधुनिकता के प्रभाव से यूरोप में भी व्यक्तिगत चेतना का विकास हुआ । रिनेसाँ के अन्तर्गत जिन परिवर्तनों की बात कही गई वे सभी मध्ययुगीन परिस्थितियों की प्रतिक्रियाएँ ही हैं जिन पर आधुनिकता का व्यापक प्रभाव पड़ा । रिनेसाँ का उद्देश्य था मानव जीवन को उसकी पूर्ण वास्तविकता के साथ प्रस्तुत करना । भारत से पहले यूरोपीय देशों में धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक क्षेत्रों में परिवर्तन और सुधारों का शंखनाद हो चुका था । लेकिन इसकी पृष्ठभूमि अलग थी । मध्ययुगीन विलासिता और अत्यन्त धर्मान्धता का स्थान वास्तविकता और विश्लेषण प्रवृत्ति ग्रहण करती जा रही थी । जीवन में मनुष्य के अस्तित्व को महत्त्व मिला । सामाजिक और धार्मिक क्षेत्रों सुधार हुआ और विज्ञान तथा तकनीकी विकास को बढ़ावा मिला ।

भारतवर्ष में नवजागरण का सूत्रपात 19वीं सदी में हुआ जब भारतीय सभ्यता और संस्कृति पश्चिमी सभ्यता और संस्कृति से संक्रमित हो रही थी । नवजागरण के फलस्वरूप यहाँ के धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक क्षेत्रों में नवचेतना विकसित होने लगी थी । यूरोप का रिनेसाँ ही भारत में नवजागरण या पुनर्जागरण के रूप में प्रयुक्त होने लगा । नवजागरण काल के समय भारतवर्ष में धार्मिक और सामजिक रूप से कई कुरीतियाँ विद्यमान थीं । जिनका उच्चाटन नवजागरण के माध्यम से हो सका । नवजागरण ने मनुष्य में विश्लेषण की प्रवृत्ति को जन्म दिया जिससे प्रत्येक मनुष्य सही और गलत की तुलना कर पाने में समर्थ हुआ । इसी आधार पर डॉ॰ रामविलास शर्मा सामाजिक और सांस्कृतिक आन्दोलनों को नवजागरण के अन्तर्गत परिभाषित करते हैं । यद्यपि यूरोप के नवजागरण का सम्बन्ध कला और संस्कृति के क्षेत्रों में हुए परिवर्तनों से रहा किन्तु भारत में एक और पक्ष नवजागरण का पर्याय बना और वह था स्वतन्त्रता आन्दोलन । सन् 1857 ई. में हुए सैनिक-विद्रोह के बाद भारत में राजनैतिक हलचलें प्रारम्भ हो गईं । अतः यह कहना गलत नहीं होगा कि, भारतवर्ष में नवजागरण और स्वतन्त्रता आन्दोलन समानान्तर रूप से आगे बढ़े । स्वतन्त्रता आन्दोलन ने नवजागरण से ही प्रेरणा ग्रहण की । इसीलिए इसे नवजागरण का एक हिस्सा माना जा सकता है । जिसने न केवल सामाजिक क्षेत्र में सुधारवादी कार्य किया बल्कि राजनैतिक रूप से भी सुधारवादी दृष्टिकोण को अपनाया । भारतीय नवजागरण और यूरोपीय नवजागरण में अन्तर यही है कि यहाँ का नवजागरण अंग्रेज़ों की पराधीनता के दौरान आया जबकि यूरोप में इस प्रकार की कोई स्थिति नहीं थी । इसीलिए भारतीय नवजागरण में राष्ट्रीयता और समाज-सुधार जैसे मुद्दे विशेषकर दिखाई देते हैं । नवजागरण ने रिनेसाँ की धर्मनिरपेक्षता, मानवतावाद और प्राचीन संस्कृति पर अपनी अवलम्बिता का अनुकरण किया । किन्तु प्राचीन संस्कृति पर अवलम्बिता के साथ-साथ उसमें युगसापेक्ष सुधारों को भी मान्य किया ।

रिनेसाँ की तर्ज पर नवजागरण में भी मानवतावादी दृष्टिकोण को महत्त्व दिया गया । जिसके आधार पर मनुष्य का अस्तित्व, उसकी व्यक्तिगत अनुभूतियों जैसे तत्त्वों को अर्थ मिला । अस्तित्ववादी दृष्टिकोण के कारण ही प्रत्येक क्षेत्र में मनुष्य को सम्बन्धित ज्ञान में उसकी कुशलता के कारण ही सराहा गया । ज्ञान के आधार पर

मनुष्य विज्ञान और तकनीकी से जुड़ा और नये-नये अविष्कारों को प्रोत्साहन मिला। भारतीय नवजागरण ने न केवल प्राचीन संस्कृति को अपनाया अपितु उसमें पश्चिमी ज्ञान और विज्ञान तथा तकनीकी को जोड़कर एक नये विचार का पोषण किया। भारतीय परिवेश में नवजागरण के सन्दर्भ में दो विचारधाराएँ चलीं। एक विचारधारा वह थी जो यूरोपीय सांस्कृतिक उत्थान कोमहत्त्व देकर राजा राममोहन राय के अवदान को सांस्कृतिक पुनरुत्थान और अतीत गौरव का प्रतीक मान रही थी। तो वहीं दूसरी ओर एक ऐसा भी वर्ग था जो नवजागरण काल में सामाजिक और धार्मिक रूप से हुए क्रान्तिकारी परिवर्तनों को एक उन्नत भविष्य के चिह्न के रूप में मान्यता दे रहा था। इन दोनों ही प्रवृत्तियों में एक बात तो समान थी कि दोनों ही परम्परावादी नहीं थे। अपितु वे उसमें एक सापेक्षिक परिवर्तन की अपेक्षा करते थे। प्रायः सभी ने रूढ़िवादी और पतनकारी परम्पराओं का विरोध किया है। अर्थात् नवजागरण की परिभाषा अपनी आवश्यकतानुसार बदलती रही है। किन्तु सभी ने मानव के अस्तित्व, वैज्ञानिक चिन्तन, मनुष्य की व्यक्तिगत अनुभूतियाँ, राष्ट्रीयता जैसे तत्त्वों पर व्यापक विचार किया है।

उन्नीसवीं सदी में प्रादुर्भूत नवजागरण की अवधारणा के कई आयाम दिखाई देते हैं। नवजागरण काल में ही राष्ट्रीयता की भावना का उदय हुआ। नवजागरण काल में ही सामाजिक, धार्मिक क्षेत्र में सुधार-कार्य प्रारम्भ हुए। नवजागरण काल में ही वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास हुआ और अलौकिकता के स्थान पर लौकिकता की प्रतिष्ठापना हुई। अर्थात् नवजागरण ने मानव समाज में एक ऐसी अवधारणा को विकसित किया जिसमें तार्किक विश्लेषण, मनोविज्ञान, मनुष्य में समानता, देश-प्रेम, मानव जीवन की वास्तविकता को लेकर नवीन मूल्य समाहित हुए थे। नवीन चेतना से प्रेरित होकर नवजागरण ने सभ्यता और संस्कृति का नये सिरे से मूल्यांकनकिया। भारतीय समाज में हुए विभिन्न सुधार इसी मूल्यांकन के परिणामथे।

2.2.4. परिस्थितियाँ

किसी भी कालखण्ड का नामकरण तात्कालिक प्रवृत्तियों के अनुरूप होता है। और इन प्रवृत्तियों के निर्माण में कुछ परिस्थितियाँ मुख्य भूमिका निभाती हैं। अंग्रेज़ों ने आगमन के पश्चात् अपनी औपनिवेशिक और राजनैतिक महत्त्वाकांक्षा को पूरा करने के लिए भारतीय परिवेश केप्रत्येक क्षेत्र को प्रभावित किया। समाज, धर्म, राजनीति, अर्थव्यवस्था ऐसा कोई भी क्षेत्र उनके प्रभाव से अछूता नहीं रह गया था। अतः नवजागरण काल का अध्ययन करने के लिए उसे प्रभावित करने वाली परिस्थितियों को समझ लेना आवश्यक हो जाता है।

2.2.4.1. राजनैतिक परिस्थिति

भारतवर्ष का नवजागरण काल अंग्रेज़ों की पराधीनता का समय रहा। अंग्रेज़ों के आगमन से पहले भारत कई छोटे-छोटे राज्यों में बिखरा हुआ था। राष्ट्रीय अखण्डता के अभाव के कारण भारतवर्ष में बिखरे इन छोटे-छोटे राज्यों के राजा, सामन्त और जागीरदार आपस में ही लड़ते भिड़ते रहे। अंग्रेज़ों ने इसी बिखराव का लाभ उठाया। प्लासी की लड़ाई जीतकर अंग्रेज़ भारतवर्ष में अपना साम्राज्य स्थापित करने में सफल हो गए थे। व्यापारी बनकर आये अंग्रेज़ों ने राजाओं में फूट डालकर अपनी राजनैतिक रोटियाँ सेंकी। बंगाल में ईस्ट इंडिया कंपनी की स्थापना

के बाद उनकी व्यापारिक और राजनैतिक महात्वाकांक्षा साकार होने लगी। बंगाल में ईस्ट इंडिया कंपनी के माध्यम से प्रविष्ट हुए अंग्रेज़ धीरे-धीरे बंगाल पर अधिकार जमा लेने के बाद उत्तर भारत की ओर बढ़ने लगे। इसी दौरान भारत में सांस्कृतिक संक्रमण होने लगा। अंग्रेज़ भारतीय संस्कृति को हेय बताने के लिए नानाविध प्रयास कर रहे थे। अंग्रेज़ी शिक्षा और अंग्रेज़ी शासन-व्यवस्था का तीव्रतापूर्वक संचार किया जा रहा था। भारतीय बुद्धिजीवी वर्ग के बीच दो अवधारणाएँ पनपने लगीं। एक अवधारणा वह थी जो विज्ञान और तकनीकी का आधार लेते हुए भारतीय सभ्यता और संस्कृति की नये सिरे से पड़ताल करने में जुट गई और दूसरी अवधारणा सभ्यता और संस्कृति की वास्तविकता को खोजने में लग गई। ऐसी दुविधाजनक स्थिति में सम्पूर्ण भारतवर्ष को अपने अधीन कर लेना अंग्रेज़ों के लिए आसान नहीं था। भारतीयों ने अंग्रेज़ी शासन-व्यवस्था का विरोध किया। भारतीय इतिहास में ऐसे कई विद्रोह दर्ज हैं जो अंग्रेज़ी शासन-व्यवस्था के विरुद्ध हुए थे।

बंगाल को अपने अधीन कर अंग्रेज़ आगे बढ़े लेकिन मराठा और सिक्खों ने उन्हें आगे बढ़ने से रोका। किन्तु अंग्रेज़ों ने अपनी कूटनीति के बल पर सन् 1803 ई. में मराठों और सन् 1849 ई. में सिक्खों को पराजित कर भारतवर्ष पर अपना साम्राज्य स्थापित कर ही लिया। भारत पर राज करने के लिए उनकी 'फूट डालो और राज करो' की नीति कारगर सिद्ध हुई। धीरे-धीरे अंग्रेज़ों ने भारतीयों पर अत्याचार प्रारम्भ कर दिए। अंग्रेज़ी शासन में भारतीयों का दमन और शोषण प्रारम्भ हुआ जिसके कारण भारतीय जनमानस में अंग्रेज़ी शासन के प्रति विद्रोह की भावना पनपी और सन् 1857 ई. के सैनिक-विद्रोह के समय इस विद्रोही भावना का विस्फोट हुआ।

अंग्रेज़ों ने अपनी कूटनीति से इस विद्रोह को भी विफल कर दिया। किन्तु शासन की बागडौर ईस्ट इंडिया कंपनी के हाथ से चली गई और महारानी विक्टोरिया ने शासन की बागडौर अपने हाथ ले ली। सन् 1857 ई. के सैनिक-विद्रोह के फलस्वरूप महारानी विक्टोरिया ने प्रशासन में कई परिवर्तन किए। इन परिवर्तनों में विक्टोरिया ने प्रशासन में भारतीयों के प्रतिनिधित्व की बात कही थी। किन्तु रानी विक्टोरिया ने भी भारतीय समुदाय के साथ पक्षपात ही किया। यद्यपि रानी विक्टोरिया के शासनकाल में ब्रिटिश शासन बहुत सफल रहा। किन्तु भारतीयों के प्रति पक्षपात और कूटनीतिक रवैये तथा नवजागरणकालीन चेतना के कारण भारतीय समुदाय में अंग्रेज़ी शासन के प्रति विरोध और देश के प्रति राष्ट्रीयता की भावना भी जाग्रत हुई। अतः भारतीयों में जो राष्ट्रीयता की भावना जागी वह तात्कालिक राजनैतिक अराजकता का परिणाम थी। कई विद्वान् स्वतन्त्रता आन्दोलन को भी नवजागरण से प्रेरित मानते हैं। नवजागरण के कारण ही भारतीयों को नवदृष्टि मिली और भारतीय सभ्यता और संस्कृति के साथ-साथ राष्ट्रीय चेतना का उदय हुआ। अंग्रेज़ों के भेदभावपूर्ण व्यवहार के कारण देश की एकता और अखण्डता के साथ-साथ ही भारतीयों के साथ हो रहे भेदभाव को नष्ट करने के प्रयास से ए.ओ. ह्यूम के नेतृत्व में दिसंबर 1885 में भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस की स्थापना की गई। सामाजिक और राजनैतिक उत्थान की नीति के कारण भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का विस्तार हुआ और भारतीय प्रतिनिधियों ने भी इसमें हिस्सा लिया। भारतीय प्रतिनिधियों के कारण राष्ट्रीय कांग्रेस के साथ भारतीय समुदाय भी जुड़ता गया। जिसके परिणामस्वरूप भारतीय स्वतन्त्रता की रूपरेखा तय हुई और भारतवर्ष स्वाधीनता की ओर अग्रसर हुआ।

2.2.4.2. सामाजिक परिस्थिति

नवजागरण काल से पूर्व भारतीय समाज में धार्मिक और सामाजिक जड़ताएँ महज रूढ़ी और परम्परा के नाम पर संचार कर रही थीं। तार्किक और समाज-सापेक्षता की दृष्टि से उनका कोई औचित्य नहीं था। ऐसे में ये परम्पराएँ भारतीय समुदाय के लिए विशेषकर घातक हो चली थीं। आधुनिककाल के आगमन के साथ भारतीय संस्कृति पश्चिमी संस्कृति के सम्पर्क में आई और इन शोषणकारी परम्पराओं का पुनर्विश्लेषण प्रारम्भ हुआ। यह दौर नवजागरण का था। नवजागरणकाल में अंग्रेज़ों ने अपनी संस्कृति को भारतीयों पर थोपने का भरसक प्रयास किया। अपनी गतिशीलता के कारण पश्चिमी सभ्यता का प्रभाव भारतीय समुदाय पर भी पड़ने लगा था। किन्तु बाहरी संस्कृति को हावी होता देख भारतीय बुद्धिजीवी वर्ग भी शान्त न रह सका। भारतीयों ने पश्चिमी संस्कृति की गतिशीलता को ग्रहण किया। परिणामतः भारतीय समाज में जड़ताओं के उन्मूलन को बढ़ावा मिला। नवजागरण ने समाज को एक नयी दृष्टि प्रदान की और विभिन्न परम्पराओं और आस्थाओं के बारे में उदारता के साथ सोचने के लिए विवश भी किया। सामाजिक रूप से सुधार-कार्य प्रारम्भ हुए। सुधारवादियों ने भारतीय अतीत गौरव का सार्थक उपयोग कर समाज में नवचेतना जगाई।

उल्लेखनीय है कि भारतीय समाज की कुप्रथाओं, रूढ़ियों, परम्पराओं का सबसे ज्यादा दुष्परिणाम स्त्री-समाज पर हो रहा था। अतः सुधारवादियों ने सबसे पहले स्त्री-समाज की दशा को सुधारने का प्रयास किया। सतीप्रथा और बालविवाह का विरोध, विधवा विवाह की हिमायत, पर्दाप्रथा का विरोध आदि इसी सुधारवादी आन्दोलन का हिस्सा थे। सुधारवादियों ने यह प्रमाणित करने का प्रयास किया कि समाज में व्याप्त उक्त महिला विरोधी प्रथाओं का भारतीय संस्कृति से कोई सम्बन्ध नहीं है और न ही ये किसी भी प्रकार से हमारी सभ्यता का हिस्सा हैं अतः इन कुप्रथाओं को प्रतिबन्धित करना चाहिए। राजा राममोहन राय ने बंगाल में ब्रह्मसमाज की स्थापना कर सुधारवादी आन्दोलन को आगे बढ़ाया। महर्षि दयानन्द सरस्वती, पण्डित ईश्वरचंद विद्यासागर आदि ने नारी जीवन में सुधार के लिए व्यापक प्रयास किए। सुधारवादियों द्वारा नवजागरणकाल में सामाजिक बुराइयों को समूल नष्ट करने के लिए कई आन्दोलन किए गए। इन्हीं आन्दोलनों से प्रभावित होकर भारतीय समाज पुनरुत्थान हेतु जाग्रत हुआ।

अंग्रेज़ों ने भारतीय संस्कृति की न्यूनता का प्रदर्शन किया था। किन्तु सुधारवादियों ने भारतीय संस्कृति का पुनर्विश्लेषण करके उसका गौरवगान किया जिसमें महर्षि दयानन्द सरस्वती का प्रयास विशेष स्थान रखता है। स्वामी जी ने 'सत्यार्थ प्रकाश' की रचना की जिसमें सभी धर्मों का विश्लेषण किया गया है। ग्रन्थ के अध्ययन से वैदिक धर्म और संस्कृति की श्रेष्ठता का परिचय मिल जाता है। सुधारवादियों के ऐसे बुनियादी प्रयासों के कारण भारतीय जनमानस का खोया हुआ आत्मविश्वास फिर से जाग उठा। शिक्षा के प्रचार-प्रसार के कारण शिक्षित वर्ग कुप्रथाओं का विरोध करने लगा। समाज के उत्थान में जातिप्रथा सबसे बड़ी बाधा थी। वस्तुतः जाति-व्यवस्था एक ऐसी व्यवस्था थी जो समाजोत्थान में तो आड़े आ ही रही थी साथ ही राष्ट्रीय एकता और अखण्डता को भी चोट पहुँचा रही थी अतः सुधारकों ने इसके विरुद्ध भी संघर्ष किया। नवजागरण के कारण ही समाज में शिक्षा, विज्ञान, तकनीकी जैसे मुद्दों को प्रोत्साहन मिला।

अंग्रेज़ हमेशा से यही चाहते थे कि भारतीय संस्कृति पूर्णतः नष्ट होकर पाश्चात्य संस्कृति में विलीन हो जाए और वे समूचे भारतवर्ष पर निर्बाध होकर शासन करते रहें। उनकी नीतियाँ भी उनकी इसी गतिविधि की ओर इशारा करती रहीं। कई ईसाई मिशनरियों ने भारतीय समाज के निम्न तबके के लोगों लालच दिखाकर उनका धर्मान्तरण करना भी आरम्भ कर दिया था। किन्तु सुधारवादियों ने अंग्रेज़ों की इस राजनैतिक मंशा को पूरा नहीं होने दिया। भारत में कई धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक संगठनों ने एकत्रित रूप से प्रयास कर अंग्रेज़ों की नीतियों को उलटकर रख दिया। इस प्रकार कहा जा सकता है कि भारतीय जनजीवन में आया सामाजिक सुधार नवजागरण से अनुप्रेरित रहा। नवजागरण ने ही जड़ता में चेतना उत्पन्न की।

2.2.4.3. आर्थिक परिस्थिति

अंग्रेज़ भारत में व्यापार के लिए आए थे किन्तु यहाँ की राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक सम्पन्नता देखकर उनके मन में साम्राज्य स्थापित करने की इच्छा जाग उठी, जिसमें वे सफल भी हुए। ईस्ट इंडिया कंपनी के माध्यम से अंग्रेज़ भारतीय परिक्षेत्र में प्रविष्ट हो पाए थे। अंग्रेज़ों के आगमन से पूर्व भारत की आर्थिक स्थिति दयनीय नहीं थी। किन्तु अंग्रेज़ों की राजनैतिक मंशा ने यहाँ की आर्थिक स्थिति पर बुरा प्रभाव डाला। शोषण की नीयत से अंग्रेज़ों द्वारा भारतीय समुदाय के प्रति ऐसी नीतियाँ लादी गईं जिससे भारतीय जन समुदाय बुरी तरह प्रभावित हुआ। लार्ड कार्नवालिस ने बंगाल, बिहार और उड़ीसा में ज़मींदारी के माध्यम से किसानों पर भारी लगान लादकर उसे लगान चुकाने के लिए विवश किया गया। चूँकि उस समय अधिकांश भारतीय जनता खेती-किसानी पर ही निर्भर थी अतः इस प्रकार की नीति से समाज में गरीबी, बेरोजगारी, भुखमरी की समस्या उत्पन्न होने लगी। कई श्रमिकों को अंग्रेज़ों द्वारा स्थापित उद्योगों में ही काम करने के लिए विवश किया गया। भारत कच्चे सूत का निर्यात करता था किन्तु अंग्रेज़ों ने इसके निर्यात पर प्रतिबन्ध लगाकर यहाँ के उद्योगों को ही नष्ट कर दिया। भारत में ही निर्मित सामान महंगे दामों में बेचा जाता था जिससे यहाँ के उद्योग धंधे अपने आप ठप्प होने लगे फलस्वरूप बेरोजगारी बढ़ी। यहाँ के श्रमिकों के साथ अत्याचार करते हुए अंग्रेज़ों ने उनसे जबरन नील, जूट और कपास की खेती करवायी। सन् 1859 ई. में नील की खेती को लेकर अंग्रेज़ और भारतीय मज़दूरों में संघर्ष भी हुआ। अंग्रेज़ी नीतियों का भारतीय अर्थव्यवस्था पर इतना बुरा प्रभाव पड़ा कि सन् 1860 ई. में अकाल की स्थिति आ गई।

अंग्रेज़ों ने भारतीय अर्थव्यवस्था को चारों ओर से घेर लिया था। अंग्रेज़ यहाँ से जीवनावश्यक सामान को सस्ते दामों में निर्यात करते थे और विदेशों से सामान को महंगे दामों में आयात करके भारत का आर्थिक शोषण करते रहे। आयात और निर्यात के इस चक्रव्यूह में भारतीय आर्थिक व्यवस्था चरमरा गई। अंग्रेज़ों ने भारतीय किसानों को भूमिहीन बनाकर उनका शोषण किया। कृषि-विरोधी नीति के कारण कृषि उपज कम होती गई। और किसान कंगाल होते गए। अंग्रेज़ों ने लगान वसूला और साहूकारी ने किसानों से भारी ऋण के कारण उनकी ज़मीनें छीन ली और उन्हें भारी कर्ज लादकर दबा दिया। परिणाम यह हुआ कि किसान खेती-किसानी छोड़कर मजदूरी के लिए पलायन करने लगे।

अंग्रेज़ों ने भारतीयों के मुख्य आय-स्रोत पर ही आघात किया था जिससे भारतीय अर्थव्यवस्था पर दुष्परिणाम होना स्वाभाविक ही था। भारतीय समाज आर्थिक आधार पर विभाजित होने लगा। नवजागरणकाल में रेल और विभिन्न संचार माध्यमों का विकास प्रारम्भ हुआ। पूँजीवादी उद्योगों ने भारत में निवेश प्रारम्भ किया जिससे भारतीय पूँजीवाद को बढ़ावा मिला। किन्तु इसका लाभ महाजनों और साहूकारों के साथ पूँजीपतियों ने उठाया। समग्रतः अंग्रेज़ों की कृषि-विरोधी और भारतीय अर्थव्यवस्था-विरोधी नीति के कारण भारतीय अर्थव्यवस्था ढहोमान हो गई। अंग्रेज़ अपना साम्राज्य स्थापित करने के लिए यही चाहते भी थे किन्तु इसकी प्रतिक्रिया नवजागरणकाल में उभरकर सामने आई।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भारत में नवजागरणकाल के लिए तात्कालिक परिस्थितियाँ कारणीभूत थीं। पश्चिम की तरह यहाँ कला और साहित्य के क्षेत्र से परे जाकर राष्ट्रीय चेतना के आलोक में नवजागरण हुआ। नवजागरण यहाँ अंग्रेज़ों की शासन-व्यवस्था की प्रतिक्रियास्वरूप प्रविष्ट हुआ और इसके माध्यम से भारतीयों में संगठन शक्ति का विकास हुआ। पश्चिमी संस्कृति के विपरीत राष्ट्रीय अखण्डता की भावना का विकास हुआ। साहित्य-जगत् भी इस परिवर्तन से अछूता नहीं रहा। साहित्यकारों ने भी अपना दायित्व निभाते हुए नवजागरणकालीन चेतना को प्रोत्साहन दिया।

2.2.5. पाठ-सार

भारत में अंग्रेज़ों का आगमन सांस्कृतिक, धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक क्षेत्र में परिवर्तन का सूचक रहा। अंग्रेज़ी सभ्यता और संस्कृति ने भारतीय संस्कृति और भारतीय जनमानस को प्रभावित करने का प्रयास किया। अंग्रेज़ों ने प्लासी की लड़ाई जीतकर भारतवर्ष पर अधिकार जमाया था। ईस्ट इंडिया कंपनी के माध्यम से भारत आने वाले व्यापारी यहाँ की राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक उदासीनता देखकर यहाँ के शासक बन गए। सांस्कृतिक संक्रमण के कारण भारतीय समाज में व्याप्त सामाजिक और धार्मिक जड़ता प्रभावित हुई। और भारतीय समाज में सामाजिक सुधार प्रारम्भ हुए। भारत में स्त्री-समाज की स्थिति में सुधार आया। शिक्षा के प्रति जागरूकता बढ़ी। समाज और जातीय सुधार से राष्ट्रीयता की भावना को बल मिला और राष्ट्रीय आन्दोलन सफल हो पाया। भारतीय परिक्षेत्र में नवजागरण की दृष्टि से सामाजिक सुधार और राष्ट्रीयता का विकास बहुत बड़ी उपलब्धि रहे। ईसाई धर्म के प्रचार-कार्य के बीच भारतीय बुद्धिजीवी वर्ग ने भारतीय सभ्यता और संस्कृति के अतीत का गौरवगान किया। नवीन विश्लेषण के साथ सांस्कृतिक महिमा का प्रस्तुतीकरण हुआ। अंग्रेज़ी शासन में सांस्कृतिक संक्रमण के साथ उनकी व्यवस्था के प्रति हुए विद्रोह से भारतीयों में राष्ट्रीयता विकसित हुई। यद्यपि कुछ विद्वान् अंग्रेज़ी शासन-व्यवस्था को भारत के लिए उपयुक्त मानते रहे किन्तु कालान्तर में राजनैतिक महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति के कारण यह मान्यता विपरीत होती गई। समाज-सुधार के कारण संगठित रूप से भारतीय जनमानस अंग्रेज़ी शासन के विरुद्ध खड़ा हो पाया। भारतीय परिवेश में हुए इन परिवर्तनों के पीछे नवजागरणकालीन परिस्थितियों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। तत्कालीन साहित्य में नवजागरण की अभिव्यक्ति हुई है।

2.2.6. अभ्यास-प्रश्न

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. भारतीय परिवेश में नवजागरण का प्रादुर्भाव कब हुआ ?

(क) बीसवीं सदी में

(ख) उन्नीसवीं सदी में

(ग) उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में

(घ) इक्कीसवीं सदी में

2. सन् 1857 ई. का विद्रोह कहाँ से उत्पन्न हुआ ?

(क) अंग्रेज़ी सत्ता से

(ख) मुग़ल सत्ता से

(ग) सैनिक छावनी से

(घ) समाज-सुधारकों से

3. सामाजिक रूप से नवजागरण में किसे महत्त्व दिया गया ?

(क) गुलामी

(ख) समाज-सुधार

(ग) खेती

(घ) मजदूरी

4. भारतीय परिवेश में निम्नलिखित में से किसे नवजागरण का प्रणेता माना जाता है ?

(क) हजारीप्रसाद द्विवेदी

(ख) राजा राममोहन राय

(ग) महावीरप्रसाद द्विवेदी

(घ) महारानी विक्टोरिया

लघूत्तरीय प्रश्न

1. भारत में अंग्रेज़ किस रूप में आए थे ? उनकी प्रारम्भिक गतिविधियों की जानकारी दीजिए।
2. भारत पर साम्राज्य स्थापित करने के लिए अंग्रेज़ों ने कौन सी नीति अपनायी ?
3. अंग्रेज़ों ने किस कंपनी की स्थापना की ? इस कंपनी का मुख्य उद्देश्य क्या था ? कंपनी की प्रारम्भिक गतिविधियों की जानकारी दीजिए।

4. सन् 1857 के विद्रोह के बाद अंग्रेज़ी शासन की कमान किसे सौंपी गई ? नव नियुक्त प्रशासक का भारतीयों के प्रति कैसा रुझान था ? सामान्य परिचय दीजिए।

दीर्घोत्तरीय प्रश्न

1. नवजागरणकालीन सांस्कृतिक चेतना को स्पष्ट कीजिए।
2. भारतीय नवजागरण की पृष्ठभूमि की विवेचना कीजिए।
3. नवजागरण की अवधारणा को विस्तारपूर्वक समझाइए।
4. नवजागरणकालीन परिस्थितियों का उद्घाटन कीजिए।

2.2.7. सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

01. हिन्दी साहित्य का इतिहास, डॉ॰ नगेन्द्र
02. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
03. आधुनिक हिन्दी साहित्य, लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय
04. हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास, खण्ड 1 और 2, गणपतिचन्द्र गुप्त
05. भारतेन्दु पूर्व हिन्दी गद्य, डॉ॰ कान्ति कुमार
06. हिन्दी साहित्य का इतिहास : युग और प्रवृत्तियाँ, डॉ॰ शिवकुमार शर्मा
07. महावीरप्रसाद द्विवेदी और नवजागरण, डॉ॰ रामविलास शर्मा
08. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और हिन्दी नवजागरण की समस्याएँ, डॉ॰ रामविलास शर्मा
09. राष्ट्रीय नवजागरण और भारतेन्दु, शिवकुमार मिश्र
10. भारतेन्दु और हिन्दी भाषा की विकास परम्परा, डॉ॰ रामविलास शर्मा

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 2 : आधुनिककाल : पूर्वपीठिका

इकाई – 3 : हिन्दी कविता और आधुनिकता; हिन्दी कविता की भाषा : ब्रजभाषा बनाम खड़ीबोली, रीतिकाल का विरोध

इकाई की रूपरेखा

2.3.0. उद्देश्य कथन
2.3.1. प्रस्तावना
2.3.2. हिन्दी कविता और आधुनिकता
2.3.2.1. राष्ट्रीयता
2.3.2.2. समाज का यथार्थ वर्णन
2.3.2.3. शृंगारवर्णन
2.3.2.4. नीति और आदर्शपरकता
2.3.2.5. हास्य-व्यंग्य
2.3.2.6. प्रकृति-चित्रण
2.3.2.7. खड़ीबोली का उपयोग
2.3.2.8. अनुवाद
2.3.3. हिन्दी कविता की भाषा : ब्रजभाषा बनाम खड़ीबोली
2.3.4. रीतिकाल का विरोध
2.3.5. पाठ-सार
2.3.6. अभ्यास-प्रश्न
2.3.7. सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

2.3.0. उद्देश्य कथन

प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. हिन्दी कविता में आधुनिकता के प्रभाव को जान सकेंगे।
ii. आधुनिकता के सन्दर्भ में हिन्दी काव्य-प्रवृत्तियों का अनुशीलन करेंगे।
iii. आधुनिकता के परिप्रेक्ष्य में साहित्यिक क्षेत्र में हुए परिवर्तनों से परिचित हो सकेंगे।
iv. खड़ीबोली एवं ब्रजभाषा के विवाद को समझ सकेंगे।
v. आधुनिकता के आलोक में रीतिकाल के विरोध से अवगत हो सकेंगे।

2.3.1. प्रस्तावना

साहित्यिक दृष्टि से आधुनिकता का प्रादुर्भाव उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में हुआ। साहित्य के लिए यह एक नवीनता के समावेशन और परिवर्तन का युग रहा। जिस प्रकार मध्यकाल में मुस्लिम अधिसत्ता का प्रभाव रहा उसी प्रकार अंग्रेज़ी सत्ता जैसी पश्चिमी सभ्यता आधुनिकता के पदार्पण का कारण बनी। पश्चिम के प्रभाव में आते ही तात्कालिक जनजीवन में व्याप्त सामाजिक, सांस्कृतिक जड़ता मुक्ति के साथ विकास और गति के लिए प्रेरित हुई। परिणामतः भारतीय जनमानस के बीच अब तक जो रूढ़िवादिता थी उसका स्थान विज्ञान और तकनीकी लेने लगी। कहने का तात्पर्य यह है कि पश्चिमी सभ्यता ने भारतीय जनजीवन पर मनोवैज्ञानिक प्रभाव डाला। इस समय समूची शासन-व्यवस्था का संचालन अंग्रेज़ों के अधीन थी। जिसका परिणाम यह हुआ कि अंग्रेज़ी शासन-व्यवस्था अपने ढंग से मनमाना शासन चलाकर भारतीय जनजीवन को दुष्प्रभावी कर रही थी। व्यापारिक उद्देश्य की पूर्ति अब सत्ता और शासन में परिवर्तित हो चुकी थी। यानी एक प्रकार से मध्यकाल में भारतीय समाज की जो स्थिति थी उसी की पुनरावृत्ति आधुनिककाल में भी हुई। भेद मात्र सत्ताधारी की भिन्नता का था। इस प्रकार दोनों ही समय भारतीय जनजीवन सत्ताधारी पक्ष से आक्रान्त था। जिसकी प्रतिक्रिया 1857 के विद्रोह में दिखाई दी। यही वह समय था जब स्वतन्त्रता की चिनगारी सुलगने लगी थी। मध्यकाल और आधुनिककाल दोनों ही कालखण्ड के दौरान भारतीय सभ्यता और संस्कृति का किसी अन्य संस्कृति और सभ्यता से प्रभावित होना दिखाई देता है। मध्यकाल में इस अराजकता के प्रति जो विद्रोह सन्त कवियों ने किया था ठीक उसी पृष्ठभूमि में आधुनिककाल के दौरान विभिन्न समाज-सुधारकों ने भी भारतीय संस्कृति के उत्थान का बीड़ा उठाया। भारतेन्दु, महावीरप्रसाद द्विवेदी और छायावादी कवि आदि इसी शृंखला में आते हैं। आगे चलकर कुछ अन्य प्रवृत्तियाँ सक्रिय होती गईं जिन्हें भिन्न-भिन्न नामों से सम्बोधित किया जाता रहा। आधुनिककालीन साहित्यिक प्रवृत्तियाँ अपनी पूर्व परिपाटी से बहुत अलग होती दिखाई देती हैं। साहित्य में विलासिता, शृंगारिकता और नख-शिख वर्णन प्रवृत्तियों को देशभक्ति, सांस्कृतिक चेतना, समाज-सुधार जैसी विचारधाराओं ने आच्छादित कर लिया। साहित्य में अब तक जो भाषायी विषमता थी उसके स्थान पर खड़ीबोली विकसित होने लगी। शिल्प और शैलीगत परिवर्तन आए। अब तक चली आ रही पद्य विधा के साथ-साथ गद्य-विधा में पहली बार साहित्य रचा गया। इसके साथ ही नाटक, एकांकी, उपन्यासादि कई नयी साहित्य विधाएँ सामने आईं। भावों और संवेदनाओं में भी व्यापक परिवर्तन आए। संक्षेप में आधुनिककालीन साहित्य में जो स्वर मिलता है उसमें आदर्शपरक साहित्य, यथार्थपरक साहित्य, स्वच्छन्द साहित्य तथा मनोवैज्ञानिक साहित्य वृत्तियाँ विद्यमान हैं। इनमें आदर्शपरक साहित्य भारतीय सभ्यता और संस्कृति की महिमा बताकर उनके उत्थान की प्रेरणा देता है। यथार्थवादी साहित्य सामाजिक क्रान्ति का और स्वच्छन्द प्रवृत्ति का साहित्य पारम्परिक जड़ता से मुक्ति का सन्देश देता है तो वहीं मनोवैज्ञानिक या मनोविश्लेषण वाला साहित्य अस्तित्व को प्रधानता देता है। हिन्दी कविता में आधुनिकता से प्रेरित ये सभी प्रवृत्तियाँ स्पष्टतः परिलक्षित होती हैं।

हिन्दी की आधुनिक कविता में खड़ीबोली भाषा की प्रतिष्ठापना हुई। इसके पूर्व काव्य के लिए डिंगल, ब्रज, अवधी भाषा का प्रयोग होता रहा किन्तु आधुनिकता के प्रभाव से काव्यभाषा का स्थान खड़ीबोली ने लिया।

राष्ट्रीयता की दृष्टि से सन्देशों के सम्प्रेषण के लिए एक भाषा की नितान्त आवश्यकता थी। ऐसे में खड़ीबोली की व्यावहारिकता पर बल दिया गया। महावीरप्रसाद द्विवेदी ने रचनाकारों को खड़ीबोली में ही सृजनकार्य करने के लिए प्रेरित किया। परिणामतः गद्य के साथ पद्य साहित्य भी खड़ीबोली में सृजित होने लगा। साहित्य में भाषायी एकरूपता के कारण राष्ट्रीयता का भी विकास हुआ। रचनाकारों ने अपने समकालीन परिवेशों को शब्दबद्ध कर जन-जन तक पहुँचाने का कार्य किया। इस दृष्टि से भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और उनके समकालीन रचनाकारों की भूमिका अहम है। आधुनिक कविता की विशेषता यह थी कि पद्य के लिए अब तक चली आ रही ब्रजभाषा की जगह खड़ीबोली का प्रयोग होने लगा था। यद्यपि ऐसे भी कई कवि थे थो काव्य के लिए ब्रज का ही प्रयोग करते थे। किन्तु राष्ट्रीयता के प्रचार और प्रसार के लिए खड़ीबोली को ही महत्त्व दिया जाने लगा था। ब्रजभाषा में वैसे भी जो मृदुल भाव थे वे आधुनिकता के पटल पर वर्तमान संकट की अभिव्यक्ति करने में कमजोर नज़र आ रहे थे। स्वयं भारतेन्दु ने ही सबसे पहले निज भाषा के माध्यम से ही उन्नति कर पाने जैसे महत्त्वपूर्ण तथ्यों को प्रस्तुत किया। उनका मानना था कि हमारी समस्त हृदयगत समस्याओं का समाधान निज भाषा के माध्यम से ही सम्भव है। इसीलिए उन्होंने लोककल्याण की दृष्टि से एक भाषा का प्रचार किया। वे कहते हैं –

निज भाषा उन्नत अहै, सब उन्नति कै मूल।
बिन निज भाषा-ज्ञान कै, मिटे न हिय कै सूल॥

खड़ीबोली जनबोली थी जो देश के अधिकांश हिस्से में भाव-सम्प्रेषण का सशक्त माध्यम थी। अंग्रेज़ों ने भी खड़ीबोली को महत्त्व देकर 'फोर्ट विलियम कॉलेज' की स्थापना कर हिन्दी के अध्ययन की व्यवस्था की थी। जिसमें भाषा मुंशी के तौर पर मुंशी सदासुख लाल इंशा अल्ला खान और लल्लूलाल का बहुत योगदान रहा। कालान्तर में द्विवेदीयुगीन साहित्य ने राष्ट्रीयता की भावनाओं को और भी मुखर किया। आधुनिकता से प्रेरित काव्य में रीतिकाल के प्रति एक प्रकार के विरोध का आभास होता है। चूँकि रीतिकाल में शृंगारिकता और विलासिता साहित्य का प्रधान गुणधर्म हुआ करती थी अतः अधिकांश रचनाकार अपनी रचनाओं में अपने-अपने राजाओं का गुणगान करके उन्हें प्रसन्न करने का प्रयास किया करते थे। उनका काव्य-सृजन सामान्य जीवन से विलग ही था। उन रचनाकारों और राजाओं की इसी प्रवृत्ति के कारण भारतीय राजव्यवस्था पर विदेशी आक्रमण का संकट आ गया और उनकी विलासिता ही गुलामी का कारण भी बनी। किन्तु आधुनिककाल राजनैतिक, सामाजिक संकट का समय था। अतः ऐसे में विलासिता या राजाओं को खुश करने के बजाय उन्हें राष्ट्रीयता के प्रति और अपनी सभ्यता और संस्कृति को बचाए रखने के लिए जाग्रत करना अनिवार्य हो गया था। आधुनिककाल की इस परिस्थिति में रीतिकालीन प्रवृत्तियों का तीव्र विरोध होना स्वाभाविक ही था। प्रस्तुत अध्याय में हम आधुनिकता के दृष्टिकोण से हिन्दी काव्य का अध्ययन करेंगे।

2.3.2. हिन्दी कविता और आधुनिकता

हिन्दी कविता और आधुनिकता का तात्पर्य उन कविताओं से है जो जिन्हें आधुनिककाल में रचा गया। चूँकि आधुनिकता की कोई सीमित परिभाषा नहीं की जा सकती अतः यह कालखण्ड बहुत बड़ा है जिसमें वर्तमान

भी शामिल किया जा सकता है और काफी हद तक भविष्य को भी। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी साहित्य में आधुनिककाल को वि.सं. 1900 से स्वीकार किया है। अर्थात् भारतीय परिवेश में आधुनिकता के चिह्न वि.सं. 1900 यानी सन् 1943 ई. के आसपास से दिखाई देने लगे थे। सन् 1857 ई. का सैनिक-विद्रोह भारतीय पृष्ठभूमि के लिए क्रान्तिकारी घटना रही। यही वह समय था जब भारतीय संस्कृति किसी पश्चिमी संस्कृति केसम्पर्क में आई और उससे प्रभाव ग्रहण करते हुए आधुनिकता का सूत्रपात हुआ। काव्य की दृष्टि से आधुनिकता के कई स्तर मिलते हैं जैसे भारतेन्दु युग, द्विवेदीयुग, छायावादी युग, प्रगति, प्रयोग, समकालीनता आदि। इन सभी कालखण्ड में कवियों की काव्य-प्रवृत्तियाँ तात्कालिक परिवेश के अनुरूप भिन्न-भिन्न दिखाई देती हैं। यद्यपि कवि आधुनिकता को अपनाते हुए नवीन भाव-संवेदनाओं की पृष्ठभूमि पर सृजन-कार्य कर रहे थे किन्तु वे पूर्ववर्ती प्रवृत्तियों से पूर्णतः मुक्त भी नहीं हो पाए थे। ऐसे में आधुनिकता के आरम्भिक दौर की रचनाओं में हमें रीतिकालीन प्रवृत्तियों के अंश दिखाई दे जाते हैं। किन्तु कालान्तर में द्विवेदीयुग तक आते-आते आधुनिकता अपने नवीन जीवन-मूल्यों को ग्रहण करने लगी थी। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी साहित्य के इतिहास में लिखते हैं – "आधुनिक ज्ञान-विज्ञान और टेक्नॉलॉजी के फलस्वरूप उत्पन्न मानवीय स्थितियों का नया, गैर रोमैंटिक और अमिथकीय साक्षात्कार 'आधुनिकता' है। आधुनिकता ने मनुष्य को काफी हद तक बौद्धिकता और तार्किक विश्लेषण की अभूतपूर्व शक्ति प्रदान की।"

आधुनिकता के आते ही काव्य-संवेदनाओं ने भी अपने-आप में परिवर्तन किया। हिन्दी साहित्य में आधुनिकता की दृष्टि से स्वाधीनता-प्राप्ति का स्वर सुनाई देता है। या यूँ कहें कि हिन्दी साहित्य में आधुनिकता की मूल संवेदना में यही भावना विद्यमान थी तो गलत नहीं होगा। इसी कालखण्ड में जनमानस में राष्ट्रीयता की भावना प्रवाहित हुई। अनेक परिवर्तनों और नवीनता के साथ आधुनिकता ने अपना आधार तैयार किया। आधुनिकता के प्रथम चरण को भारतेन्दु युग अथवा पुनर्जागरण युग के नाम से जाना जाता है। नाम से ही स्पष्ट हो जाता है कि यह समय सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, राजनैतिक आदि सभी दृष्टिकोणों से किसी नयेपन की सूचना देता है। पराधीनता के प्रति जाग्रति उत्पन्न करने की कोशिश करता है। पूर्ववर्ती रीतिकालीन वैभव, विलासिता एवं रसिकता की भावना समूल नष्ट तो नहीं हुई थीं किन्तु उनके स्थान पर राष्ट्रीयता की भावनासक्रिय होने लगी। सामाजिक दृष्टि से समाज में व्याप्त विभिन्न विकृतियों के विरुद्ध प्रतिक्रियाएँ सामने आने लगीं। क्योंकि भारतेन्दु युग के कई रचनाकार समाज-सुधारक भी थे। अंग्रेज़ी व्यवस्था के सम्पर्क में आने के बाद कई कुरीतियों के समाप्त होने और नवजीवन के लिए मुक्त आकाश मिलने में भी सहायता मिली जिसका प्रभाव साहित्य पर भी पड़ा। परिवर्तनों के दौर में आधुनिकता ने कई मायने में हिन्दी साहित्य और रचनाकारों को भी प्रभावित किया। आधुनिकता के आलोक में हिन्दी कविताओं में कुछ प्रवृत्तियाँ सामने आईं जिनमें सुधार एवं जनजाग्रति, राष्ट्रीयता, स्वच्छन्दता, प्रगति, समाज का यथार्थ-वर्णन, छन्द-वैविध्य, नीति और आदर्शपरक रचनाएँ, वर्ण्य-विषयों में विविधता एवं व्यापकता, हास्य-व्यंग्य, खड़ीबोली का उपयोग आदि ने आधुनिकता को पोषित किया। हिन्दी कविताओं पर आधुनिकता के उक्त प्रभाव को तत्कालीन रचनागत प्रवृत्तियों के आधार पर समझा जा सकता है।

2.3.2.1. राष्ट्रीयता

हिन्दी साहित्य में आधुनिकता का आगमन होते ही सबसे पहले राष्ट्रीयता के स्वर सुनाई देने लगते हैं। राष्ट्रीयता की यह भावना भारतेन्दुयुगीन कवियों के साथ-साथ द्विवेदीयुग और परवर्ती साहित्य में भी दिखाई देती है। सभी रचनाकारों ने अपने समकालीन परिवेश के अनुरूप अपने काव्य में राष्ट्रीयता के स्वरों को मुखर किया। अंग्रेज़ी शासन-व्यवस्था से आक्रान्त भारतीय जनमानस में राष्ट्रीयता के भाव जगाकर व्यापक पैमाने पर कुशासन का विरोध किया। भारतेन्दुयुगीन कवि जान चुके थे कि अंग्रेज़ी राज-व्यवस्था भारतीयों के साथ अन्याय कर रही है, उनका शोषण कर रही है। वे यहाँ का धन लूटकर विदेश ले जा रहे हैं और भारतवर्ष को गरीबी की ओर उन्मुख करने का प्रयास कर रहे हैं। इसीलिए वे कहते भी हैं कि,

अँगरेज़ राज सुख साज सजे सब भारी।
पै धन विदेस चली जात यहै अति ख्वारी॥

द्विवेदीयुग तक आते-आते राष्ट्रीयता की भावना अपने चरम स्तर तक पहुँच चुकी थी। सामाजिक और सांस्कृतिक पुनरुत्थान का भाव द्विवेदीयुगीन कविताओं का प्रधान गुण रहा। द्विवेदीयुग के अधिकांश कवियों ने राष्ट्रीयता के ओत-प्रोत भाव से काव्य-सृजन किया। इस कालखण्ड के शंकर सर्वस्व, मैथिलीशरण गुप्त, रामनरेश त्रिपाठी, राय देवीप्रसाद, गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' आदि कवियों ने देशभक्ति की रचनाएँ रचीं। शंकर सर्वस्व की निम्नलिखित पंक्तियाँ देश-हित में प्राणों के बलिदान के लिए प्रेरित करती हैं –

देशभक्त वीरों मरने से नेक नहीं डरना होगा।
प्राणों का बलिदान देश की वेदी पर करना होगा॥

मैथिलीशरण गुप्त की रचना 'भारत भारती' में देशभक्ति की प्रखर आवाज सुनाई देती है। जो तत्कालीन समाज को क्रान्ति की प्रेरणा दे रही थी। इसी कारण अंग्रेज़ सरकार ने उस पर प्रतिबन्ध भी लगा दिया था।

2.3.2.2. समाज का यथार्थ वर्णन

तात्कालिक समाज का यथार्थ वर्णन आधुनिकता का एक महत्त्वपूर्ण गुणधर्म रहा है। आधुनिकता से पूर्व का साहित्य अपने राजाश्रय, वैभव और विलासिता के कारण सामान्य जनजीवन के प्रति उदासीन रहा। इस दौर के साहित्य में यथार्थ की जगह कल्पना का विशेष योगदान रहा। और यह एक विशिष्ट वर्ग तक ही सीमित भी था। अतः आधुनिकता के स्पर्श ने कल्पना के स्थान पर वास्तविकता की प्रतिष्ठापना की जिससे सामान्य जनजीवन भी साहित्य के केन्द्र में आ पाया जिससे अब तक की राजनीति में विलासिता और सामान्य जीवन के प्रति जो उदासीनता थी उसका यथार्थ वर्णन होने लगा। परिणामतः समाज की दुरावस्था, लोकजीवन में व्याप्त पीड़ा, अनाचार आदि का वास्तविक वर्णन रचनाकारों ने किया। भारतेन्दुयुगीन कविताओं में सामाजिक जीवन में व्याप्त

कुरीतियों के प्रति विरोध की सशक्त भावना दिखाई देती है। भारतेन्दु मण्डल के ही कवि प्रतापनारायण मिश्र बाल-विधवाओं की समस्या उजागर करते हुए कहते हैं –

कौन करैजो नहिं कसकत,
सुनि बिपति बाल बिधवन की।

इस दौर के अधिकांश कवियों ने समाज-सुधार का भी काम किया। सामाजिक समस्याओं की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट कर उन्हें समूल नष्ट करने के लिए भी कवियों ने प्रेरित किया। सामाजिक यथार्थ के निरूपण का गुण द्विवेदीयुग में मिलता है। अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' की रचना में उच्च वर्ग के लोगों द्वारा निम्न वर्ग के लोगों के प्रति दुर्व्यवहार का वर्णन मिलता है –

आप आँखें खोलकर देखिए
आज जितनी जातियाँ हैं सिर-धरी।
पेट में उनके पड़ी दिखलाएँगी
जातियाँ कितनी सिसकती या मरी॥

2.3.2.3. शृंगारवर्णन

आधुनिकता की दृष्टि से भारतेन्दु युग रीतिकाल और आधुनिककाल के बीच की कड़ी है। अतः विद्वानों ने इस कालखण्ड को सन्धिकाल या संक्रान्तिकाल कहकर भी सम्बोधित किया है। यह ऐसा दौर था जब रीतिकालीन प्रवृत्तियाँ आधुनिकता से आबद्ध होने के कगार पर थीं। ऐसे में रचनाकारों का पूर्ववर्ती आकर्षण से पूर्णतः मुक्त हो पाना सम्भव नहीं था। कई रचनाकार अपने आप को रीतिकाल के मोह से मुक्त नहीं कर पाए थे। शृंगारिकता रीतिकाल की प्रवृत्ति थी। अतः भारतेन्दु युग के कई कवियों बल्कि स्वयं भारतेन्दु ने भी अपने काव्य में शृंगारवर्णन किया है। रीतिकालीन प्रवृत्ति की तरह इनकी रचनाओं में भी राधा-कृष्ण, नायक-नायिकाओं की विभिन्न रूप चेष्टा, नायिका का नख-शिख वर्णन, षडऋतु वर्णन, बारहमासा, नायिकाभेद आदि का वर्णन इस युग में हुआ है। शृंगारिकता का यह भाव भारतेन्दु और बद्रीनारायण 'प्रेमघन' के काव्य में प्राप्त होता है। इन कवियों ने प्रेम की विविध दशाओं का विषद् वर्णन करते हुए रीति-निरूपण किया है किन्तु सांस्कृतिक पुनरुत्थान की प्रवृत्ति के कारण इसी मण्डल के अन्य कवि प्रतापनारायण मिश्र और राधाकृष्ण दास की रचनाओं में शृंगारिकता की प्रवृत्ति दिखाई नहीं देती। इन कवियों के अतिरिक्त इस दौर के अन्य कवियों ने रीति-निरूपण करते हुए शृंगारिक रचनाएँ रची हैं।

2.3.2.4. नीति और आदर्शपरकता

आधुनिककाल की कविताओं में नीति और आदर्श की प्रधानता मिलती है। यद्यपि यह आदर्श द्विवेदीयुगीन कविताओं की प्रवृत्ति रही। रचनाकारों ने प्राचीन ग्रन्थों से आदर्शों को चुनकर उन्हें आधुनिक पटल पर प्रस्तुत करने का प्रयास किया। हरिऔध की रचना 'प्रियप्रवास', मैथिलीशरण गुप्त की 'साकेत', रंग में भंग'

और 'जयद्रथ वध' आदि रचनाओं में नीति और आदर्श के गुण विद्यमान हैं। रीतिकालीन रचनाओं में प्रेम का जो शृंगारिक वर्णन हुआ करता था वह आधुनिककाल में आकर एक आदर्श का रूप ग्रहण करता है। 'प्रियप्रवास' की राधा आधुनिककाल में निःस्वार्थ त्याग की प्रतिमूर्ति प्रतीत होती है। 'साकेत' की उर्मिला प्रिय-वियोग में विलाप न करके परोपकार के लिए उद्यत होती है। अपने प्रियतम को कर्त्तव्य-पथ आगे बढ़ने के लिए वह स्वयं अपने मन को समझाते हुए कहती है – "हे मन तू प्रिय पथ का विघ्न न बन।" इस प्रकार हम पाते हैं कि आधुनिक कविताओं में कवियों ने मिथ्या के स्थान पर आदर्श और नीति को महत्त्व दिया।

2.3.2.5. हास्य-व्यंग्य

भारतेन्दु एवं द्विवेदीयुग दोनों ही कालखण्ड में हास्य-व्यंग्यपरक रचनाएँ रची गईं। किन्तु इनमें कुछ मौलिक और बुनियादी अन्तर मिलता है। जिस प्रकार भारतेन्दु युग में रचनाकारों ने उन्मुक्त रूप से हास्य-व्यंग्य का प्रयोग किया उसकी तुलना में द्विवेदीयुगीन हास्य-व्यंग्यपरक रचनाएँ बहुत हद तक एक मर्यादा में आबद्ध एवं सन्तुलित रूप में लिखी गईं। यद्यपि दोनों ही परिस्थितियों में सामाजिक परिवेश के अनुरूप धर्म, समाज, राजनीति आदि क्षेत्रों में व्याप्त विसंगतियों को केन्द्र में रखकर व्यंग्य लिखे गए। प्रायः अंग्रेज़ी शिक्षा से प्रभावित होकर अपनी मूल सभ्यता और संस्कृति से विमुख होनेवाले भारतीय जनमानस पर हास्य-व्यंग्य करने में कवियों की लेखनी बहुत चली है। आचार्य द्विवेदी स्वयं इस विषय में लिखते हैं –

अचकनु पहिरि बूट हम डाटा बाबू बनेन डेरात-डेरात।
लागेन आवै जाय सभन मां कण्ठु फूट तब बना बतात॥
जब तक हमरे तन मां तनिकौ रहा गाउं के रस का अंसु।
तब तक हम अखबार किताबै लिखि-लिखि कीं उजागर अंसु॥

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने भी अपनी व्यंग्यपरक रचनाओं के माध्यम से तत्कालीन राजनीति और सामाजिक व्यवस्था का व्यंग्यात्मक चित्रण किया है। उनकी रचना 'अन्धेर नगरी' भी तत्कालीन अंग्रेज़ी शासन-व्यवस्था की शोषण-नीति पर किया गया कटाक्ष ही है –

चूरन साहेब लोग जो खाता।
सारा हिन्द हजम कर जाता॥

2.3.2.6. प्रकृति-चित्रण

आधुनिक हिन्दी कविता की पृष्ठभूमि में कवियों ने जो प्रकृति-चित्रण किया है उसमें रीतिकाल की तरह कल्पनागम्यता न होकर प्रकृति का यथार्थ वर्णन हुआ है। यद्यपि भारतेन्दुयुगीन कवियों में रीतिकालीन परम्परा के गुण अवश्य दिखाई देते हैं। वहाँ कवियों द्वारा स्वच्छन्द रूप से प्रकृति के विविध उपादानों के वर्णन में रीति-निरूपण और काव्यशास्त्रीय चमत्कार उत्पन्न किया गया है जबकि द्विवेदीयुगीन कवियों में यह चामत्कारिक प्रवृत्ति कल्पनाधारित न होकर यथार्थपरक हो जाती है। जैसे भारतेन्दुयुगीन कविता में यमुना तट का वर्णन देखिए –

तरनी तनुजा तट तमाल तरुवर बहु छाए।
झुके कूल सौं जल परसन हित मनहु सुहाए॥

वहीं 'प्रियप्रवास' में प्रकृति का वर्णन इन शब्दों में हुआ है –

दिवस का अवसान समीप था।
गगन था कुछ लोहित हो चला॥
तरु शिखा पर थी अब राजती।
कमलिनी कुल बल्लभ की प्रभा॥

इस प्रकार प्रकृति-चित्रण दोनों ही कालखण्डों की प्रवृत्ति अवश्य रही किन्तु उसमें कुछ परिवर्तन आने लगे थे।

2.3.2.7. खड़ीबोली का उपयोग

काव्य में खड़ीबोली का उपयोग आधुनिकता की महत्त्वपूर्ण पहचान थी। भारतेन्दुयुगीन कवि यद्यपि ब्रजभाषा का प्रयोग करते थे किन्तु गद्य की भाषा खड़ीबोली ही थी। कालान्तर में काव्य के लिए ब्रज के स्थान पर खड़ीबोली का उपयोग जोर पकड़ने लगा और द्विवेदीयुग तक आते-आते काव्य के लिए भी खड़ीबोली हिन्दी का पूर्ण उपयोग होने लगा। 'हरिऔध' के 'प्रियप्रवास' को खड़ीबोली का पहला महाकाव्य भी माना जाता है। आधुनिककाल के काव्य में खड़ीबोली हिन्दी को प्रतिष्ठित करने का श्रेय आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी को जाता है जिसमें श्रीधर पाठक और अयोध्यासिंह उपाध्याय का भी सार्थक योगदान रहा है।

2.3.2.8. अनुवाद

भारतेन्दु एवं द्विवेदीयुगीन कवि भारतीय साहित्य के अतिरिक्त अन्य विदेशी साहित्य से परिचित हो चुके थे। अतः इस दौर के कवियों ने मौलिक रचनाओं के साथ-साथ अन्य श्रेष्ठ रचनाओं के अनुवाद का कार्य भी किया जिनमें अंग्रेज़ी साहित्य के साथ बांग्ला और संस्कृत रचनाओं का समावेश हुआ है। श्रीधर पाठक का 'एकान्तवासी योगी' गोल्ड स्मिथ की अंग्रेज़ी कृति 'हरमिट' का और 'ऊजड़ ग्राम' ट्रेवलर की रचना 'डेजर्टेड विलेज' का अनुवाद है। इसी तरह मैथिलीशरण गुप्त ने भी माइकल मधुसूदन-कृत बांग्ला काव्यों का 'मेघनाद वध' और 'विरहिणी वज्रांगना' शीर्षक से अनुवाद किया था।

इसके अतिरिक्त छन्द-वैविध्य, वर्ण्य-विषयों की व्यापकता, इतिवृत्तात्मकता, समस्यापूर्ति जैसे कई भाव आधुनिक कविता में विद्यमान रहे। आधुनिक युग नवचेतना का प्रतीक रहा। इसी युग में विशिष्ट भाषा तथा सामाजिक और राजनैतिक स्तर पर क्रान्ति की भावना प्रज्वलित हुई और देश-प्रेम, नीति, आदर्श तथा सामाजिक जनजागरण के भावों को प्रेरणा मिली। इस जनजागरण के पीछे कहीं न कहीं पाश्चात्य सभ्यता के संक्रमण का योग रहा। पश्चिम के प्रभावों ने रचनाकारों को नये विषय एवं भाव प्रदान किए, नयी संवेदनाओं ने जन्म लिया और

जनजीवन विकास की ओर अग्रसर हुआ । हिन्दी कविताओं में आधुनिकता के प्रभाव ने लोकजीवन और साहित्य-जगत् में आमूलचूल परिवर्तन किए। राष्ट्र की एकता और अखण्डता के लिए एक भाषा के प्रयोग का प्रश्न आधुनिकता के आरम्भ का प्रश्न है । इसी आधुनिकता ने खड़ीबोली हिन्दी को प्रतिष्ठापित किया । खड़ीबोली हिन्दी के माध्यम से रचनाकारों ने तात्कालिक परिवेश का यथार्थ वर्णन कर देश को एकसूत्र में पिरोने का महनीय कार्य किया।

2.3.3. हिन्दी कविता की भाषा : ब्रजभाषा बनाम खड़ीबोली

आधुनिकता के सूत्रपात के बाद साहित्य में गद्य-विधा विकसित हुई जिसकी रचना खड़ीबोली हिन्दी में हुआ करती थी जबकि पद्य के लिए प्रायः ब्रजभाषा का ही प्रयोग होता रहा। 1857 के विद्रोह के बाद भारतीय परिवेश में राजनैतिक स्तर पर जो हलचल उत्पन्न हुई उसमें भाषायी चेतना भी महत्त्वपूर्ण थी । राजनीति और सामाजिक क्षेत्र में जो परिवर्तन हो रहे थे उससे साहित्य-जगत् भी अछूता नहीं रहा। गद्य के तरह पद्य विधा ने भी इन आन्दोलनों में सक्रिय भूमिका निभायी। आधुनिकता के आरम्भ में काव्य-भाषा को लेकर कोई विवाद नहीं मिलता । आधुनिककाल के आरम्भ में अधिकांश कवि ब्रजभाषा में ही काव्य-सृजन किया करते रहे। स्वयं भारतेन्दु और उनके मण्डल के कवि जैसे प्रतापनारायण मिश्र, राधाचरण गोस्वामी, बद्रीनारायण चौधरी, अम्बिकादत्त व्यास आदि ब्रजभाषा में ही कविताएँ लिखा करते थे। इनकी कुछ रचनाएँ खड़ीबोली में भी प्राप्त होती हैं। इसके साथ ही द्विवेदीयुग के प्रणेता आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की आरम्भिक कविताएँ भी ब्रजभाषा में ही रची गईं। मैथिलीशरण गुप्त ने भी एक कवि के रूप में अपनी आरम्भिक रचनाएँ ब्रजभाषा में ही रची थीं। इस समय वे 'रसिकेन्द्र' उपनाम से कविताएँ लिखा करते थे। कालान्तर में जब राष्ट्रीय आन्दोलन सक्रिय हुआ तो भाषा की समस्या भी उसके केन्द्र में आ गई। ब्रजभाषा परम्परा के प्रति उदासीनता जताकर जनसम्पर्क के लिए खड़ीबोली हिन्दी के प्रयोग पर बल दिया जाने लगा। खड़ीबोली हिन्दी के आदिकवि कहे जानेवाले कवि श्रीधर पाठक की आरम्भिक रचनाएँ भी ब्रजभाषा में ही थीं। ब्रजभाषा और खड़ीबोली के विवाद के बीच भारतेन्दु युग में कई कवियों ने खड़ीबोली में रचनाकार्य आरम्भ कर दिया था जिनमें श्रीधर पाठक, बालमुकुन्द गुप्त, राधाकृष्णदास खड़ीबोली के प्रबल समर्थक के रूप में सामने आए। इस प्रकार भारतेन्दु युग में राष्ट्रीयता की पृष्ठभूमि पर निजभाषा का विवाद एक आन्दोलन का स्वरूप ग्रहण कर चुका था। किन्तु आगे चलकर राजनैतिक आन्दोलन से प्रभावित होकर उन्होंने ही आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी और मैथिलीशरण गुप्त को खड़ीबोली हिन्दी में काव्य-लेखन की प्रेरणा दी। खड़ीबोली हिन्दी के प्रचार-प्रसार ने तत्कालीन समाज का मनोबल बढ़ाने का कार्य किया साथ ही भारतीय जनमानस में अतीत-गौरव और अंग्रेज़ी शासन-व्यवस्था में व्याप्त शोषण की भावना को उजागर कर व्यापक पैमाने पर राजनैतिक विद्रोह की भावना उत्पन्न करने का भी कार्य किया । रीतिकाल और आधुनिककाल की सीमा-रेखा के बीच कवियों में काव्य-भाषा को लेकर एक दुविधा अवश्य थी किन्तु समय की आवश्यकता को समझ कर ब्रजभाषा के कई धुरन्धर कवियों ने खड़ीबोली हिन्दी की हिमायत की।

भारतेन्दु मण्डल के कवियों में विषय और भावभूमि को लेकर परिवर्तन अवश्य हुए किन्तु भाषा के प्रति उनकी शैली ब्रजभाषा के अनुरूप ही बनी रही। इस प्रकार भारतेन्दु युग में खड़ीबोली हिन्दी काव्य की प्रतिनिधि

भाषा नहीं बन पाई। भारतेन्दु युग में खड़ीबोली हिन्दी और ब्रजभाषा में काव्यभाषा को लेकर रचनाकारों में जो मतभेद रहे उनका सम्पूर्ण निराकरण द्विवेदीयुग में आकर हो जाता है और काव्यभाषा के सन्दर्भ में विवाद को विराम लग जाता है। द्विवेदीयुगीन कवियों ने खड़ीबोली हिन्दी को काव्य-भाषा के रूप में प्रतिष्ठित करके उसे काव्य के लिए सरस बनाने में मुख्य भूमिका निभायी। इस दृष्टि से अयोध्याप्रसाद खत्री और महावीरप्रसाद द्विवेदी के प्रयास महत्त्वपूर्ण रहे जिन्होंने खड़ीबोली हिन्दी प्रचार-प्रसार एवं इसे व्यवहृत करने के लिए एक आन्दोलन चलाया। परिणामतः भारतेन्दुकालीन खड़ीबोली में जो विसंगतियाँ थीं उनका परिमार्जन और परिष्करण द्विवेदीयुग में हो गया। और खड़ीबोली हिन्दी एक सरस, बोधगम्य भाषा के रूप में सामने आई। अब तक गद्य-विधा के लिए प्रयुक्त होने वाली खड़ीबोली हिन्दी द्विवेदीयुग में आने के बाद काव्य की मुख्य भाषा बनी। परिस्थिति अनुरूप ब्रजभाषा के अच्छे कवियों ने भी खड़ीबोली हिन्दी में कविताएँ लिखीं जिनमें श्रीधर पाठक, अयोध्यासिंह उपाध्याय, नाथूराम शंकर आदि का नाम प्रमुखता से लिया जा सकता है। वहीं दूसरी ओर कुछ ऐसे भी कवि थे जिन्होंने रीतिकालीन परम्परा का त्याग नहीं किया और उसी परिपाटी पर कविताएँ लिखते रहे। इस दृष्टि से जगन्नाथदास 'रत्नाकर' नाम लिया जाता है जिन्होंने तात्कालिक परिवेश की चिन्ता न करते हुए आधुनिककाल में भी पूर्ववर्ती शिल्प और शैली का निर्वहन अपने काव्य में किया। किन्तु द्विवेदीयुग के अन्तिम चरण में उन्होंने भी खड़ीबोली के महत्त्व और उसकी आवश्यकता को मान्य कर लिया था। अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के बीसवें अधिवेशन में उन्होंने अपने आप को ब्रजभाषा का पक्षपाती बताते हुए खड़ीबोली हिन्दी का समर्थन किया था।

सन् 1888 ई. में अयोध्याप्रसाद खत्री ने खड़ीबोली हिन्दी के प्रचारार्थ 'खड़ीबोली आन्दोलन' नाम से एक पुस्तिका का प्रकाशन किया। इसी दौरान उन्होंने 'खड़ीबोली का पद्य' नाम से दो संग्रह भी छपवाये थे जिसमें भारतेन्दु तथा उनके मण्डल के अन्य कवियों की भिन्न-भिन्न शैलियों में लिखी कविताओं का संग्रहण किया गया था। इसी के बाद खड़ीबोली और ब्रजभाषा का विवाद सतह पर आ गया। श्रीधर पाठक, महावीरप्रसाद द्विवेदी और अयोध्याप्रसाद खत्री खड़ीबोली हिन्दी की पक्षधरता कर रहे थे तो वहीं प्रतापनारायण मिश्र, जगन्नाथदास 'रत्नाकर' तथा अन्य कवि ब्रजभाषा का परचम थामे हुए थे। खड़ीबोली के समर्थक गद्य और पद्य दोनों ही विधाओं के लिए एक ही भाषा चाहते थे जबकि ब्रजभाषा के हिमायती गद्य और पद्य के लिए क्रमशः खड़ीबोली और ब्रजभाषा के समर्थक थे। राधाकृष्णदास ने इस विवाद के बीच मध्यस्तता करते हुए इस विवाद को यह कहकर सुलझाना चाहा कि कवि विषयानुरूप भाषा का चयन करें किन्तु उसके कथन में वह प्रभाव और सरसता होनी चाहिए। इस बारे में स्वयं भारतेन्दु ने 'कर्पूर मंजरी' में कहा –

जामें रस कछु होत है पढ़न ताहि सब कोय।
बात अनूठी चाहिए भाषा कोऊ होय॥

राधाकृष्णदास के मत से प्रेरित होकर दोनों ही भाषा की शब्दावलियाँ एक दूसरे में संक्रमित होती रहीं। ब्रजभाषा और खड़ीबोली हिन्दी का यह विवाद भारतेन्दु युग के अन्तिम चरण का विवाद है। गद्य-विधा के लिए तो खड़ीबोली हिन्दी का प्रयोग सर्वमान्य था किन्तु कविताओं को लेकर दो मत चल रहे थे। ब्रजभाषा का

अनुकरण करने वाले कवि पुरानी परिपाटी पर काव्य-लेखन कर रहे थे तो आधुनिकता की पृष्ठभूमि पर कुछ कवियों ने खड़ीबोली हिन्दी के आधिपत्य को मान्य किया था। ब्रजभाषा बनाम खड़ीबोली का यह विवाद आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी द्वारा 'सरस्वती' पत्रिका का सम्पादन-कार्य हाथ में लेने के बाद समाप्त हो गया। भारतेन्दुयुगीन कई कवि जो ब्रजभाषा में काव्य-लेखन कर रहे थे वे भी अब खड़ीबोली हिन्दी का अनुकरण करने लगे। नवीनता ने कहीं न कहीं पुरातन परिपाटी अपनाने वाले कवियों को भी प्रभावित किया। राष्ट्रीयता के परिप्रेक्ष्य में खड़ीबोली हिन्दी के काव्य में वर्ण्य-विषयों की व्यापकता थी। नवीन शिल्प और शैली का विकास हुआ। ब्रजभाषा में माधुर्य के गुण और उसकी प्रवृत्ति के कारण गतिशीलता की दृष्टि से बहुत शिथिलता या मन्द प्रवाह था। इसी कारण आधुनिकता से प्रभावित गति एवं नये विचारों को उदात्त रूप से स्वीकार करने में ब्रजभाषा असमर्थ रही। वहीं दूसरी ओर खड़ीबोली हिन्दी इस दृष्टि से बहुत गतिशील थी। राष्ट्रीय आन्दोलन के कारण अपनी प्रासंगिक प्रवृत्ति के कारण खड़ीबोली हिन्दी महत्त्वपूर्ण स्थान पर आरूढ़ हो गई। व्यापक जनसम्पर्क एवं राष्ट्रीय आन्दोलन में सहभागिता के कारण इसका क्षेत्र विस्तार हुआ। और खड़ीबोली को राष्ट्रीय स्वरूप की प्राप्ति हुई।

2.3.4. रीतिकाल का विरोध

आधुनिककाल में नवीनता पश्चिमी प्रभाव से प्रेरित थी। जनमानस के बीच एक नयी चेतना का विकास हो रहा था। नयी चेतना का यह प्रभाव तत्कालीन सामाजिक जीवन पर पड़ना स्वाभाविक ही था। भारतेन्दुयुगीन काव्य में वर्ण्य-विषय की व्यापकता और विविधता इसी की परिणति रहे हैं जिसके फलस्वरूप काव्य-रचनाकारों में अति शृंगारिकता, अलंकार-निरूपण, रीति-निरूपण, प्रकृति-चित्रण जैसी रीतिकालीन काव्य-प्रवृत्तियों के प्रति मोह भंग हुआ। जिससे काव्य में इनकी विशेषता क्षीण होती गई। भक्ति और शृंगार-निरूपण के अतिवाद का स्थान नीति और आदर्श ग्रहण करने लगा। इसके साथ ही वर्ण्य-विषयों में भी व्यापक और आमूलचूल परिवर्तन आ गया। राजाश्रय के कारण रीतिकाल का साहित्य एक ही वर्ग तक सीमित होकर रह गया था वहीं आधुनिककाल में साहित्य ने न सिर्फ अपनी सीमा का विस्तार किया अपितु उसके विषय और वर्ग में भी परिवर्तन हुआ। राष्ट्रीय आन्दोलन के कारण लोकमानस के बीच शृंगार, नखशिख-निरूपण, नायक-नायिका-भेद, अलंकार, विद्वता-प्रदर्शन, रीति का अनुकरण आदि वृत्तियों के प्रति उदासीनता स्वाभाविक थी। तत्कालीन परिवेश राष्ट्रीय चेतना से प्रभावित था। ऐसे में रीतिकालीन प्रवृत्तियों की उपेक्षा और विरोध होना स्वाभाविक था। राष्ट्रीयता के प्रभाव के कारण समाज-सुधार, देश-प्रेम और नीतिवाद जैसे मुद्दे काव्य के केन्द्र में आए। आधुनिकता के परिणामस्वरूप आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक और धार्मिक क्षेत्रों में भी एक नवचेतना ने अवतार लिया। पश्चिमी सभ्यता के संक्रमण के कारण व्यवस्था और समाज में अतुलनीय परिवर्तन होने लगे।

समाज के यथार्थ निरूपण की प्रवृत्ति के कारण दरबारी कूपमंडूकता समाप्त हुई। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में साहित्य की धारा में परिवर्तन आया। जनता भी रीतिकालीन शृंगार और रीति के अतिरेक से ऊब चुकी थी। ब्रजभाषा का प्रभाव भी उत्तरोत्तर कम होता जा रहा था। सन् 1900 ई. में 'सरस्वती' पत्रिका के जून अंक में प्रकाशित महावीरप्रसाद द्विवेदी की कविता 'हे कविते' ने तात्कालिक जनता की मनःस्थिति तथा परिवेश के

अनुरूप काव्य में ब्रजभाषा के प्रचलन पर प्रश्न-चिह्न खड़ा किया। 'सरस्वती' पत्रिका का सम्पादन-कार्य हाथ में लेते ही द्विवेदीजी ने कवियों को रीतिकालीन नायक-नायिकाभेद, शृंगार से आगे बढ़कर नये विषयों को अपनाने तथा गद्य और पद्य के लिए एक भाषा के प्रयोग करने के लिए प्रेरित किया। उनकी प्रेरणा फलीभूत भी हुई। फलतः कविगण उनके बताए आदर्शों को अपनाकर काव्य-लेखन करने लगे। मैथिलीशरण गुप्त, गयाप्रसाद शुक्ल, गोपालशरण सिंह आदि के काव्य में द्विवेदीजी की प्रेरणा के अंश मिलते हैं। द्विवेदीजी के ही कारण खड़ीबोली हिन्दी साहित्य की मुख्य धारा से जुड़ी। रीतिकालीन काव्य-विषयों के स्थान पर नये विषयों पर रचना आरम्भ हुई। रीतिकालीन साहित्य विशिष्ट वर्ग का प्रतिनिधित्व कर रहा था। वहीं अब नये विषयों के कारण आधुनिकता के परिप्रेक्ष्य में सामान्य मनुष्य महत्त्व पाने लगा। कवियों ने बड़े पैमाने पर सामान्य मनुष्य की संवेदनाओं को अभिव्यक्ति प्रदान की। साथ ही साथ उच्च वर्ग द्वारा निम्न वर्ग पर किये जा रहे अन्यायों का प्रस्तुतीकरण भी इस दौर की रचनाओं की विशेषता थी। काव्य में विलासिता के स्थान पर कर्त्तव्य-पालन, अतीत-गौरव, राष्ट्रीयता, स्वाभिमान, असत्य पर सत्य की विजय जैसे मुद्दे संचारित होनेलगे। इसके साथ ही कल्पनागम्यता समाप्त हुई और कवियों ने प्रत्येक क्षेत्र में नीति एवं आदर्श को ग्रहण किया। हरिऔध की रचना 'प्रियप्रवास', मैथिलीशरण गुप्त की 'साकेत', रामनरेश त्रिपाठी की रचनाएँ 'मिलन' तथा 'पथिक' आदि आदर्शवादी रचनाएँ इस कालखण्ड में रचीं गईं। प्रेम के आदर्श रूप को प्रकट करते हुए रामनरेश त्रिपाठी लिखते हैं –

गंध विहीन फूल है जैसे, चन्द्र चन्द्रिका हीन।
यों ही फीका है मनुष्य का, जीवन प्रेम विहीन॥
प्रेम स्वर्ग है, स्वर्ग प्रेम है, प्रेम अशंक अशोक।
ईश्वर का प्रतिबिंब प्रेम है, प्रेम हृदय आलोक॥

आधुनिककाल में काव्य दरबारी सत्ता से मुक्त हुआ। परिस्थिति अनुरूप कवि राजप्रशंसा और उनके मनोरंजन करने की जगह यथार्थ-चित्रण में प्रवृत्त हुए। रीतिकालीन साहित्य-प्रवृत्तियाँ विलासिता से अनुप्राणित थीं परन्तु आधुनिककाल में इसके लिए कोई स्थान नहीं था। साहित्य समाज का दर्पण होता है। ऐसे में रचनाकार का दायित्व होता है कि वह साहित्य को युगानुरूप प्रासंगिक बनाए रखे। आधुनिककाल के मनुष्य और समाज में कुछ कर दिखाने की प्रेरणा निहित थी। ऐसे में कवि और समाज सभी दृष्टियों से रीतिकालीन प्रवृत्तियों के विरुद्ध दिखाई देता है। परिस्थितिनुसार यह स्वाभाविक भी था।

2.3.5. पाठ-सार

आधुनिकता के परिप्रेक्ष्य में हिन्दी कविता अपने पूर्ववर्ती रूप को त्याग करनये रूप में ढली। नये भाव, नये विषय, नयी संवेदनाओं ने काव्य की पारम्परिक जड़ता को समाप्त करने में भरसक सहयोग दिया। अब तक चली आ रही काव्य की भाषा ब्रज थी जिसमें अब धीरे-धीरे परिवर्तन होने लगा और ब्रज के स्थान पर खड़ीबोली हिन्दी प्रयुक्त होने लगी। यद्यपि भारतेन्दु युग में काव्य के लिए ब्रज का ही उपयोग होता रहा जिसमें कालान्तर में परिवर्तन आए। गद्य के लिए खड़ीबोली हिन्दी सर्वमान्य हो चुकी थी। तात्कालिक परिवेश राष्ट्रीय आन्दोलन का

था अतः समूचे राष्ट्र को एकसूत्र में बाँधने के लिए 'एक भाषा' समस्या सामने आई। स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने इस मुद्दे उठाते हुए राष्ट्र की उन्नति के लिए निजभाषा के लिए जोर दिया। परन्तु यह दो प्रवृत्तियों ने संक्रमण का युग था। ऐसे बुनियादी बातों में एकदम परिवर्तन होना सम्भव नहीं था। परिणामतः भारतेन्दु एवं द्विवेदीयुग के बीच ब्रजभाषा और खड़ीबोली हिन्दी को लेकर रचनाकारों में एक विवाद चलता रहा। इस विवाद ने भाषायी परिवर्तन में बाधा अवश्य उत्पन्न की किन्तु परिवर्तन की शुरुआत भी इसी समय हो गई थी। बुनियादी बातों के बदलते ही प्रतिमानों में भी परिवर्तन आते गए। और प्रतिमानों के बदलते ही पूर्ववर्ती प्रवृत्तियों में परिवर्तन के साथ धीरे-धीरे उनका विरोध होना शुरू हुआ। द्विवेदीयुग तक आते-आते रीतिकालीन जड़ता का विरोध होने लगा और कालान्तर में इस प्रवृत्ति का स्थान साहित्य से नगण्य हो गया। कहने का तात्पर्य यह है कि कोई भी परम्परा दीर्घकाल तक अपनी प्रासंगिकता बनाकर नहीं रख सकती। ऐसा करने के लिए उसे समयानुरूप परिवर्तन करना पड़ता है। और यही साहित्य से भी अभिप्रेत है कि वह अपने समय का प्रतिनिधित्व सापेक्ष होकर करे।

2.3.6. अभ्यास-प्रश्न

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. आधुनिकता का प्रादुर्भाव कब हुआ माना जाता है ?

(क) बीसवीं सदी में
(ख) उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में
(ग) उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में
(घ) इक्कीसवीं सदी में

2. आधुनिकता के पदार्पण का कारण बनी –

(क) अंग्रेज़ी सत्ता
(ख) मुग़ल सत्ता
(ग) रीतिकालीन सभ्यता
(घ) नवीनता

3. शृंगारिकता किस युग की प्रधान प्रवृत्ति रही ?

(क) आदिकाल
(ख) रीतिकाल
(ग) आधुनिककाल
(घ) भक्तिकाल

4. द्विवेदीयुगीन साहित्य में काव्य-भाषा के रूप में कौनसी भाषा सर्वमान्य हो गई ?

(क) अवधी

(ख) भोजपुरी

(ग) ब्रज

(घ) खड़ीबोली हिन्दी

लघूत्तरीय प्रश्न

1. भारतीय परिवेश में आधुनिकता के चिह्न कब से दिखाई देना प्रारम्भ हो जाते हैं ? इसकी पहचान कैसे होती है ?
2. साहित्य की दृष्टि से आधुनिकता के स्तर बताइए।
3. भारतेन्दु युग के किन कवियों ने शृंगारिक रचनाएँ नहीं की? नामोल्लेख कीजिए।
4. द्विवेदीजी ने किस कविता के माध्यम से नवीनता को अपनाने के लिए प्रेरित किया ?

दीर्घोत्तरीय प्रश्न

1. हिन्दी कविता में आधुनिकता को समझाइए।
2. ब्रजभाषा बनाम खड़ीबोली विवाद पर प्रकाश डालिए।
3. आधुनिकता के आलोक में रीतिकाल के विरोध को समझाइए।
4. आधुनिक हिन्दी कविताओं की प्रमुख प्रवृत्तियों की विस्तृत चर्चा कीजिए।

2.3.7. सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

01. हिन्दी साहित्य का विश्लेणात्मक इतिहास, अवनीश
02. हिन्दी साहित्य का इतिहास, डॉ॰ नगेन्द्र
03. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
04. आधुनिक हिन्दी साहित्य, लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय
05. हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास, खण्ड 1 और 2, गणपतिचन्द्र गुप्त
06. आधुनिकता एक पहचान, डॉ॰ चंद्रभान रावत एवं डॉ॰ रामकुमार खंडेलवाल
07. आधुनिक बोध, रामधारी सिंह 'दिनकर'
08. आधुनिक हिन्दी साहित्य की विचारधारा पर पाश्चात्य प्रभाव, डॉ॰ हरिकृष्ण पुरोहित
09. आधुनिक हिन्दी का आदिकाल, श्रीनारायण चतुर्वेदी
10. हिन्दी साहित्य कोष – भाग 1, धीरेन्द्र वर्मा
11. नयी कविता के प्रतिमान, लक्ष्मीकान्त वर्मा

❖❖❖

खण्ड – 2 : आधुनिककाल : पूर्वपीठिका

इकाई – 4 : हिन्दी गद्य का विकास, दक्षिणी हिन्दी, उत्तर भारत में हिन्दी गद्य, खड़ीबोली गद्य और फोर्ट विलियम कॉलेज

इकाई की रूपरेखा

2.4.00. उद्देश्य कथन
2.4.01. प्रस्तावना
2.4.02. हिन्दी गद्य का विकास
2.4.03. दक्षिणी हिन्दी (दक्खिनी हिन्दी)
2.4.04. उत्तर भारत में खड़ीबोली गद्य का विकास
2.4.05. फोर्ट विलियम कॉलेज और खड़ीबोली गद्य
2.4.06. खड़ीबोली गद्य का विकास और धार्मिक-सामाजिक संस्थाएँ
    2.4.06.1. ईसाई धर्म प्रचार और खड़ीबोली गद्य
    2.4.06.2. धार्मिक-सामाजिक आन्दोलन, शिक्षण संस्थाएँ, पत्रकारिता और हिन्दी गद्य
2.4.07. सारांश
2.4.08. बोध प्रश्न
2.4.09. कठिन शब्दावली
2.4.10. सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

2.4.00. उद्देश्य कथन

प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. आधुनिक हिन्दी गद्य का आविर्भाव जान सकेंगे।
ii. हिन्दी गद्य के विकास की रूपरेखा स्पष्ट कर सकेंगे।
iii. दक्षिणी हिन्दी (दक्खिनी हिन्दी) के विकास की दिशाएँ जान सकेंगे।
iv. उत्तर भारत में हिन्दी गद्य के विस्तार और व्यक्ति से परिचित हो सकेंगे।
v. खड़ीबोली हिन्दी गद्य के विकास में 'फोर्ट विलियम कॉलेज' की भूमिका का मूल्यांकन कर सकेंगे।

2.4.01. प्रस्तावना

संस्कृत साहित्य में छन्दबद्धता को 'पद्य' और छन्दबद्धता-रहित रचना को 'गद्य' कहा गया। साहित्य का आदिम रूप कविता में ही प्रगट हुआ। गद्य बाद में आया। मानवीय सभ्यता ज्यों-ज्यों जटिल और सघन होती गई 'गद्य' की आवश्यकता बढ़ी। सिर्फ कविता में जीवन की व्यापक और गहन संवेदना को व्यक्त कर पाना सम्भव न था। गद्य का सम्बन्ध विचार और चिन्तन से अधिक रहा। जीवन के व्यापक सरोकार जटिल स्थितियों को व्यक्त

करने के लिए गद्य की सर्जना हुई। निराला ने लिखा भी है, "गद्य जीवन संग्राम की भाषा है।" वैसे तो हिन्दी गद्य का आरम्भ आदिकाल से ही हुआ लेकिन गद्य का व्यवस्थित लेखन उन्नीसवीं सदी से विस्तार पाता है। आदिकालीन हिन्दी गद्य में राजस्थानी गद्य, ब्रजभाषा गद्य और खड़ीबोली गद्य के छिटपुट नमूने मिलते हैं। अपभ्रंशयुगीन हिन्दी गद्य में भाषा और संवेदना का प्रवाह प्रायः क्षीणकाय ही रहा। उन्नीसवीं सदी में रूपान्तरित होने वाले हिन्दी खड़ीबोली गद्य की परम्परा अमीर ख़ुसरो से आरम्भ होकर 'दक्खिनी हिन्दी' और सन्त कवियों के साहित्य में परिलक्षित हुई। इस परम्परा का विकास आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में पहला प्रौढ़ परिमार्जित गद्य 1741 ई. में पटियाला के रामप्रसाद निरंजनी की गद्य रचना 'भाषा योगवाशिष्ठ' में देखा गया।

हिन्दी खड़ीबोली गद्य को मजबूत आधार प्रदान किया 'फोर्ट विलियम कॉलेज' ने। हिन्दी के आरम्भिक गद्य लेखकों ने अपनी रचनाओं से खड़ीबोली को समृद्ध किया। हिन्दी क्षेत्र में 1857 के महासंग्राम के बाद नवजागरण की चेतना ने हिन्दी गद्य को वैचारिक और कलात्मक रूप से समृद्ध किया। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, महावीरप्रसाद द्विवेदी, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और प्रेमचंद के सृजनात्मक प्रयासों ने हिन्दी गद्य का बहुआयामी विकास किया। इस तरह हिन्दी गद्य अपने समय-समाज से जुड़ते हुए हिन्दी क्षेत्र ही नहीं सम्पूर्ण भारत में विकसित हुआ जिसमें विपुल रचनात्मक और वैचारिक लेखन हुआ।

प्रस्तुत ईकाई में हिन्दी गद्य के विकास की अन्तर्यात्रा का परिचय देते हुए दक्षिणी हिन्दी (दक्खिनी हिन्दी), उत्तर भारत में हिन्दी और खड़ीबोली गद्य के विकास में फोर्ट विलियम कॉलेज की भूमिका का विवेचन-विश्लेषण किया जाएगा। साथ ही, भारतेन्दु युग के पूर्व हिन्दी गद्य के आरम्भिक स्वरूप पर भी विचार किया जाएगा।

2.4.02. हिन्दी गद्य का विकास

संस्कृत साहित्य में गद्य को कवियों के लिए सृजन की कसौटी कहा गया। गद्य का सम्बन्ध चिन्तन से, विचार से अधिक है। इसमें खुलापन है। संस्कृत में काव्य का व्यापक सन्दर्भ है। इसका प्रयोग कविता और गद्य दोनों के लिए किया गया है। कविता की समृद्ध परम्परा के साथ संस्कृत में नाटक, कथा और आख्यायिका में गद्य का साहित्य रूप मिलता है। संस्कृत का प्रभाव परवर्ती भाषाओं पर युगीन परिवेश और परम्परा के मिले-जुले रूप में हुआ, इसी दृष्टि से हिन्दी गद्य के आरम्भिक रूप का विवेचन किया जा सकता है। गद्य का सम्बन्ध यथार्थ, चिन्तन और बौद्धिकता से अधिक है तो कविता का भावुकता, कल्पना और आध्यात्मिकता से अधिक है। हिन्दी के आदिकालीन परिवेश में कविता के लिए गद्य की अपेक्षा मुफीद वातावरण था। परवर्ती युग में सामाजिक सांस्कृतिक आन्दोलनों की बौद्धिकता, आधुनिकता, नवजागरण, प्रेस-मुद्रण का विकास और सामाजिक-शैक्षिक संस्थाओं की स्थापना ने गद्य-लेखन के लिए उर्वर ज़मीन तैयार की। उन्नीसवीं शताब्दी में हिन्दी गद्य के लिए जो परिवेश और आवश्यकता का निर्माण हुआ तो गद्य का लेखन विकसित हुआ। यहाँ तक कि नवजागरण और आधुनिकता की संवेदना को सबसे अधिक गद्य में ही सृजित किया गया। इसलिए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल आधुनिक हिन्दी साहित्य को 'गद्यकाल' कहते हैं तो वह ठीक ही है।

आधुनिककाल के पूर्व हिन्दी का निर्माण कम था, लेकिन उसका अभाव नहीं था। आदिकाल और मध्यकाल में क्षीण ही सही, गद्य के लेखन की परम्परा विद्यमान है। इतिहासकारों ने इस युग के गद्य को चार भागों में बाँटा है – (i) राजस्थानी गद्य, (ii) मैथिली भाषा का गद्य, (iii) ब्रजभाषा का गद्य और (iv) खड़ीबोली का गद्य।

राजस्थानी गद्य की रचनाओं का आरम्भ दसवीं शताब्दी से ही हुआ, लेकिन परिमार्जित गद्य का लेखन तेरहवीं शताब्दी से आरम्भ हुआ। राजस्थानी गद्य के नमूने स्वतन्त्र रूप से लिखे गए मौलिक ग्रन्थों में, कवियों की अपनी रचनाओं में की गई टिप्पणियों में और टीकाओं में परिलक्षित होते हैं। तेरहवीं शताब्दी में 'मुनिजिन विजय' द्वारा सम्पादित 'प्राचानी गुजराती गद्य-सन्दर्भ' में संकलित रचनाओं में 'आराधना' (1271 ई.), अतिचार (1283 ई.) और बाल शिक्षा (1279 ई.) उल्लेखनीय रचनाएँ हैं। इस दौर में राजस्थानी और गुजराती एक साथ ही विकसित हुई सो राजस्थानी और गुजराती दोनों साहित्य में इन रचनाओं को सम्मिलित किया जाता है। डॉ॰ मोतीलाल मेनारिया, डॉ॰ हीरालाल माहेश्वरी और हरिमोहन श्रीवास्तव जैसे शोधकर्त्ताओं ने इन रचनाओं को राजस्थानी गद्य साहित्य की रचनाओं के रूप में ही विवेचित किया है। इनको अपभ्रंश की रचानाओं के रूप में भी दर्ज किया जाता है। यों ये रचनाएँ हिन्दी गद्य की आरम्भिक अवस्था का प्रौढ़ उदाहरण हैं। राजस्थानी गद्य के प्रसिद्ध शोधकर्त्ता अगरचन्द नाहटा के पास सुरक्षित अनेक रचनाओं में राजस्थानी गद्य का परिष्कृत स्वरूप मिलता है। इन रचनाओं में 'तत्त्व विचार' और 'धनपाल कथा' उल्लेखनीय हैं।

राजस्थानी गद्य की समृद्ध परम्परा ऐतिहासिक और काल्पनिक गद्य कथारूपों 'वचनिका', 'ख्याल' और 'बात' में रचा गया। 'वचनिका' में ऐतिहासिक घटनाओं को रोचक शैली में दर्ज किया गया है। 'ख्याल' में वीरभाव की रचनाओं को संयोजित किया गया है। 'बात' में कल्पनापूर्ण रोचक कथानकों का प्रयोग किया गया है। राजस्थानी गद्य में 'बात' अथवा 'वार्ता साहित्य' का विपुल भण्डार है। कुछ उल्लेखनीय कृतियों में 'हाडे सूरजमल की बात', 'राव लूणकरण री बात' और 'जैसलमेर री बात' है। उन्नीसवीं सदी में फतहराम बैरागी की रचना 'पंचाख्यान' में राजस्थानी गद्य का उत्कृष्ट उदाहरण देखा जा सकता है –

"वारता एक गाँव में रास मंडवा लाग्यो। जाजम बिछाई। झालर बजाई। तर मर्दंग्या ने तिस लागी। तर गाँव का छोरा नै पूछ्यो, अरे डावड़ा! पाणी री जुगत बता। तर छोरो कय्यो, ऊकड़ो आंवा कारूख हेत है।"

राजस्थानी गद्य का विषय और रूप विस्तृत है। अधिकांश साहित्य जैन मन्दिरों में रचा गया अथवा राजपूत राजाओं के आश्रय में लिखा गया। धर्म, राजनीति, इतिहास, कल्पना और लोक-आख्यान का समावेश राजस्थानी गद्य में है। नवजागरण के दौर में खड़ीबोली गद्य के विकास के साथ राजस्थानी गद्य का विकास क्षीण हुआ लेकिन आधुनिक खड़ीबोली गद्य का स्रोत और सृजन राजस्थानी गद्य से गहरे जुड़ा हुआ है।

राजस्थानी की तरह मैथिली गद्य की भी समृद्ध परम्परा है। उपलब्ध ग्रन्थों में ज्योतिरीश्वर ठाकुर की रचना 'वर्णरत्नाकर' प्रथम प्रौढ़ कृति है। इस रचना में भारतीय कलाशास्त्र, काव्यशास्त्र और ज्ञान-विज्ञान का कोष है।

आधुनिक गद्य-भाषाओं का प्रथम का सृजनात्मक रूप इस कृति से ही आरम्भ माना जाय तो गलत न होगा। मैथिल-कोकिल विद्यापति ठाकुर की रचनाओं 'कीर्तिलता' और कीर्तिपताका' में मैथिली गद्य का परिष्कृत रूप मौजूद है। गद्य-पद्य मिश्रित ऐतिहासिक काव्य 'कीर्तिलता' में कवि अपने आश्रयदाता कीर्तिसिंह के युद्ध का वर्णन करता है। 'कीर्तिलता' की भाषा को 'अवहट्ट' कहते हुए विद्यापति ने लिखा है –

देसिल बअना सब जन मिट्ठा। ते तैसन जंपओं अवहट्ठा।

'देशी अवहट्ठा' की इस गद्य-शैली का उदाहरण देखिए –

"एवच्च दूर दीपान्तर राअन्हि करो निद्रहरन्तेदल विहल चूरि चोपल करन्ते, गिरि गह्वर गाहत्रे, सिकार खेलते, तीर मेलन्ते, वन विहार जल क्रीडा करन्ते।"

विद्यापति की दूसरी रचना 'कीर्तिपताका' में महाराजा शिवसिंह की वीरता का आख्यान वर्णित किया गया है। विद्यापति के अलावा आसाम के शंकरदेव और माधवदेव के नाटकों में मैथिली गद्य का छिटपुट उदाहरण मिलता है।

हिन्दी खड़ीबोली गद्य का ब्रजभाषा गद्य से गहरा रिश्ता है। आचार्य शुक्ल के अनुसार "ब्रज-भाषा गद्य का प्राचीनतम उपलब्ध रूप वि.सं. 1400 तक है।" ब्रजभाषा का गद्य साहित्य मौलिक ग्रन्थों, टीकाओं और अनूदित ग्रन्थों में उपलब्ध है। ब्रजभाषा गद्य के विकास में सृजनात्मक योगदान देने वाले रचनाकारों में मुवित सम्प्रदाय कृष्णभक्त लेखकों के नाम प्रमुख हैं। इस सम्प्रदाय के भक्तकवियों द्वारा रची गई कृतियों में गोस्वामी विट्ठलनाथ-कृत 'शृंगाररस मण्डन' और 'यमुनाष्टक'; गोकुलनाथ-कृत 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' और 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता'; ब्रजभूषण-कृत 'नीति विनोद' तथा श्री द्वारिकेश-कृत 'भाव-भावना और 'भाव समूह' उल्लेखनीय हैं। अन्य मौलिक और अनूदित ग्रन्थों में प्रियादास-कृत 'सेवक चरित' तथा लल्लूलाल-कृत 'माधोविलास' उल्लेखनीय हैं। कुछ टीकाएँ भी महत्त्वपूर्ण हैं जैसे – हरिचरणदास-कृत 'बिहारी सतसई की टीका', जानकीप्रसाद-कृत 'रामचन्द्रिका की टीका' और प्रतापशाही-कृत 'रसराज की टीका' आदि। इन रचनाओं में ब्रजभाषा का उत्कृष्ट गद्य 'वार्ता साहित्य' में दिखाई देता है। गोकुलनाथ-कृत 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' का उदाहरण इसका प्रमाण है। अवलोकन कीजिए –

"बहुर श्री आचार्य जी महाप्रभुन ने श्री ठाकुर जी के पास भट्ट भाग्यों जो मेरे आगे दामोदरदास की देह न छुते और श्री आचार्य जी महाप्रभु दामोदरदास सो कहु गोया न रखते और श्री आचार्य जी महाप्रभु श्री भागवत अहर्निस देखत कथा कहते।"

काव्यशास्त्र, छन्दशास्त्र और दूसरे शास्त्रीय विषयों पर ब्रजभाषा की गद्य-रचनाएँ उपलब्ध हैं। इन रचनाओं में बनारसीदास-कृत 'बनारसी विलास', बेनी कवि-कृत 'तिकैतराय प्रकाश' प्रियादास-कृत 'सेवक चरित' और बख्शी समनसिंह-कृत 'पिंगलकाव्य भूषण' आदि उल्लेखनीय रचनाएँ है। टीका साहित्य में भी ब्रजभाषा का गद्य-

साहित्य प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है। इनमें प्रियादास-कृत 'हित चौरासी' और 'भक्तमाल' की टीका; राधाकृष्ण चौबे और रघुनाथ जी द्वारा 'बिहारी सतसई की टीका'; महाराज विश्वनाथ द्वारा रचित 'बीजक' की टीका एवं सरदार कवि-कृत ' रसिकप्रिया की टीका' उल्लेखनीय हैं। ब्रजभाषा गद्य, खड़ीबोली गद्य की तरह विकसित न हो सका तो इसके पीछे युगीन परिवेश और औपनिवेशिक नीति का भी योगदान है। एक तो ब्रजभाषा समय के परिवर्तनों के साथ सशक्त और सृजनात्मक न बन पाई, दूसरे ब्रजभाषा क्षेत्र में भाषा और गद्य को लेकर कोई प्रमुख सामाजिक-सांस्कृतिक आन्दोलन नहीं हुआ।

आधुनिककाल में खड़ीबोली गद्य भारत की बहुतायत जनता की भाषा बनी। खड़ीबोली के विस्तार में जितना योगदान साहित्यिक सृजनात्मक का रहा उससे अधिक राजनैतिक, आर्थिक व्यापारिक कारणों से खड़ीबोली का विस्तार उत्तर भारत में होने से पूर्व दक्षिण भारत में हुआ। दक्षिण की इस खड़ीबोली को 'दक्कनी', 'दक्किनी' या 'दक्खिनी' कहा गया। इस भाषा में गद्य और पद्य दोनों में प्रचुर रचनाएँ हुई। विस्तार में उस समय के राजनैतिक, व्यापारिक, सामाजिक परिवेश के साथ सांस्कृतिक स्थितियों की पड़ताल करना आवश्यक है जिससे खड़ीबोली यह राष्ट्रीय स्वरूप रूपायित हुआ।

2.4.03. दक्षिणी हिन्दी (दक्खिनी हिन्दी)

दक्षिण भारत में उत्तर भारत की भाषा से प्राचीन रिश्ता रहा है। लेकिन दक्षिण में सल्तनतकालीन मुस्लिम शासकों के राज्य-विस्तार की नीतियों ने दक्षिण में उत्तर के मुसलमान शासकों के प्रवेश के साथ सांस्कृतिक आवाजाही अधिक गहरी हुई। अलाउद्दीन खिलजी के सेनानायक मलिक काफूर ने तेरहवीं शताब्दी के अन्त और चौदहवीं शताब्दी के आरम्भिक दौर में देवगिरि, वारंगल और द्वारसमुद्र में अपने शासन का विस्तार किया। राजनैतिक सम्बन्धों ने सांस्कृतिक और व्यापारिक सम्बन्धों का भी विकास किया। सैनिक गए, व्यापारी गए तो सूफी फकीर और कवि भी गए। उत्तर और दक्षिण के मिलन से जो नयी संष्लेषी भाषा विकसित हुई उसमें एक ओर उत्तर भारत की बोलियों का सम्मिश्रण था तो दक्षिण की तमिल, तेलगू जैसी बोलियों का प्रभाव था। दक्षिण भारत के साहित्यकारों ने इस भाषा को 'हिन्दी', 'हिन्दवी', 'दक्खिनी', 'देहलवी' और 'दक्किनी' नाम दिया। यों 'दक्खिनी' नाम सबसे अधिक प्रचलित हुआ। उर्दू साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास में एहतेशाम हुसैन ने इस भाषा के बारे में सही लिखा है कि – "इस भाषा में पंजाबी, हरियानी और खड़ीबोली का मेल था। यह ब्रजभाषा के प्रभाव से भी बची नहीं थी और सबसे बड़ी बात यह थी कि इसमें फ़ारसी-अरबी के अनेक शब्द भी सम्मिलित हो गए थे। इतिहास से पता चलता है कि आरम्भ में उन्होंने उसी भाषा से काम चलाया, यहाँ तक कि वह उन्नति करके साहित्य की भाषा बन गई। साहित्यकारों ने उनको कभी 'हिन्दी' कभी 'ज़बाने हिन्दुस्तान' और कभी 'दकनी' कहकर पुकारा।" उत्तर और दक्षिण का यह सांस्कृतिक स्वर बाद में और भी गहरा हुआ जब मुहम्मद तुगलक ने दिल्ली से दौलताबाद को राजधानी बनाया। उसके साथ दिल्ली के फकीर और जनता गई तो खड़ीबोली साहित्य का और भी विकास हुआ। इसी दौर में दक्षिण भारत में खड़ीबोली गद्य के लेखकों में ख़्वाजा बन्दा नवाज गेसदूराज, शाह मीरांजी, शाह बुरहानुद्दीन, अमीनुद्दीन आला और मुल्ला वजही का नाम उल्लेखनीय है। दक्खिनी हिन्दी के आरम्भिक लेखकों में ख़्वाजा बन्दा नवाज गेसूदराज (1318-1422) का नाम प्रमुख है।

उनका जन्म दिल्ली में हुआ लेकिन जीवन दौलताबाद और गुलबर्गा में बीता। दक्खिनी हिन्दी में इनके द्वारा लिखी गई पुस्तकों में 'मेराजुल-आशकीन', 'शिकारनामा' और 'रिसाला से हवारा' या 'बारहमासा' हैं। 'मेराजुल-आशकीन को दक्खिनी हिन्दी गद्य की प्रथम पुस्तक माना जाता है। इसमें सूफी धर्म का उपदेश है। फ़ारसी के प्रभाव से युक्त इस रचना के गद्य का उदाहरण देखिए –

"कौलनबी अले उल सलाम कहे इन्सान को बूझने को (कू) पाँचतन, हर एक तन को पाँच दरवाजे हैं और पाँच दरबान है।"

शाह मीरांजी सूफ़ी साधक थे। 'शरहमगूब उलमलूब' इनकी गद्य रचना है। इस रचना में भी धार्मिक विचार की अधिकता है। शाह बुरहानुद्दीन जानम मीरांजी के पुत्र थे। जिनकी प्रमुख गद्य रचनाएँ 'इरशादनामा' और 'मारफतुलल कलब' है।

मुल्ला वजही दक्खिनी हिन्दी के सबसे प्रौढ़ रचनाकार हैं। वजही की गद्य रचना 'सबरस' दक्खिनी हिन्दी की सचमुच सबरस है। इस रचना पर फ़ारसी की रचना 'हुस्नोदिल' का प्रभाव है। 'सबरस' में सूफी तसव्वुफ़ के सिद्धान्तों को संकेतात्मक शैली में प्रस्तुत किया गया है। वजही की रचना 'सबरस' 1636 में रची गई। सबरस को उर्दू साहित्य की प्रथम कृति भी माना जाता है। लयात्मक तुकान्तता इसके गद्य की विशेषता है। यह दक्खिनी हिन्दी का अनूठा गद्य है। यह स्वयं रचनाकार (वजही) कहते हैं तो इसमें गलत नहीं –

"यू रंग रंग के फूल सुरंगमकबूल सब किसे भाते यू फूल। दायम तोजे हरगिज नई कुमलाते, ऐसे खुश बास फूला, अझ किसी संग में। नई खिले ऐसे फूलां अंझूकिसे नई मिले। सुंगते दिल में भरे उस रस कहां है। वह फूल जिस फूल में ऐसी बास।"

'दक्खिनी हिन्दी' गद्य में मुल्ला वजही की परम्परा को आगे बढ़ाने वाले रचनाकारों में सैयद हुसैन अली का नाम उल्लेखनीय है। उन्होंने 'चारदरवेश' का फ़ारसी से दक्खिनी में अनुवाद किया है। औरंगज़ेब के शासनकाल में दक्षिण में 'दक्खिनी हिन्दी' का स्थान 'उर्दू' ने ले लिया। उत्तर भारत में 'खड़ीबोली' हिन्दी के विकास में दक्खिनी हिन्दी, उर्दू का सत्व मिला हुआ है। 'दक्खिनी हिन्दी' ने उत्तर और दक्षिण भारत के बीच सम्पर्क भाषा का काम किया है। परवर्ती दौर में खड़ीबोली हिन्दी भारत की सम्पर्क भाषा के रूप में विकसित हुई। यों खड़ीबोली गद्य में उर्दू, संस्कृत की भाषिक चेतना है, लेकिन दक्खिनी हिन्दी, खड़ीबोली गद्य के स्वरूप और संरचना के अधिक निकट है।

2.4.04. उत्तर भारत में खड़ीबोली गद्य का विकास

उत्तर भारत में खड़ीबोली के आरम्भ के विषय में इतिहासकारों में मत-मतान्तर है। सर जार्ज ग्रियर्सन साहित्यिक खड़ीबोली गद्य का आरम्भ 'फोर्ट विलियम कॉलेज' के लेखक लल्लूलाल की रचनाओं से मानते हैं तो हिन्दी साहित्य के मान्य इतिहासकार आचार्य रामचन्द्र शुक्ल खड़ीबोली गद्य का आरम्भ अकबर के

समकालीन कवि गंग की रचना 'चन्द-छन्द बरनन की महिमा' से मानते हैं, जिसका रचनाकाल सन् 1570 ई. है। इसमें खड़ीबोली का जो रूप प्रयोग किया गया वह समय देखते हुए प्रशंसनीय है। उदाहरण देखिए –

"इतना सुनकर पातसाही जी श्री अकबर साहिजी आद सेर सोना नरहरदरदास चारन को दिया।"

यों यह रचना समृद्ध होते हुए, प्रामाणिक नहीं है, फिर इसकी परम्परा भी विकसित न हुई। यह कहना सही है कि हिन्दी खड़ीबोली गद्य की व्यस्थित परम्परा 'फोर्ट विलियम कॉलेज' के लेखकों से हुई लेकिन इसके पूर्व ब्रजभाषा और पंजाबी से प्रभावित खड़ीबोली गद्य का स्वरूप दिखाई देता है।

खड़ीबोली का क्षेत्र दिल्ली के आस-पास का क्षेत्र है। यह छावनी की भाषा है। अर्थात् दिल्ली में जामा मस्जिद के आस-पास रहने वाले हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों के द्वारा प्रयुक्त की जाने वाली भाषा। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी खड़ीबोली की प्रथम प्रौढ़ कृति रामप्रसाद निरंजनी के 'भाषा योगवाशिष्ठ (संवत् 1798) को मानते हैं। उन्हीं के शब्दों में – "विक्रम संवत् 1798 में रामप्रसाद निरंजनी ने 'भाषायोगवाशिष्ठ' नाम का ग्रन्थ साफ-सुथरी खड़ीबोली में लिखा। ये पटियाली दरबार में थे और महारानी को कथा बाँचकर सुनाया करते थे। इनके ग्रन्थ देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि मुंशी सदा सुखलाल और लल्लूलाल से 62 वर्ष पहले खड़ीबोली का गद्य अच्छे परिमार्जित रूप में पुस्तकें आदि लिखने में व्यवहृत होता था। अब तक पायी गई पुस्तकों में यह योगवाशिष्ठ ही सबसे पुराना है जिसमें गद्य अपने परिष्कृत रूप में दिखाई पड़ता है। अतः जब तक और कोई पुस्तक इससे पुरानी न मिले तब तक इसी को परिमार्जित गद्य की प्रथम पुस्तक और रामप्रसाद निरंजनी को प्रथम प्रौढ़ गद्य लेखक मान सकते हैं।" (हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 225)

इसी क्रम में आचार्य शुक्ल ने 'भाषायोगवाशिष्ठ' से दो उदाहरण दिये हैं। उसी में से एक नमूना देखिए –

"जिसमें आत्मतत्त्व पाया है वह जैसे स्थिति हो वैसे ही तुम भी स्थित हो। इसी दृष्टि को पाकर आत्मतत्त्व को देखो तब विगतज्वर होंगे और आत्मपद को पाकर फिर जन्म मरण के बन्धन में न आवोगे।" (हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 226)

खड़ीबोली गद्य के आरम्भिक रूप के बारे में इस बीच जो अनुसंधान हुए हैं उससे यह स्पष्ट होता है कि 'भाषायोगवाशिष्ठ' के साथ ही गुरुमुखी लिपि में खड़ीबोली गद्य की एक समृद्ध परम्परा 'फोर्ट विलियम कॉलेज' के पूर्व उत्तर भारत की गद्य साहित्य परम्परा में मौजूद थी। मुंशी सदासुखलाल नियाज की गद्य कृति 'सुखसागर' के पूर्व गद्य रचनाओं में दौलतराम-कृत 'पद्मपुराण का भाषानुवाद' और मथुरानाथ शुक्ल-कृत 'पंचांगदर्शन' उल्लेखनीय कृतियाँ हैं। हिन्दी साहित्येतिहास लेखन का आरम्भिक लेखन अधिकांशतः पश्चिमी इतिहासकारों ने किया, उनकी औपनिवेशिक-दृष्टि में हिन्दी खड़ीबोली की इस समृद्ध गद्य-परम्परा को प्रायः उपेक्षित किया गया। उन्होंने गद्यसाहित्य में 'फोर्ट विलियम कॉलेज' के पूर्व रचित गद्य-परम्परा या हिन्दीभाषा की जनपदीय बोलियों की वह परम्परा जिनमें खड़ीबोली गद्य की ज़मीन बनी, उसको नकारकर हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखन की खण्डित इतिहास-दृष्टि का परिचय दिया। आचार्य शुक्ल के इतिहास लेखन से हिन्दी साहित्य में आधुनिक हिन्दी

खड़ीबोली गद्य की देशी परम्परा को विवेचित किया गया। इसी परम्परा में आचार्य शुक्ल ने गद्य चतुष्टय की परिकल्पना को रूपायित किया। इनमें सदासुखलाल नियाज और सैय्यद इंशा अल्ला ख़ाँ स्वतन्त्र लेखक थे जबकि लल्लूलाल और सदल मिश्र 'फोर्ट विलियम कॉलेज' से जुड़े थे।

मुंशी सदासुखलाल नियाज (1746-1824) दिल्ली के निवासी थे। विष्णुपुराण को स्रोत बनाकर उन्होंने 'सुखसागर' नामक ग्रन्थ की रचना की। उर्दू फ़ारसी में निष्णात होने के कारण 'सुखसागर' की भाषा और शैली प्रौढ़ है। यों उनकी भाषा में संस्कृत की छौंक भी है। आचार्य शुक्ल उनकी भाषा के बारे में सही कहते हैं कि वह पश्चिमी दृष्टि से मुक्त भारतीय देशी परम्परा के लेखक थे। उन्हीं के शब्दों में, "मुंशी जी ने यह गद्य न तो किसी अंगरेज अधिकारी की प्रेरणा से और न किसी दिए हुए नमूने पर लिखा। वे एक भगवद्‌भक्त आदमी थे। अपने समय में उन्होंने हिन्दुओं की बोलचाल की जो शिष्ट भाषा चारों ओर पूरबी प्रान्तों में भी प्रचलित पाई उसी में रचना की। स्थान-स्थान पर शुद्ध तत्सम संस्कृत शब्दों का प्रयोग करके उन्होंने उसके भावी साहित्यिक रूप का पूर्ण आभास दिया।" (हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 228)

इंशा अल्ला ख़ाँ उर्दू के शायर थे। लेकिन अपनी रचना 'उदयभान चरित वा रानी केतकी की कहानी' में वे हिन्दी खड़ीबोली का प्रयोग करते हैं। यह रचना भी 'सुखसागर' की तरह अंग्रेज़ी प्रभाव से रहित है। मुहावरों से भरी इस रचना में इंशा जी ने कथा के कहन का सुन्दर प्रयोग किया है। कथ्य के अनुरूप भाषा का सहज प्रयोग इसकी विशेषता है। लेखक इस रचना में तत्समता से भरी हिन्दी और फ़ारसी के बोझ से लदी भाषा के बीच एक ऐसी भाषा का प्रयोग करना चाहता है जो इनके दबाव से मुक्त नये रंग से बनी हो। उन्हीं के शब्दों में पढ़िए –

"एक दिन बैठे-बैठे यह बात अपने ध्यान में चढ़ी कोई कहानी ऐसी कहिए जिसमें हिन्दी छुट और किसी बोली का पुट न मिले, तब जाके मेरा जी फूल की कली के रूप में खिले। बाहर की बोली और गंवारी कुछ उसके बीच में न हो। अपने मिलने वालों में से कोई बड़े पढ़े लिखे पुराने-पुराने डाग, बूढ़े धाग यह खटराग लाये सिर हिलाकर मुँह थुकाकर नाक भौं चढ़ाकर आँखे फिराकर लगे कहने, यह बात होती दिखाई नहीं देती। हिन्दवीपन भी न निकले और भाखापन न ढूँस जाए।" (रानी केतकी की कहानी, पृष्ठ 73)

'फोर्ट विलियम कॉलेज' की स्थापना से पूर्व हिन्दी खड़ीबोली गद्य का रूप जो औपनिवेशिक प्रभावों से मुक्त था, इन रचनाओं में परिलक्षित होता है। धार्मिक, सांस्कृतिक और भारतीयता के रंग में रंगे इस गद्य का प्रसार बाद में नहीं हो पाया, कारण उपनिवेशवादी भाषा-नीति का दबाव और अंग्रेज़ी इतिहासकारों की खण्डित इतिहास-दृष्टि का नतीजा था कि आधुनिक खड़ीबोली गद्य का प्रसार उन्हें 'फोर्ट विलियम कॉलेज' से पहले नज़र नहीं आता। ग्रियर्सन तो यहाँ तक लिखते हैं कि हिन्दी में खड़ीबोली गद्य के आरम्भकर्त्ता अंग्रेज़ ही थे। यह औपनिवेशिक संकीर्ण दृष्टि का ही परिचायक है।

हिन्दी खड़ीबोली गद्य के प्रसार में औपनिवेशिक-संस्कृति के योगदान को सिरे से नकारा नहीं जा सकता। ईस्ट इंडिया कंपनी भारत में अंग्रेज़ी राज को मजबूत करने के लिए और अपने साम्राज्य का विस्तार करने के लिए

एक ऐसी भाषा को विकसित करना चाह रही थी जो संवादी हो और जिससे वह अपना राज-काज कर सकें। अंग्रेज़ी भाषा उनके लिए सबसे ऊपर थी; मध्यकाल में राज की भाषा फ़ारसी थी और लोक की कई भाषाएँ प्रचलन में थीं जिससे जनता पारस्परिक सम्पर्क करती थी। फ़ारसी जनभाषा न थी सो मजबूरी में उन्होंने इसकी जगह लोकभाषाओं को महत्त्व दिया। 'फोर्ट विलियम कॉलेज (1880), कलकत्ता बुक सोसाइटी (1817), आगरा स्कूल बुक सोसाइटी (1817) आदि संस्थाओं की स्थापना की। इन संस्थाओं में अनुवाद, ज्ञान-विज्ञान और धर्म-शिक्षा के नये ग्रन्थों को तैयार करवाया गया। जनता में एक नयी भाषा खड़ीबोली गद्य का प्रसार हुआ।

2.4.05. फोर्ट विलियम कॉलेज और खड़ीबोली गद्य

हिन्दी खड़ीबोली गद्य के विकास में फोर्ट विलियम कॉलेज का महत्त्वपूर्ण योगदान है। सन् 1800 ई. तक अंग्रेज़ी साम्राज्य को मजबूत करने के लिए भाषा की नयी नीति बनाना और लागू करना अंग्रेज़ी शासन को महसूस हुआ। पहले से चली आ रही राज-काज की भाषा फ़ारसी उनकी जरूरतें पूरी नहीं कर पा रही थी सो देशी भाषा को जानने और अंग्रेज़ अधिकारियों को उसमें शिक्षित करने के लिए ऐसी संस्था की आवश्यकता थी। इसी उद्देश्य को पूरा करने के लिए सन् 1800 ई. में 'फोर्ट विलियम कॉलेज' की स्थापना की गई। मार्क्विस वेलेजली द्वारा स्थापित यह संस्था औपनिवेशिक शासन को मजबूत करने के लिए योजनाबद्ध तरीके से सन् 1800 ई. से सन् 1854 ई. तक संचालित हुई। कॉलेज की स्थापना के उद्देश्यों को समझने के लिए वेलेजली द्वारा लिखा गया यह तथ्य पढ़ना उपयोगी होगा जिसमें औपनिवेशिक भाषा-नीति का पता चलता है। उन्हीं के शब्दों में पढ़िए –

"विभिन्न भाषा-भाषी और आचार, रूढ़ियों और धर्मों का अनुसरण करने वाली असंख्य जनता के साथ न्याय बरतना, विस्तार में यूरोप के कुछ बड़े-बड़े राज्यों के बराबर जिलों में भारी और पेचीदा मालगुजारी प्रयत्न को व्यवहार में लाना, संसार में सबसे अधिक घने बसे हुए और झगड़ालू भूमि भागों में शान्ति बनाए रखना, यही अब अधिकतर कर्मचारियों का काम है। कारीगर तथा श्रमिक वर्ग के अन्य लोगों का उत्पादक परिश्रम ही हमारी पूँजी का मूल स्रोत है। ... यदि वे (ब्रिटिश कर्मचारी) देशी भाषा, जनता की रीति-रस्म और आचार के साथ-साथ देश के कायदे-कानून से परिचित होंगे तो ईस्ट इंडिया कंपनी के कर्मचारी किसी प्रकार भी एक व्यापारिक संस्था के एजेन्ट नहीं समझे जा सकते हैं, इसलिए उनका अध्ययन, शिक्षा, आचरण, आचार-विचार और चरित्र इस प्रकार विकसित और उन्मुख किए जाने चाहिए।" (फोर्ट विलियम कॉलेज, डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, पृष्ठ 25)

स्पष्ट है कि 'फोर्ट विलियम कॉलेज' का उद्देश्य औपनिवेशिक हित को पूरा करना था। इस कॉलेज में अनेक विषयों को पढ़ाया जाता था। अरबी, फ़ारसी, संस्कृत, हिन्दुस्तानी, बांग्ला, तमिल, तेलुगू, मराठी, कन्नड़, कानून, नीति आदि की शिक्षा के लिए कॉलेज में व्यवस्था थी। अलग-अलग भाषाओं के लिए प्रोफेसर नियुक्त किए गए। हिन्दुस्तानी के लिए जॉन गिलक्राइस्ट पहले प्रोफेसर बनाए गए। उन्होंने हिन्दुस्तानी भाषा से जुड़े कई ग्रन्थों की रचना की जिनमें 'ए डिक्शनरी इंग्लिश एंड हिन्दुस्तानी', 'दि ओरिएंटल लिंग्विस्टि' और 'डॉयलाग्स इंग्लिश एंड हिन्दुस्तानी' उल्लेखनीय हैं। ग्रिलक्राइट ने 'हिन्दी', 'उर्दू', 'रेख़्ता' और 'हिन्दुस्तानी' को एक माना

है। वे खड़ीबोली की तीन शैलियों का ज़िक्र करते हैं – (i) दरबारी या फ़ारसी शैली, (ii) हिन्दुस्तानी शैली और (iii) हिन्दवी शैली।

गिलक्राइस्ट को 'हिन्दुस्तानी शैली' सर्वाधिक पसंद थी। इसे वे 'द ग्रैंड पॉपुलर स्पीच ऑफ हिन्दुस्तान' कहते हैं। सन् 1800 ई. से सन् 1815 ई. तक गिलक्राइस्ट द्वारा संस्तुत 'हिन्दुस्तानी' कॉलेज की भाषा थी। सन् 1815 ई. के बाद 'हिन्दी' के अध्ययन का प्रसार हुआ। ग्रिलक्राइस्ट के बाद इस सन्दर्भ में सबसे अधिक कार्य विलियम प्राइस ने किया। कॉलेज के पत्रों में 'हिन्दुस्तानी' की जगह 'हिन्दी' का प्रयोग करने का श्रेय प्राइस महोदय को ही है।

'फोर्ट विलियम कॉलेज' सन् 1800 ई. से सन् 1854 ई. तक चला। हिन्दी तथा भारतीय भाषाओं के अध्ययन-अध्यापन के लिए हिन्दी प्रोफेसर और मुंशी नियुक्त हुए। इन्हीं अध्यापकों में लल्लूलाल और सदल मिश्र दो प्रमुख अध्यापक हैं। खड़ीबोली गद्य के निर्माण और संस्कार में इनका योगदान उल्लेखनीय है। लल्लूलाल (1763-1835 ई.) आगरा-निवासी गुजराती ब्राह्मण थे। इनको संस्कृत के साथ उर्दू का भी ज्ञान था। 'फोर्ट विलियम कॉलेज' में लल्लूलाल जी की नियुक्ति सन् 1802 ई. के आरम्भ में हुई। 'सिंहासन बत्तीसी', 'बैतालपच्चीसी', 'शकुन्तलानाटक', 'माधवानल' और 'प्रेमसागर' लल्लूलाल जी की प्रमुख रचनाएँ हैं। लल्लूलाल जी को सबसे अधिक प्रसिद्धि 'प्रेमसागर' से मिली। 'फोर्ट विलियम कॉलेज' में इस रचना की भाषा को 'ठेठ हिन्दी', 'हिन्दवी' और 'खड़ीबोली' कहा गया है। आगरा-निवासी होने से रचना में ब्रजभाषा का पुट सहज रूप में विद्यमान है जिसमें कथावाचकों की शैली का प्रभाव है। माधुर्य और सरसता से युक्त लल्लूलाल जी की भाषा में कवितापन भी है। 'लतायफ-इ-हिन्दी' नाम की रचना में लल्लूलाल जी ने सरल हिन्दुस्तानी का प्रयोग किया है। लल्लूलाल जी की रचना में प्रयुक्त भाषा का प्रभाव ईसाई धर्म के प्रचार-ग्रन्थों पर भी पड़ा। यों परवर्ती काल में इनकी भाषा को उतना महत्त्व नहीं मिला लेकिन हिन्दी गद्य के आरम्भिक रचनाकार के रूप में लल्लूलाल जी का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

सदल मिश्र (1768-1848) मूलतः बिहार के निवासी थे। कॉलेज में रहते हुए इन्होंने दो कृतियों 'चन्द्रावती या नासिकेतोपाख्यान' और 'रामचरित्र' का लेखन किया। 'नासिकेतोपाख्यान' एक लघु रचना है जिसमें नासिकेत की उत्पत्ति से लेकर उनके यमलोक की यात्रा का विवरण है। इस कथा का स्रोत 'कठोपनिषद्' में वर्णित नचिकेता की कथा है। आरा-निवासी होने के कारण इनकी भाषा पर बिहारी भाषा का स्पष्ट प्रभाव है। इनकी भाषा में पण्डिताऊपन का पुट है। आचार्य शुक्ल के शब्दों में "लल्लूलाल के समान इनकी भाषा में न तो ब्रजभाषा के रूपों की वैसी भरमार है और परम्परागत काव्य-भाषा की पदावली का स्थान-स्थान पर समावेश। इन्होंने व्यावहारोपयोगी भाषा लिखने का प्रयत्न किया है और जहाँ तक हो सकता है खड़ीबोली का ही व्यवहार किया है।" (हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 231)

2.4.06. खड़ीबोली गद्य का विकास और धार्मिक-सामाजिक संस्थाएँ

ईसाई मिशनरियों के द्वारा किये गए धर्म-प्रचार के साथ-साथ 'ब्रह्मसमाज' और 'आर्यसमाज' जैसी सामाजिक संस्थाओं के प्रयास से खड़ीबोली हिन्दी गद्य का प्रचार-प्रसार हुआ । आइए, इसका विस्तारपूर्वक अध्ययन करें ।

2.4.06.1. ईसाई धर्म प्रचार और खड़ीबोली गद्य

हिन्दी खड़ीबोली गद्य के विकास में ईसाई धर्म-प्रचारकों का विशेष योगदान है । अपने मत के प्रचार के लिए उन्होंने धार्मिक-ग्रन्थों का अनुवाद करवाया और व्याख्यानों की भाषा भी हिन्दी ही रखी । इन धर्म-प्रचारकों ने हिन्दी की उस परम्परा का अनुसरण किया जिस भाषा का प्रयोग रामप्रसाद निरंजनी, सदासुख लाल और लल्लूलाल ने अपनी रचनाओं में किया है । ईसाई धर्म-प्रचारकों की भाषा में देशीपन के प्रयोग के सन्दर्भ में आचार्य शुक्ल ने भी लिखा है – "ईसाईयों ने अपनी धर्म पुस्तक के अनुवाद की भाषा में फ़ारसी और अरबी के शब्द, जहाँ तक हो सका है, नहीं लिए हैं और ठेठ ग्रामीण शब्द तक बेधड़क रखे गए हैं । उनकी भाषा सदासुखलाल और लल्लूलाल के नमूने पर चली है ।" (हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 232)

ईसाई धर्म के प्रचार के लिए मिशनरियों ने बाइबिल का अनुवाद कराया । हेनरी मार्टिन ने 1809 ई. में बाइबिल का हिन्दी और उर्दू दोनों भाषाओं में अनुवाद किया । बाइबिल के अतिरिक्त कई छोटी-छोटी धार्मिक पुस्तकों का अनुवाद 'हिन्दी' में हुआ । इन पुस्तकों में टामसन का 'दाऊद के गीत', जॉन म्योर का 'ईश्वरोक्त शास्त्र धारा' आदि प्रमुख हैं । जनता तक अपने धर्म के सन्देश को पहुँचाने के लिए इन्होंने जनपदीय बोलियों और सहज भाषा को अपनाया । इस प्रचार-सामग्री से खड़ीबोली गद्य साहित्यिक रूप से भले ही न समृद्ध हुई हो लेकिन गद्य के प्रसार में मिशनरियों के अनुवाद का उल्लेखनीय योगदान है ।

2.4.06.2. धार्मिक-सामाजिक आन्दोलन, शिक्षण संस्थाएँ, पत्रकारिता और हिन्दी गद्य

खड़ीबोली गद्य के विकास में उन्नीसवीं शताब्दी की सामाजिक-सांस्कृतिक संस्थाओं का विशेष योगदान रहा । राजाराम मोहन राय द्वारा स्थापित ब्रह्मसमाज (सन् 1828 ई.) का हिन्दी गद्य के विकास में विशेष योगदान है । सन् 1829 ई. में राजाराम मोहन राय ने 'बंगदूत' नामक पत्रिका का प्रकाशन हिन्दी में किया । बांग्लाभाषी होते हुए भी राजाराम मोहन राय ने यह महसूस किया कि सम्पूर्ण राष्ट्र में राष्ट्रीयता की चेतना को जाग्रत करने के लिए हिन्दी को अपनाना और उसका विकास करना आवश्यक है ।

हिन्दी गद्य के आरम्भिक स्वरूप को विकसित करने वाले सामाजिक-सांस्कृतिक आन्दोलनों में 'आर्यसमाज' की महती भूमिका है । 'आर्यसमाज' के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द सरस्वती ने 1874 ई. में 'सत्यार्थप्रकाश' द्वारा हिन्दी गद्य को राष्ट्रीय स्वरूप प्रदान किया । गम्भीर विषयों की प्रस्तुति में इस ग्रन्थ में हिन्दी

की तर्क शैली का प्रयोग किया गया है । एक धार्मिक और सनातनी आग्रह के बावजूद भाषा की दृष्टि से 'सत्यार्थप्रकाश' एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है ।

सन् 1800 ई. में 'फोर्ट विलियम कॉलेज' के प्रभाव से हिन्दी भाषा और संस्कृति को नयी ऊर्जा मिली । भाषा के साथ ज्ञान-विज्ञान की विविध शाखाओं का ज्ञान देने के लिए कंपनी शासन ने 'कलकत्ता बुक सोसाइटी', 'बरेली कॉलेज', 'आगरा कॉलेज', दिल्ली कॉलेज' संस्थाओं की स्थापना की । सन् 1838 ई. से सन् 1850 ई. के बीच इन संस्थाओं में हिन्दी गद्य में पाठ्य-पुस्तकें रची गईं । इसमें हिन्दी गद्य का परिमार्जित रूप तो नहीं है लेकिन भाषिक विकास की दृष्टि से ये पुस्तकें उल्लेखनीय हैं ।

हिन्दी के प्रथम साप्ताहिक समाचार पत्र 'उदन्त मार्तण्ड' (सन् 1826 ई.) सम्पादक पण्डित युगल किशोर सुकुल ने प्रकाशित किया । हिन्दी की व्यावहारिक भाषा का इस पत्र में सुन्दर प्रयोग किया गया है । सन् 1829 ई. में 'बंगदूत' नामक पत्र राजाराम मोहन राय के सम्पादन में निकला । यह हिन्दी के साथ अंग्रेज़ी और बांग्ला में भी प्रकाशित होता था । सन् 1845 ई. में गोविन्द रघुनाथ के सम्पादन में 'बनारस अखबार' प्रकाशित हुआ । सन् 1854 ई. में हिन्दी का पहला दैनिक पत्र 'समाचार सुधावर्षण' श्यामसुन्दर सेन के सम्पादकत्व में निकला । इन पत्र-पत्रिकाओं में हिन्दी गद्य का परिमार्जित रूप दिखाई देता है । इनमें देवनागरी लिपि की व्यावहारिक छवि का दर्शन होता है ।

हिन्दी खड़ीबोली गद्य का यह आरम्भिक रूप भारतेन्दु युग के पहले का है । भारतेन्दु के आगमन के साथ हिन्दी भाषा और गद्य में सर्जनात्मकता का नया उन्मेष हुआ । यों कि भारतेन्दु जी की भाषा-नीति में जिन व्यक्तियों ने सर्वाधिक असर डाला उसमें राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द' और राजा लक्ष्मण सिंह का नाम लिया जाता है । सितारेहिन्द की भाषा में उर्दूपन की अधिकता थी तो लक्ष्मण सिंह ने संस्कृतनिष्ठ हिन्दी की पक्षधरता की । भारतेन्दु ने राजाद्वय की इस भाषा-नीति को आत्मसात् करते हुए हिन्दी की जातीय ज़मीन के अनुकूल एक ऐसी जनभाषा विकसित की जो उर्दू के बोझ दबी न थी और न ही उसमें संस्कृत का पंडिताऊपन था । वह लोक के शब्द और लोक मुहावरे से बनी भाषा थी । यह बात काबिले गौर है कि भारतेन्दुयुगीन खड़ीबोली गद्य की इस इमारत की नींव 'दक्खिनी हिन्दी' में पड़ी और वहाँ से होते हुए यह उत्तरभारत के हिन्दी गद्य की आरम्भिक चेतना से गुजरकर रूपायित होती है ।

2.4.07. सारांश

खड़ीबोली गद्य का आरम्भ हिन्दी साहित्य के आदिकाल से ही हो गया जिसमें अवधी, ब्रज, राजस्थानी और मैथिली के गद्य रचे गए । मध्यकाल में खड़ीबोली हिन्दी का परिमार्जित रूप 'दक्खिनी हिन्दी' में परिलक्षित होता है । दक्खिनी हिन्दी जब उत्तर में आई तो वह रेख़्ता कहलायी । आधुनिक युग में 'हिन्दी', 'हिन्दवी', 'हिन्दुस्तानी', 'रेख़्ता' और 'उर्दू' के समन्वित रूप से खड़ीबोली गद्य का विकास हुआ । यह कई उतार -चढ़ाव से गुजरी । औपनिवेशिक युग में 'फोर्ट विलियम कॉलेज' जैसी संस्था ने हिन्दी खड़ीबोली गद्य को एक व्यवस्थित

और सांस्थानिक रूप दिया। हिन्दी गद्य के चतुष्टय लेखक सदासुखलाल, इंशा अल्ला ख़ाँ, लल्लूलाल और सदल मिश्र न होते तो शायद हिन्दी खड़ीबोली की नींव इतनी मजबूत न होती। ईसाई मिशनरियों की धर्म-प्रचार पुस्तकों ने भी खड़ीबोली गद्य का कम प्रसार न किया। नवजागरण की चेतना से राष्ट्रीय स्तर पर सामाजिक-सांस्कृतिक आन्दोलनों में हिन्दी गद्य का रूप व्यापक हुआ। 'ब्रह्म-समाज', 'आर्य-समाज' के साथ कई शैक्षिक संस्थाओं पत्र-पत्रिकाओं ने भी हिन्दी खड़ीबोली गद्य को समृद्ध बनाया।

2.4.08. बोध प्रश्न

(1) निम्नांकित **बहुविकल्पीय** प्रश्नों के उत्तर दीजिए –

1. 'सबरस' के लेखक हैं –

(क) गेसूदराज
(ख) शाह मीरांजी
(ग) सैय्यद हुसैन अली
(घ) मुल्ला वजही

सही उत्तर – (घ)

2. 'लल्लूलाल' जी की रचना है –

(क) सुखसागर
(ख) प्रेमसागर
(ग) नासिकेतोपाख्यान
(घ) इश्कसागर

सही उत्तर – (ख)

3. 'फोर्ट विलियम कॉलेज' का स्थापना-वर्ष है –

(क) सन् 1803 ई.
(ख) सन् 1802 ई.
(ग) सन् 1800 ई.
(घ) सन् 1801 ई.

सही उत्तर – (ग)

4. 'सत्यार्थप्रकाश' के लेखक हैं –

(क) स्वामी दयानन्द सरस्वती
(ख) स्वामी सहजानन्द
(ग) स्वामी विवेकानन्द
(घ) राजा राममोहन राय

सही उत्तर – (क)

(2) निम्नांकित **लघु उत्तरीय** प्रश्नों के उत्तर दीजिए –

1. 'हिन्दवी', 'हिन्दुस्तानी' और 'रेख़्ता' में भेद स्पष्ट कीजिए।
2. आदियुगीन हिन्दी गद्य साहित्य का परिचय दीजिए।
3. 'दक्खिनी हिन्दी' के स्वरूप की संक्षिप्त विवेचना कीजिए।
4. 'फोर्ट विलियम कॉलेज' से जुड़े लल्लूलाल और सदल मिश्र के कृतित्व का परिचय दीजिए।

(3) निम्नांकित **दीर्घ उत्तरीय** प्रश्नों के उत्तर दीजिए –

1. हिन्दी खड़ीबोली गद्य के विकास में 'फोर्ट विलियम कॉलेज' के योगदान की विवेचना कीजिए।
2. "हिन्दी गद्य का आरम्भिक सर्जनात्मक रूप दक्खिनी हिन्दी में है।" स्पष्ट कीजिए।

2.4.09. कठिन शब्दावली

प्रौढ़	:	परिपक्व
परिमार्जित	:	परिष्कृत
रेख़्ता	:	हिन्दी और उर्दू के बीच की भाषा
दक्खिनी	:	दक्कनी जबान, दक्षिण की ज़बान जो दिल्ली से दक्षिण गई

2.4.10. सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, संस्करण : वि.सं. 2054
2. हिन्दी का गद्य साहित्य, रामचन्द्र तिवारी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, संस्करण : 2009 ई.
3. हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास, द्वितीय खण्ड : गणपति चन्द्र गुप्त, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण : 2004
4. हिन्दी गद्य : विन्यास और विकास, रामस्वरूप चतुर्वेदी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण : 2002
5. दक्खिनी हिन्दी, बाबूराम सक्सेना, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, संस्करण : 2012
6. फोर्ट विलियम कॉलेज (1800-1847), लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, हिन्दी परिषद्, प्रयाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
7. गद्य की पहचान, अरुण प्रकाश, अंतिका प्रकाशन, गाजियाबाद, संस्करण : 2015

❖❖❖

खण्ड – 3 : पुनर्जागरण, नवजागरण और स्वच्छन्दता

इकाई – 1 : सांस्कृतिक पुनर्जागरण के पुरोधा भारतेन्दुऔर उनका मण्डल

इकाई की रूपरेखा

3.1.0. उद्देश्य
3.1.1. प्रस्तावना
3.1.2. सांस्कृतिक पुनर्जागरण
3.1.2.1. सांस्कृतिक पुनर्जागरण की आधारभूमि
3.1.2.2. सांस्कृतिक पुनर्जागरण का स्वरूप
3.1.2.3. सांस्कृतिक पुनर्जागरण और आधुनिकता
3.1.3. भारतेन्दु : सांस्कृतिक पुनर्जागरण के पुरोधा
3.1.4. भारतेन्दु मण्डल और सांस्कृतिक पुनर्जागरण
3.1.4.1. प्रतापनारायण मिश्र
3.1.4.2. बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन'
3.1.4.3. अम्बिकादत्त व्यास
3.1.4.4. ठाकुर जगमोहन सिंह
3.1.4.5. राधाकृष्ण दास
3.1.4.6. राधाचरण गोस्वामी
3.1.5. सारांश
3.1.6. शब्दावली
3.1.7. उपयोगी ग्रन्थ-सूची
3.1.8. बोध प्रश्न

3.1.0. उद्देश्य

प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. सांस्कृतिक पुनर्जागरण के विभिन्न स्वरूपों से परिचित हो सकेंगे।
ii. सांस्कृतिक पुनर्जागरण के आलोक में भारतेन्दु के रचनात्मक अवदानों का अनुशीलन कर सकेंगे।
iii. भारतेन्दु मण्डल के प्रमुख रचनाकारों की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

3.1.1. प्रस्तावना

सांस्कृतिक पुनर्जारण के पुरोधा भारतेन्दु का युग सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक सभी क्षेत्रों में पुनर्जागरण का युग है । साहित्यिक क्षेत्र में इसकी परिणति विषय-चयन में नवीनता, व्यापकता एवं विविधता के रूप में परिलक्षित होती है। हिन्दी साहित्य के इतिहास में भारतेन्दु युग को 'पुनर्जागरण काल' के नाम से भी अभिहित

किया जाता है। राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक परिदृश्य में परिवर्तन के साथ-साथ यह युग साहित्य के क्षेत्र में नये परिवर्तनों का प्रस्थान-बिन्दु कहा जा सकता है। छापखाने के आविष्कार के साथ-साथ पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन के माध्यम से भारतेन्दु युग में न केवल साहित्यकारों का आविर्भाव हुआ, अपितु पुनर्जागरण से उत्पन्न चेतना को आत्मसात् करते हुए एक नयी रचनाशीलता का उद्‌भव भी इस युग में सम्भव हो सका। भारतेन्दु युग में जनचेतना पुनर्जागरण की भावना से अभिप्रेरित थी। सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक क्षेत्र में एक गहन अन्तस्सम्बन्ध विद्यमान था। ब्रह्मसमाज, प्रार्थनासमाज, आर्यसमाज, रामकृष्ण परमहंस और विवेकानन्द के चिन्तन व विचारों तथा थियोसॉफिकल सोसाइटी आदि संस्थाओं के सुधारवादी सिद्धान्तों का व्यापक प्रभाव भी सामान्य जनजीवन पर पड़ रहा था। आर्थिक, औद्योगिक और धार्मिक क्षेत्रों में भी पुनर्जागरण की प्रक्रिया आरम्भ होने लगी थी।

3.1.2. सांस्कृतिक पुनर्जागरण

भारतेन्दु युग आधुनिक रचनाशीलता के साथ-साथ सामाजिक-सांस्कृतिक पुनर्जागरण सम्बन्धी मूल चिन्तन का युग है। परम्परा तथा आधुनिकता के संक्रमण काल में स्थित यह युग और इसकी सर्जनात्मकता जहाँ एक ओर रीतिकालीन साहित्यिक संस्कारों और परम्परागत काव्य चिन्तन से असम्पृक्त नहीं रह सकी, वहीं दूसरी ओर इस युग में नयी चेतना के प्रभाववश सांस्कृतिक पुनर्जागरण के निहितार्थ एक बार फिर से साहित्य और जीवन के बीच घनिष्ठ अन्तस्सम्बन्धों का सूत्रपात भी होता है। युगीन प्रेरणा और नयी चेतना ने रचनाकारों और विचारकों को समाज व संस्कृति के सापेक्ष नये और युगीन विचार प्रस्तुत करने को अभिप्रेरित किया।

3.1.2.1. सांस्कृतिक पुनर्जागरण की आधारभूमि

कंपनी शासन के परिणामस्वरूप भारत की आर्थिक नीति, शिक्षा प्रणाली, यातायात के साधनों आदि में आधारभूत परिवर्तन हुए। लेकिन सामाजिक व्यवस्था का जो आधुनिकीकरण आरम्भ हुआ, उसका भारत के प्राचीन सामाजिक-धार्मिक संस्कारों, रीति-रिवाजों से कोई मेल नहीं था। फलस्वरूप नव यथार्थ और पुराने संस्कारों के बीच समन्वय की आवश्यकता महसूस की जाने लगी। इस समन्वय व सामंजस्य के मध्य ही नूतन भारतीय समाज के निर्माण की प्रक्रिया आरम्भ हुई। वस्तुतः पूँजीवादी समाज की अर्थव्यवस्था वैयक्तिक स्वतन्त्रता पर आधारित है। नया पूँजीवादी समाज जाति, संयुक्त परिवार जैसे पारम्परिक बन्धनों से मुक्त होकर ही विकसित हो सकता है। कहना गलत न होगा कि भारतीय पुनर्जागरण के मूल में व्यक्ति स्वातन्त्र्य का अपना विशिष्ट महत्त्व है।

आधुनिक युग में ब्रह्मसमाज, प्रार्थनासमाज और आर्यसमाज आदि सामाजिक संस्थाओं ने पुराने धर्म को नये समाज के अनुरूप ढालने का प्रयास किया। ब्रह्म समाज और प्रार्थना समाज ने तो नये परिवर्तनों को अंगीकार कर लिया था, लेकिन आर्यसमाज वैदिक धर्म के मूल स्वरूप को बनाए रखने के पक्ष में था। उस समय की राजनैतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक विचारधारा पर आर्यसमाज का विशेष प्रभाव देखा जा सकता है।

यद्यपि ब्रिटिश हुकूमत ने भारत में नयी आर्थिक प्रणाली, औद्योगिकता, परिवहन व संचार सुविधा, प्रेस आदि को अपने निजी हितों की पूर्ति के लिए स्थापित किया था, फिर भी अनेक मायनों में इससे भारत का विकास हुआ और एक स्थिर व्यवस्था व प्रणाली से मुक्त होकर देश को नवीन गत्यात्मकता का अनुभव हुआ। कई परम्पराएँ टूटने लगीं तथा नूतन परिवेश में जनसामान्य अपने को नये ढंग से ढालने लगा। भारतेन्दु युग में जिस पुनर्जागरण का उल्लेख किया जाता है, उसके मूल में भी ये बदली हुई परिस्थितियाँ ही थीं। अंग्रेज़ों और ईसाई मिशनरियों द्वारा भारतीय धर्म और संस्कृति के प्रति उपेक्षात्मक प्रवृत्ति के कारण धर्म व समाज-सुधारकों के लिए एक प्रभावी तरीका अपनाना आवश्यक हो गया था। इसके लिए धर्म व समाज-सुधारकों ने भारतीय धर्म और संस्कृति के गौरव का प्रचार किया। चूँकि, उस समय धर्म समाज के साथ अनिवार्यतः जुड़ा हुआ था, इसलिए पुनर्जागरण हेतु समाज-सुधारकों ने धर्मशास्त्रों का सहारा लिया। भारतीय सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना की एक व्यापक और मानवीय भूमिका भारतेन्दुयुगीन साहित्य के मूल में दिखाई देती है। तत्युगीन साहित्य सामाजिक सुधार, धार्मिक सुधार और संस्कृति तथा साहित्य से सम्बन्धित समस्त सुधारों को राजनैतिक व सांस्कृतिक चेतना से जोड़कर ब्रिटिश सत्ता के विरुद्ध भारतीय स्वतन्त्रता पर केन्द्रित करते हुए एक सफल सामाजिक-सांस्कृतिक पुनर्जागरण के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

3.1.2.2. सांस्कृतिक पुनर्जागरण का स्वरूप

कंपनी शासन के कारण उपजी नवीन परिस्थितियों एवं परिवेश का प्रभाव भारतीय कला, संगीत और साहित्य पर भी पड़ा। पाश्चात्य शिक्षा और नवागत जीवन-शैली के कारण तत्युगीन भारत की पहचान खोने लगी। नवीन और पुरातन के अन्तर्विरोध के संकट ने बुद्धिजीवियों को नये सिरे से अपनी पहचान कायम करने के लिए अभिप्रेरित किया। पुनर्जागरण के अग्रदूत भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने विवेकसम्मत ढंग से अपनी संस्कृति को नये रूप में संगठित करने का प्रयास किया। उनकी प्रेरणा से समकालीन रचनाकारों ने अतीत-गौरव को प्रासंगिकता से सम्बद्ध किया तथा देश में उभरती हुई राष्ट्रीय, सामाजिक व सांस्कृतिक चेतना को ठोस रूप दिया। भारतेन्दुयुगीन अधिकांश साहित्य 'स्व' की पहचान से निर्मित है। भारत की प्राचीन गौरवपूर्ण संस्कृति को देश की लगभग सभी भाषाओं में अभिव्यक्त किया गया। इस अतीत-गौरव गान के मूल में पुनरुत्थानवाद न होकर पुनर्जागरण ही क्रियाशील था। राष्ट्रीयता इस कालखण्ड का दूसरा प्रमुख स्वर था। इसका दूरगामी प्रभाव यह पड़ा कि कालान्तर में सन् 1947 ई. में स्वाधीनता-प्राप्ति तक इसमें कहीं भी शिथिलता नहीं दिखाई पड़ती।

कला और संगीत का विशेष घरानों से सम्बन्ध हुआ करता था। ये घराने इनकी स्वरूपगत रक्षा में पीढ़ी-दर-पीढ़ी संलग्न रहा करते थे। मध्यकाल में इन घरानों के संरक्षण का दायित्व सामन्त वर्ग पर था। मुग़लकाल के उपरान्त संगीत की मौलिकता प्रायः समाप्त-सी हो गई। वह छोटे-छोटे सामन्तों के आश्रय में किसी प्रकार साँस लेता रहा तथा जो कुछ शेष अस्तित्व बचा था वह पाश्चात्य संस्कृति की आँधी में नष्ट हो गया। भारतीय पुनर्जागरण के प्रभावस्वरूप बंगाल में गुरुदेव ठाकुर रवीन्द्रनाथ टैगोरने नये संगीत की परिकल्पना की जिसमें पूर्व और पश्चिम के स्वरों का मिश्रण था। इसे रवीन्द्र-संगीत की संज्ञा दीगई।

भारतेन्दुयुगीन रचनाकारों का साहित्यिक फलक अत्यन्त विस्तृत एवं व्यापक है। उनकी रचनात्मक प्रवृत्तियाँ एक ओर जहाँ अपनी पूर्ववर्ती भक्तिकाल व रीतिकाल से प्रभावित हैं तो दूसरी ओर समकालीन परिवेश के प्रति जागरण का भी उनमें अभाव नहीं है। राष्ट्रीय सांस्कृतिक एकता के निहितार्थ इस समय के रचनाकारों ने देश के उत्कर्ष-अपकर्ष के लिए उत्तरदायी परिस्थितियों को उद्घाटित कर तत्युगीन जनमानस में राष्ट्रीय भावना के बीजवपन का उल्लेखनीय कार्य किया। अपने रचनात्मक प्रतिपाद्य को उन्होंने कहीं व्यंग्योक्तियों के माध्यम से प्रकट किया तो कहीं अतीत के प्रेरणादायी प्रसंगों की चर्चा द्वारा आमजन को पुनर्जागरण का मन्त्र दिया है। अंग्रेज़ों की शोषण-नीति को उजागर करते हुए भारतेन्दु कहते हैं –

भीतर भीतर सब रस चूसै।
हँसि हँसि कै तन मन धन मूसै॥
ज़ाहिर बातन मैं अति तेज।
क्यों सखि साजन नहिं अँगरेज॥

रीतिकाल में राजाओं और सामन्तों के आश्रय में लिखित दरबारी काव्य में सामाजिक-सांस्कृतिक परिवेश का चित्रण प्रायः उपेक्षित रहा। भारतेन्दुयुगीन रचनाकारों ने सामान्य जन और सामाजिक जीवन की उपेक्षा न कर उनकी वास्तविक समस्याओं के निरूपण की ओर ध्यान केन्द्रित किया है। तत्युगीन सामाजिक-सांस्कृतिक समस्याओं को रूपायित करने के लिए भारतेन्दुयुगीन साहित्यकारों, बुद्धिजीवियों, समाज-सुधारकों ने मध्यमवर्गीय सामाजिक परिस्थितियों का चित्रण तो किया ही, साथ ही, देश में सदियों से मौजूद सामाजिक जड़ताओं, रूढ़ियों, पाखण्डों, कुरीतियों का प्रबल व तार्किक विरोध करते हुए मानवीय विकास एवं जन चेतना की आकांक्षा को भी सार्थक एवं सशक्त अभिव्यक्ति प्रदान की। पश्चिमी सभ्यता के सम्पर्क में आने पर देश के सांस्कृतिक पुनर्जागरण की आवश्यकता का अनुभव करते हुए प्रतापनारायण मिश्र राष्ट्र की तत्युगीन दुर्दशा पर गहरी चिन्ता व्यक्त करते हुए कहते हैं –

अभी देखिए क्या दशा देश की हो,
बदलता है रंग आसमां कैसे-कैसे।

भारतेन्दुयुगीन रचनाकारों ने साम्प्रदायिक धार्मिकता व आडम्बर का विरोध करते हुए वैचारिक उदारता अपनाने पर बल दिया है। बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' धार्मिक सहिष्णुता व समन्वय-भावना के आकांक्षी हैं –

सभी धर्म के वही सत्य सिद्धान्त न और विचारो।

अंग्रेज़ी शिक्षा प्राप्त नवयुवकों का भारतीय परम्पराओं-संस्कारों को त्याग कर पश्चिमी सभ्यता का अंधानुकरण करता देख 'प्रेमघन' ने मार्मिक व्यंग्य करते हैं –

जग जानैं इंगलिश हमैं, वाणी वस्त्रहिं जोय।
मिटै बदन कर श्याम रंग, जन्म सुफल तब होय॥

3.1.2.3. सांस्कृतिक पुनर्जागरण और आधुनिकता

जिस समय और समाज ने भारतेन्दुयुगीन विचारकों, साहित्यकारों व समाजसुधारकों की रचनात्मक व सांस्कृतिक दृष्टि का निर्माण किया है और उसे सामाजिक व राष्ट्रीय प्रतिबद्धता से जोड़ा है, वह समय और समाज भारतीय सामाजिक-राजनैतिक आन्दोलनों की चरम अवस्था का समाज है। तत्युगीन रचनाकारों ने सांस्कृतिक पुनर्जागरण और आधुनिकता के पूरे सन्दर्भ को सामान्य जन चेतना से जोड़कर विदेशी हुकूमत के विरुद्ध व्यापक सामाजिक-सांस्कृतिक आन्दोलन के रूप में प्रस्तुत किया है।

आधुनिकता एक दृष्टि है जो मूलतः लोक से सम्बद्ध है और वैज्ञानिक सोच से निर्मित होती है। इसी से आधुनिककाल में विकसित मानवतावाद, समता, स्वतन्त्रता आदि सिद्धान्त सामाजिक न्याय के आधार पर उचित माने गए। स्वतन्त्रता-प्राप्ति की इच्छा आधुनिक युग की मूल संवेदना है। इसलिए पुनर्जागरण के दौर में विकसित राष्ट्रीयता एवं स्वाभिमान की भावनाएँ भी आधुनिकता का परिणाम मानी जा सकती हैं। आधुनिकता-बोध मनुष्य को रूढ़ियों एवं परम्पराओं से मुक्त होने के लिए प्रेरित करता है। भारतेन्दुयुगीन साहित्य ने परम्परा से श्रेष्ठ जीवन-मूल्य लेकर नवीन विचारों को अपनाते हुए भारतीय समाज का आगे बढ़ने का मार्ग प्रशस्त किया। तत्कालीन कविता, कहानी, उपन्यास, निबन्ध, नाटक आदि समस्त साहित्यिक विधाएँ सांस्कृतिक पुनर्जागरण और आधुनिकता के केन्द्रीय भाव से ओत-प्रोत हैं।

3.1.3. भारतेन्दु : सांस्कृतिक पुनर्जागरण के पुरोधा

सेठ अमीचंद की वंश परम्परा में उत्पन्न (भारतेन्दु) हरिश्चन्द्र के पिता बाबू गोपालचंद्र 'गिरिधरदास' अपने समय के प्रख्यात साहित्यकार (कवि) थे। साहित्यिक परिवेश में पले-बढ़े हरिश्चन्द्र ने बाल्यावस्था में ही कविताएँ लिखना आरम्भ कर दिया था। अल्पायु में ही साहित्यिक प्रतिभा से सम्पन्न भारतेन्दु ने अपनी रचनात्मक क्षमता का ऐसा परिचय दिया कि सन् 1880 ई. उन्हें 'भारतेन्दु' की उपाधि से विभूषित किया गया।

सशक्त अभिव्यक्ति और सम्प्रेषणीयता भारतेन्दु की रचनाओं का अन्यतम गुण है और सामाजिकता उसका अद्वितीय धर्म। भारतेन्दु ने साहित्य की प्रायः समस्त विधाओं में अपने रचनात्मक कौशल का परिचय दिया है। उनकी रचनाएँ लोकतान्त्रिक विचारधारा की रचनाएँ हैं जिनमें समग्र जीवन को देखने, सोचने और समझने का माद्दा मौजूद है। जीवन और जगत् के बहुआयामी परिवर्तनशील स्वरूपों के परिणामस्वरूप उत्पन्न मानवीय अनुभूतियाँ और संवेदनाएँ उनकी रचनाओं की मूल अन्तर्वस्तु हैं जिसके कारण उनके कृतित्व में पूरा संसार, समाज, संस्कृति व मनुष्य अपनी समग्रता के साथ व्यक्त हो पाया है।

कविता के क्षेत्र में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र नवयुग के अग्रदूत माने जाते हैं। उनकी कविताओं में विषयगत विविधताएँ सहज ही परिलक्षित होती हैं। उन्होंने भक्ति, देश-प्रेम, शृंगार, सामाजिक-सांस्कृतिक परिवेश और प्रकृति के अलग-अलग सन्दर्भों को ग्रहण कर पर्याप्त काव्य-सृजन किया है। अपनी कविताओं में वे एक ओर जहाँ प्राचीन काव्य-प्रवृत्तियों के अनुगामी रहे, वहीं दूसरी ओर उन्हें नवीन काव्यधारा के प्रवर्तन का श्रेय भी मिला है।

भारतेन्दु नायक-नायिका के सौन्दर्य-वर्णन तक ही सीमित नहीं रहे, बल्कि उनके लिए नवीन कर्त्तव्य-क्षेत्रों का भी निर्देशन करते हैं। इतिवृत्तात्मकता की नीरसता होने के बावजूद भारतेन्दु के साहित्य में हास्य-व्यंग्य का पैनापन भी मौजूद है। उनकी प्रमुख काव्य-कृतियों में 'प्रेममालिका', 'प्रेम सरोवर', 'गीत-गोविन्दानन्द', 'वर्षा-विनोद', 'विनय-प्रेम पचासा', 'प्रेम-फुलवारी', 'वेणु-गीति' आदि उल्लेखनीय हैं।

हिन्दी गद्य के विकास में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का बहुमुखी योगदान है। कवि होने के साथ-साथ भारतेन्दु एक सफल नाटककार भी थे। 'भारत जननी', 'वैदिकी हिंसा न भवति', 'सत्य हरिश्चन्द्र', 'श्रीचन्द्रावली नाटिका', 'विषस्यविषमौषधम्', 'भारत-दुर्दशा', 'नीलदेवी', 'अन्धेर नगरी', 'सतीप्रताप', 'प्रेमजोगिनी' आदि उनकी महत्त्वपूर्ण नाट्यकृतियाँ हैं। सांस्कृतिक पुनर्जागरण के निहितार्थ उनके नाटकों में सुधारवादी दृष्टिकोण के साथ-साथ राष्ट्रीय, सामाजिक व सांस्कृतिक चेतना की सशक्त अभिव्यक्ति हुई है। युगीन समस्याओं को आम जन तक पहुँचाने का भरसक प्रयास भारतेन्दु के नाटकों में अनुभव किया जा सकता है। उनके नाटकों का प्रधान स्वर उपदेशात्मक है तथापि वे जन-कल्याण की भावना से ओत-प्रोत हैं। अतीत-गौरव एवं ऐतिहासिक श्रेष्ठता प्रतिपादित करने का अंकुरण भारतेन्दु युग में ही हो गया था जिसका सम्यक् विकास परवर्ती प्रसादयुगीन नाटकों में दिखाई देता है। भारतेन्दु ने तत्युगीन दर्शकों की अभिरुचि को परिष्कृत करने का प्रयास किया तथा पारसी थियेटर की व्यावसायिक मनोवृत्ति से उत्पन्न हीन अभिरुचियों का प्रबल विरोध किया। उन्होंने संस्कृत नाट्यकला के साथ पाश्चात्य नाट्यकला का समन्वय करके हिन्दी नाट्यकला को नवीन दिशा की ओर अग्रसर करने का महती प्रयास किया।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने पुरातत्त्व, इतिहास, धर्म, कला, समाज-सुधार, भाषा, साहित्य आदि अनेक विषयों पर निबन्ध लिखे। वस्तुतः भारतेन्दु के निबन्ध ही हिन्दी के प्रारम्भिक निबन्ध हैं जिनमें निबन्ध विधा की मूलभूत विशेषताएँ मौजूद हैं। अपने सामाजिक-सांस्कृतिक निबन्धों में भारतेन्दु ने तत्युगीन कुरीतियों पर प्रहार किया है। राजनैतिक निबन्धों में विदेशी शासन पर उनका तीखा व्यंग्य देखते ही बनता है। हिन्दी पत्रकारिता के क्षेत्र में भी भारतेन्दु का स्थान अन्यतम है। 'कविवचनसुधा' के प्रकाशन से भारतेन्दु के अवसान तक हिन्दी पत्रकारिता के विकास का दूसरा उत्थान पूरा हो जाता है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र मानवता के रचनाकार हैं। उनकी संवेदना धारदार, तीक्ष्ण और भ्रान्तिहीन है। उनके कथ्य पारदर्शी एवं उज्ज्वल हैं। सामाजिक-सांस्कृतिक पुनर्जागरण के परिप्रेक्ष्य में उनका सम्पूर्ण व्यक्तित्व उनकी रचनाओं में निखर उठा है। कहना सही होगा कि जहाँ भी शोषण है, अन्याय है, विषमता है, भ्रष्टाचार है, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की संवेदना वहाँ पूरी शिद्दत से उपस्थित है।

3.1.4. भारतेन्दु मण्डल और सांस्कृतिक पुनर्जागरण

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के जीवन-काल में ही उनकी विचारधारा से समर्थित कवियों और लेखकों का एक समूह प्रसिद्ध हो गया। हिन्दी साहित्य के इतिहास में इसे भारतेन्दु मण्डल के नाम से जाना जाता है। भारतेन्दु मण्डल के

प्रमुख साहित्यकारों में पण्डित प्रतापनारायण मिश्र, बदरीनारायण चौधरी उपाध्याय 'प्रेमघन', पण्डित अम्बिकादत्त व्यास, ठाकुर जगमोहन सिंह, राधाकृष्ण दास, राधाचरण गोस्वामी और बालकृष्ण भट्ट विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन सभी साहित्यकारों ने भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के नेतृत्व में हिन्दी की समस्त विधाओं में अपना योगदान दिया। शोषण व घोर अराजकता के तत्युगीन वातावरण में भारतेन्दु मण्डल का अवदान तत्युगीन भारतीय समाज को निराशा के अन्धकार में गिरने से बचाता है। सामाजिक-सांस्कृतिक पुनर्जागरण के सन्दर्भ में भारतेन्दुयुगीन रचनाकारों का प्रयास उनकी रचनाओं की विषयगत विविधता, संवेदनशीलता और चिन्तन की गहराई के माध्यम से प्रकट है।

3.1.4.1. प्रतापनारायण मिश्र

पण्डित प्रतापनारायण मिश्र का जन्म सन् 1856 ई. में उत्तरप्रदेश के उन्नाव जिले में हुआ था। इनकी शिक्षा-दीक्षा कानपुर में सम्पन्न हुई। ज्योतिष का पैतृक व्यवसाय न अपनाकर वे साहित्य-रचना की ओर अभिमुख हुए। कविता, निबन्ध और नाटक विधा में इन्होंने विभिन्न विषयों को लेकर सार्थक लेखन किया है। कानपुर के रंगमंच और साहित्यिक संस्था 'रसिक-समाज' से इनका बहुत निकट का सम्बन्ध था। 'प्रेमपुष्पाली', 'मन की लहर', 'लोकोक्ति शतक', 'तृप्यंताम्' और 'शृंगार विलास' इनकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। 'प्रताप-लहरी' इनकी प्रतिनिधि कविताओं का संकलन है। हास्य-व्यंग्यात्मक कविताओं के लेखन में ये सिद्धहस्त थे। इनकी 'हरगंगा', 'बुढ़ापा' आदि कविताओं में हास्य-व्यंग्य का पुट विद्यमान है। बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' की भाँति इन्होंने भी 'लावनी' शैली में अनेक कविताएँ लिखी हैं तथा काव्य-रचना के लिए खड़ीबोली की बजाय ब्रजभाषा को प्राथमिकता दी है। ये भावुक कवि थे तथापि अर्थव्यंजना पक्ष में व्यावहारिकता पर बल देते थे। समसामयिक देश-दशा और राजनैतिक चेतना का वर्णन इन्होंने बड़े मनोयोग से किया है। उदाहरण देखिए –

पढ़ि कमाय कीन्हों कहा, हरे न देश कलेस।
जैसे कांता घर रहे, तैसे रहे विदेस॥

तत्युगीन भारतीय समाज में बाल-विधवाओं की दुर्दशा को निरूपित करते हुए प्रतापनारायण मिश्र लिखते हैं –

कौन करैजो नहिं कसकत सुनि बिपति बाल विधवनकी।

तत्युगीन समाज में कवियों की प्रतिभा और रचना-कौशल को परखने के लिए कवि गोष्ठियों और कवि समाजों में कठिनतम विषयों पर समस्यापूर्ति का आयोजन किया जाता था। इस सन्दर्भ में समस्या पूर्ति के निमित्त कानपुर के 'रसिक समाज' में इनकी निम्नलिखित हृदयस्पर्शी पंक्तियाँ उल्लेखनीय हैं –

बन बैठी है मान की मूरति सी मुख खोलत बोलै न नाहीं नहाँ।
तुम ही मनुहारी कै हारि परै सखियान की कौन चलाई तहाँ।

बरशा है 'प्रताप जू' धीर धरौ अबलौं मन को समुझायो जहाँ।
यह व्यारि तबै बदलेगी कछू पपीहा जब पूछि है पीव कहाँ॥

भारतेन्दु युग में नाटकों की रचना का मूल उद्देश्य मनोरंजन के साथ-साथ जनमानस को जाग्रत करना और उनमें आत्मविश्वास उत्पन्न करना था। इस आलोक में 'कलिकौतुक रूपक' पण्डित प्रतापनारायण की उल्लेखनीय नाट्यरचना है। निबन्ध-लेखन में इनके लिए विषय की कोई सीमा नहीं थी। 'धोखा', 'खुशामद', 'आप', 'दाँत', 'भौं', 'नारी', 'मुच्छ', 'परीक्षा', 'ह', 'द', 'समझदार की मौत है', 'मनोयोग' आदि विषयों को लेकर इन्होंने अपनी विशिष्ट शैली में निबन्ध लिखे हैं। भारतेन्दु की भाँति इनका उद्देश्य भी जनचेतना को जाग्रत करना था। इसलिए इन्होंने देश की दुर्दशा का चित्र खींचकर सभी क्षेत्रों में सुधार और नव-निर्माण की प्रेरणा दी है।

3.1.4.2. बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन'

भारतेन्दु मण्डल के रचनाकारों में बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनका जन्म 1855 ई. में मिर्जापुर (उत्तरप्रदेश) के एक सम्पन्न परिवार में हुआ। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की तरह इन्होंने भी गद्य-पद्य में पर्याप्त साहित्य-रचना की। साप्ताहिक 'नगरी-नीरद' और मासिक 'आनन्दकादम्बिनी' पत्रिकाओं के सम्पादन द्वारा तत्कालीन हिन्दी पत्रकारिता को भी इन्होंने नयी दिशा दी। 'जीर्ण जनपद', 'आनन्द अरुणोदय', 'हार्दिक हर्षदशा', 'मयंक महिमा', 'अलौकिक लीला', 'वर्षा बिन्दु' आदि प्रेमघन की उल्लेखनीय काव्य-रचनाएँ हैं जो अन्य रचनाओं के साथ 'प्रेमघन सर्वस्व' के प्रथम भाग में संकलित हैं। 'लालित्य-लहरी' के वन्दना सम्बन्धी दोहों और 'बृजचन्द-पंचक' में इनकी भक्ति-भावना प्रकट हुई है। इनकी काव्य-रचनाएँ मुख्यतः जातीयता, समाजदशा और राष्ट्रप्रेम पर आधारित हैं, तथापि इन्होंने राजभक्ति सम्बन्धी कविताएँ भी लिखी हैं।

देश की दुरावस्था के मूलभूत कारणों और देशोन्नति के उपायों का जितना मार्मिक वर्णन 'प्रेमघन' जी ने किया है, वैसा भारतेन्दु की कविताओं में भी नहीं हुआ। वस्तुतः भारतेन्दु युग में जिन साहित्यिक प्रवृत्तियों का सूत्रपात हुआ था, 'प्रेमघन' जी ने उन्हीं प्रवृत्तियों को विकसित करते हुए पुनर्जागरण का सन्देश दिया है। इन्होंने ब्रजभाषा में काव्य-रचना की है। काव्य-रचना में इन्होंने विभिन्न छन्दों का प्रयोग किया। 'प्रेमघन' जी ने लोकसंगीत की 'कजली' और 'लावनी' में भी सरस कविताएँ गढ़ी हैं। दादाभाई नौरोजी को जब विलायत में 'काला' कहकर अपमानित किया गया, तब 'प्रेमघन' जी ने क्षोभपूर्ण प्रतिक्रिया व्यक्त की –

अचरज होत तुमहुँ सम गोरे बाजत कारे,
तासों कारे 'कारे' शब्दहु पर हैं वारे।
कारे कृष्ण, राम, जलधर जल बरसनवारे,
कारे लागत ताहीं सों कारन कौं प्यारे।
यातें नीको है तुम 'कारे' जाहु पुकारे,
यहै असीस देत तुमको मिलि हम सब कारे
सफल होंहि मन के सब ही संकल्प तुम्हारे॥

3.1.4.3. अम्बिकादत्त व्यास

अम्बिकादत्त व्यास का जन्म सन् 1858 ई. में काशी में हुआ था। इनके पिता का नाम दुर्गादत्त व्यास था। हिन्दी और संस्कृत के विद्वान् अम्बिकादत्त ने दोनों भाषाओं में रचनाएँ की। 'पीयूष-प्रवाह' के सम्पादक के रूप में भी इन्होंने अपनी रचनात्मक प्रतिभा का परिचय दिया। 'पावस पचासा', 'सुकवि सतसई' और 'हो हो होरी' इनकी उल्लेखनीय रचनाएँ हैं। 'बिहारी-विहार' इनकी एक महत्त्वपूर्ण रचना है जिसमें इन्होंने महाकवि बिहारी के दोहों का कुण्डलिया छन्द में भाव-विस्तार किया। 'भारत सौभाग्य' एवं 'गोसंकट' नाटकों में अम्बिकादत्त ने कुछ गेयपदों का समावेश किया है। प्राचीन भारतीय संस्कृति में इनकी गहन आस्था थी जिसका प्राकट्य इनकी रचनाओं में प्रत्यक्ष होता है।

पाश्चात्य सभ्यता की दोषों पर अम्बिकादत्त ने करारा व्यंग्य किया। इनकी धारणा है कि साहित्य-सृजन का उद्देश्य मनोविनोद नहीं है अपितु समाज को नैतिक उपदेश देना एवं जीवन-मूल्यों की स्थापना ही साहित्य-रचना का प्रधान लक्ष्य है। इनकी कृतियों का मुख्य लक्ष्य समाज को कुसंगतियोंके दुष्प्रभाव से सचेत करना तथा पश्चिमी जीवन-पद्धति एवं भौतिकवादी दृष्टिकोण को असंगत व मूल्यहीनठहराते हुए उसके प्रभाव से मुक्त रहने की शिक्षा प्रदान करना रहा है।

3.1.4.4. ठाकुर जगमोहन सिंह

ठाकुर जगमोहन सिंह का जन्म मध्यप्रदेश की विजय राघवगढ़ रियासत के अन्तर्गत सन् 1857 ई. में हुआ। काशी जाकर इन्होंने संस्कृत और अंग्रेज़ी की शिक्षा ग्रहण की। काशी में रहते हुए ही इनका भारतेन्दु बाबू से सम्पर्क हुआ। ठाकुर जगमोहन सिंह में काव्य-रचना की स्वाभाविक प्रतिभा विद्यमान थी। भावुक मनोवृत्ति वाले ठाकुर जगमोहन सिंह कल्पना, लालित्य, चित्रशैली आदि विशेषताओं से सम्पन्न थे। अलंकारों का स्वाभाविक नियोजन इनकी रचनाओं में अपेक्षाकृत अधिक परिलक्षित होता है। शृंगारवर्णन और प्रकृति सौन्दर्य-चित्रण में ठाकुर जगमोहन सिंह की विशेष अभिरुचि रही। 'प्रेमसम्पत्तिलता', 'श्यामालता', 'श्यामा सरोजिनी' और 'देवयानी' इनकी महत्त्वपूर्ण काव्य-रचनाएँ हैं। अपने बहुचर्चित उपन्यास 'श्यामा स्वप्न' में भी ठाकुर जगमोहन सिंह ने प्रसंगवश कुछ कविताओं का समावेश किया है। इनकी अनूदित रचनाएँ 'ऋतुसंहार' और 'मेघदूत' ब्रजभाषा की सरस कृतियाँ स्वीकार की जाती हैं। अपनी रचनाओं के माध्यम से इन्होंने तत्युगीन जीवन और जगत् के विविध पक्षों को अपनी सर्जनात्मक परिधि में समेटा है। भारतीय समाज में व्याप्त कुरीतियों, रीति-रिवाजों, विकृत परम्पराओं एवं विद्रूपताओं को उजागर करते हुए ठाकुर जगमोहन सिंह ने भारत की समेकित संस्कृति व गौरव को व्याख्यायित करने का प्रयास किया है।

3.1.4.5. राधाकृष्ण दास

भारतेन्दु मण्डल के अग्रणी समाजसुधारकों व साहित्यकारों में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखने वाले राधाकृष्ण दास का जन्म सन् 1865 ई. में हुआ। ये भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के फुफेरे भाई थे। विविध साहित्यिक

विधाओं में सिद्धहस्त राधाकृष्ण दास राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना के प्रतिनिधि साहित्यकार माने जाते हैं। इनकी रचनाएँ युगबोधी व समसामयिक हैं तथा राष्ट्रीयता, समाज-सुधार, स्वातन्त्र्य चेतना, मानवतावाद, सामाजिक समता आदि उदात्त विषयों को सम्पूर्णता में अभिव्यक्त करने में सक्षम हैं। तत्युगीन भारतीय व्यवस्था पर केन्द्रित 'भारत-बारहमासा' और 'देश-दशा' राधाकृष्ण दास की विशिष्ट काव्य-रचनाएँ हैं। इनकी कविताएँ 'राधाकृष्ण-ग्रन्थावली' में संकलित हैं। अम्बिकादत्त व्यास की परम्परा का अनुसरण करते हुए इन्होंने रहीम के दोहों पर कुण्डलियाँ रचे हैं। इनकी ब्रजभाषा में रचित कविताओं में माधुर्य और खड़ीबोली की रचनाओं में प्रसाद गुण का सफल निर्वाह हुआ है।

राधाकृष्ण दास ने युगीन यथार्थ एवं समसामयिक चेतना को अपने साहित्य का विषय बनाया है। इनकी रचनाओं में यथार्थ का चित्रण पूरी सच्चाई के साथ हुआ है। नाट्य-विधा के क्षेत्र में 'महाराणा प्रताप' और 'दुःखिनी बाला' इनकी उल्लेखनीय रचनाएँ हैं जिसमें देश की तत्कालीन दुर्दशा का यथार्थ चित्र उकेरा गया है और समाज की समस्याओं को प्रत्यक्ष करके उनकी मूलभूत बुराइयों को दूर करने की प्रेरणा दी गई है।

3.1.4.6. राधाचरण गोस्वामी

राधाचरण गोस्वामी की रचनाओं में कभी भी कोई एक प्रवृत्ति प्रमुख नहीं रही। इनके यहाँ पलक झपकते ही चित्रण और भाव दोनों बदल जाते हैं। इनका साहित्य राष्ट्रीय, सामाजिक व सांस्कृतिक पुनर्जागरण का साहित्य है। इनकी सामाजिक दृष्टि कबीर-प्रेरित सामाजिक दृष्टि है। इनकी कविताओं में पीड़ित, पद-दलित और शोषित के प्रति गहन संवेदना एवं सहानुभूति है। भारत-दुर्दशा का निरूपण देखिए –

मैं हाय-हाय दै धाय पुकारौं रोई।
भारत की डूबी नाव उबारौ कोई॥

राधाचरण गोस्वामी विरचित हिन्दी नाट्य-कृतियों में 'अमरसिंह राठौर' और 'बूढ़े मुँह मुँहासे' (प्रहसन) बहुचर्चित हैं। 'बूढ़े मुँह मुँहासे' में रचनाकार ने हास्य-व्यंग्यपूर्ण शैली में धार्मिक पाखण्डों और सामाजिक कुप्रथाओं पर तीखा प्रहार किया है। राधाचरण गोस्वामी ने निबन्ध-लेखन भी किया। राष्ट्रीय सांस्कृतिक जागरण इनके निबन्धों की बड़ी विशेषता है। इनके निबन्धों की विषयवस्तु तत्युगीन जीवन-चेतना से प्रत्यक्षतः जुड़ी है। बौद्धिकता, तार्किकता और भावगति का अद्भुत सामंजस्य इनके निबन्धों में देखने को मिलता है। इनके निबन्ध मुख्यतः जीवन व समाज के यथार्थ की ओर उन्मुख हैं और मानव जीवन की समस्त विशेषताओं से सम्पृक्त हैं।

3.1.5. सारांश

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और भारतेन्दु मण्डल के रचनाकारों का पुनर्जागरणवादी स्वर उनके द्वारा विरचित साहित्य के केन्द्र में दिखाई देता है। तत्युगीन कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, निबन्ध आदि सभी विधाएँ इसी भाव से ओत-प्रोत हैं। राष्ट्र और समाज के नव-निर्माण के लिए देशवासियों को जाग्रत करते हुए उन्हें आत्मोत्सर्ग

हेतु प्रेरित करने में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और भारतेन्दु मण्डल के रचनाकारों का साहित्यिक एवं रचनात्मक अवदान हिन्दी साहित्य की विशिष्ट उपलब्धि है।

3.1.6. शब्दावली

चेतना	:	ज्ञान, समझ
समेकित	:	एकीकृत, मिला-जुला
सम्पृक्त	:	युक्त, जुड़ा हुआ
उदात्त	:	श्रेष्ठ
आत्मोत्सर्ग	:	बलिदान, सर्वस्व समर्पण

3.1.7. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

1. सिंह, नामवर, आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद.
2. तिवारी, रामचन्द्र, आधुनिक हिन्दी साहित्य : विविध आयाम, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी.
3. शर्मा, रामविलास, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और हिन्दी नवजागरण की समस्याएँ, राजकमल प्रकाशन.
4. शर्मा, रामविलास, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, विद्याधाम, दिल्ली.
5. मिश्र, भगीरथ, हिन्दी साहित्य का परिचयात्मक इतिहास, राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली .
6. वर्मा, रामकुमार, हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद.

3.1.8. बोध प्रश्न

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. सांस्कृतिक पुनर्जागरण की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए।
2. सांस्कृतिक पुनर्जागरण की पृष्ठभूमि को संक्षेप में समझाइए।
3. सांस्कृतिक पुनर्जागरण के स्वरूप पर प्रकाश डालिए।
4. सांस्कृतिक पुनर्जागरण और आधुनिकता के अंतस्सम्बन्धों पर टिप्पणी कीजिए।
5. भारतेन्दु मण्डल के महत्त्वपूर्ण हस्ताक्षरों का परिचय दीजिए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. "भारतेन्दुयुगीन साहित्य जनचेतना व पुनर्जागरण की भावना से अनुप्राणित है।" उक्त कथन की समीक्षा कीजिए।
2. "भारतेन्दु मण्डल के रचनाकारों की सबसे बड़ी विशेषता प्राचीन और नवीन का समन्वय करने में है।" उक्तियुक्त चर्चा कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. 'भारत-बारहमासा' के रचनाकार हैं –

(क) ठाकुर जगमोहन सिंह
(ख) राधाकृष्ण दास
(ग) अम्बिकादत्त व्यास
(घ) पण्डित प्रतापनारायण मिश्र

2. निम्नलिखित में से कौनसी रचना बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' की नहीं है ?

(क) प्रेमपुष्पावली
(ख) मयंक महिमा
(ग) वर्षा-बिन्दु
(घ) उपर्युक्त सभी

3. 'शृंगार विलास' के रचयिता हैं –

(क) भारतेन्दु हरिश्चन्द्र
(ख) प्रतापनारायण मिश्र
(ग) राधाकृष्णदास
(घ) अम्बिकादत्त व्यास

4. 'समझदार की मौत है' निबन्ध के रचनाकार हैं –

(क) भारतेन्दु हरिश्चन्द्र
(ख) प्रतापनारायण मिश्र
(ग) ठाकुर जगमोहन सिंह
(घ) बालकृष्ण भट्ट

5. सही कूट का चयन कीजिए-

(क)	खुशामद	:	ठाकुर जगमोहन सिंह
(ख)	बाल-विवाह	:	प्रतापनारायण मिश्र
(ग)	नारी	:	अम्बिकादत्त व्यास
(घ)	इनमें से कोई नहीं		

❖❖❖

खण्ड – 3 : पुनर्जागरण, नवजागरण और स्वच्छन्दता

इकाई – 2 : भारतेन्दु युगीन नाटक, काव्य, निबन्ध, साहित्यिक पत्रकारिता और अन्य गद्य-विधाएँ

इकाई की रूपरेखा

3.2.0. उद्देश्य
3.2.1. प्रस्तावना
3.2.2. भारतेन्दुयुगीन नाटक
3.2.2.1. विषयवस्तु, उद्देश्य एवं उसकी व्यंजना
3.2.2.2. शिल्पगत वैशिष्ट्य
3.2.3. भारतेन्दुयुगीन काव्य
3.2.3.1. विषयवस्तु, उद्देश्य एवं उसकी व्यंजना
3.2.3.2. शिल्पगत वैशिष्ट्य
3.2.4. भारतेन्दुयुगीन निबन्ध
3.2.4.1. विषयवस्तु, उद्देश्य एवं उसकी व्यंजना
3.2.4.2. शिल्पगत वैशिष्ट्य
3.2.5. भारतेन्दुयुगीन साहित्यिक पत्रकारिता
3.2.6. भारतेन्दुयुगीन अन्य गद्य-विधाएँ
3.2.7. शब्दावली
3.2.8. उपयोगी ग्रन्थ-सूची
3.2.9. सम्बन्धित प्रश्न

3.2.0. उद्देश्य

प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. भारतेन्दुयुगीन नाटकों से परिचित हो सकेंगे।
ii. भारतेन्दुयुगीन काव्य की विवेचना कर सकेंगे।
iii. भारतेन्दुयुगीन निबन्धों की व्याख्या कर सकेंगे।
iv. भारतेन्दुयुगीन साहित्यिक पत्रकारिता को जान सकेंगे।
v. भारतेन्दुयुगीन अन्य गद्य-विधाओं का अनुशीलन कर सकेंगे।

3.2.1. प्रस्तावना

भारतेन्दु युग हिन्दी साहित्य में नवजागरण के सन्देशवाहक युग के रूप में भी जाना जाता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के रचनाकाल को दृष्टि में रखकर संवत् 1925 से 1950 की अवधि को ‘नयी

धारा' अथवा 'प्रथम उत्थान' की संज्ञा दी है और इस कालखण्ड को भारतेन्दु और भारतेन्दु मण्डल के रचनाकारों के कृतित्व से समृद्ध माना है। आधुनिक-बोध से सम्पृक्त इस युग में जीवन व साहित्य दोनों क्षेत्रों में विषयगत वैविध्य के दर्शन होते हैं। आधुनिकता का अर्थ होता है – समसामयिकता। परन्तु समसामयिक हो जाने मात्र से कुछ आधुनिक नहीं हो जाता। जब साहित्य को आधुनिकता की कसौटी पर कसकर देखा जाता है तो यह निश्चित किया जाता है कि रचना में प्रकट देशकाल और स्थितियों में जड़ताओं, पूर्वाग्रहों, अन्धविश्वासों को तोड़ते हुए रचनाकार किस सीमा तक बुद्धिजीवी है। परम्परा से मिले समृद्ध साहित्य में आधुनिकता की तलाश वस्तुतः जीवन-मूल्यों की तलाश है। सजग रचनाकार साहित्य पर पड़ने वाले हर तरह के प्रभाव का सूक्ष्म निरीक्षण, जाँच व पड़ताल करता है और उसका विश्लेषण करके जनता, समाज और इन पर लिखने वाले अन्य साहित्यकारों को आगाह करता है कि वे क्या कर रहे हैं और उन्हें क्या करना चाहिए। भारतेन्दुयुगीन साहित्य परम्परा समग्रता में जातीय चेतना और पुनर्जागरण का जीवन्त प्रवाह है। वह काल विच्छिन्न होते हुए भी पीढ़ियों से पीढ़ियों को हस्तान्तरित हो रही है। भारतेन्दुयुगीन साहित्यिक परम्परा में बहुत सी लघु परम्पराएँ भी अन्तर्निहित हैं जिनमें संघर्ष और आदान-प्रदान चलता रहता है। मानव जीवन की बहुविध अनुभूतियाँ, जो जीवन जीते हुए प्राप्त होती हैं, बिना किसी आग्रह के सहज संवेदनशील रूप में भारतेन्दुयुगीन साहित्य में अंकित हुई हैं।

3.2.2. भारतेन्दु युगीन नाटक

हिन्दी नाटकों का विधिवत आरम्भ बाबू भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से स्वीकार किया जाता है। वैसे तो इसके पहले भी 'रामायण महानाटक' (प्राणचंद चौहान), 'करुणाभरण' (लछिराम), 'शकुन्तला' (नेवाज), 'आनन्द रघुनन्दन' (महाराज विश्वनाथ सिंह), 'सभासार' (रघुराय नागर) आदि नाटकों का उल्लेख मिलता है लेकिन आलोचकों की दृष्टि में इन कृतियों में नाट्यकला के तत्त्वों का अभाव है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के पिता गोपालचंद्र गिरिधरदास ने 'नहुष', गणेश कवि ने 'विजय' तथा शीतलाप्रसाद त्रिपाठी ने 'जानकीमंगल' नाटकों की रचना की, जिनमें केवल 'जानकीमंगल' को नाट्यगुणों से परिपूर्ण माना जाताहै। सन् 1868 ई. में 'विद्यासुन्दर' के प्रकाशन के साथ ही भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का हिन्दी नाट्य-विधा में आगमन होता है। हालाँकि, भारतेन्दु की यह रचना संस्कृत के 'पंचशिका' का हिन्दी अनुवाद है। उल्लेखनीय है कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने हिन्दी में केवल मौलिक नाटकों की ही रचना नहीं की है, अपितु उन्होंने दूसरी भाषाओं की महत्त्वपूर्ण नाट्य-कृतियों के हिन्दी अनुवाद भी किए हैं। 'भारतजननी', 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति', 'सत्यहरिश्चन्द्र', 'श्रीचन्द्रावलीनाटिका', 'विषस्यविषमौषधम्', 'भारतदुर्दशा', 'नीलदेवी', 'अन्धेर नगरी', 'सती प्रताप', 'प्रेमजोगिनी' आदि भारतेन्दु कृत उल्लेखनीय नाट्य-कृतियाँ हैं। हिन्दी नाटक के उद्भव और विकास में भारतेन्दु के इस महनीय योगदान के कारण उन्हें हिन्दी नाट्य साहित्य का युगप्रवर्तक स्वीकार किया जाता है। भारतेन्दुयुगीन अन्य नाटककारों में लाला श्रीनिवास दास, राधाकृष्णदास, बालकृष्ण भट्ट, राधाचरण गोस्वामी, गोपालराम गहमरी, किशोरीलाल गोस्वामी, प्रतापनारायण मिश्र आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। भारतेन्दु युग में मौलिक और अनूदित दोनों प्रकार के नाटकों की सुदृढ़ एवं विकसित परम्परा परिलक्षित होती है जिससे हिन्दी नाट्य साहित्य को नवीन दृष्टि प्राप्त हुई है।

3.2.2.1. विषयवस्तु, उद्देश्य एवं उसकी व्यंजना

भारतेन्दुयुगीन नाटकों में ऐतिहासिक, पौराणिक एवं काल्पनिक कथाओं को विषयवस्तु बनाया गया। समाज-सुधार, राष्ट्रीय गौरव, अतीत-गौरव को नाटकों के माध्यम से दर्शकों तक सम्प्रेषित किया गया। प्रहसनों का मूल उद्देश्य व्यंग्य द्वारा समाज की कुरीतियों का मूलोच्छेदन करना था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र कृत मौलिक नाटकों में विषयों की विविधता है। 'वैदिक हिंसा न भवति' में उन्होंने धर्म के नाम पर की जाने वाली पशुबलि का विरोध किया है। 'विषस्यविषमौषधम्' में उन्होंने देशी राजाओं की दुर्दशा का जीवन्त चित्रण किया है। 'भारत-दुर्दशा' में अंग्रेज़ी राज में भारत की दुर्दशा का निरूपण किया गया है। 'नीलदेवी' में भारतीय नारी के आदर्शों को प्रतिपादित किया गया है। और 'अन्धेर नगरी' में भ्रष्ट शासन-तन्त्र पर तीव्र प्रहार किया गया है।

भारतेन्दुयुगीन ऐतिहासिक नाटकों में 'नीलदेवी' (भारतेन्दु), 'संयोगिता-स्वयंवर' (श्रीनिवास दास), 'अमरसिंह राठौर' (राधाचरण गोस्वामी), 'महाराणा प्रताप' (राधाकृष्णदास) आदि उल्लेखनीय कृतियाँ हैं। इन नाटकों में 'महाराणा प्रताप' को अत्यधिक लोकप्रियता प्राप्त हुई।

प्रेमप्रधान रोमानी नाटकों में 'रणधीर-प्रेममोहिनी' व 'तप्ता संवरण' (श्रीनिवास दास), 'प्रणयिनी-प्रणय' और 'मयंक मंजरी' (किशोरीलाल गोस्वामी), 'लावण्यवती-सुदर्शन' (शालिग्रामशुक्ल), 'पुष्पावती' (गोकुलनाथ शर्मा) आदि प्रमुख हैं। इनमें 'रणधीर-प्रेममोहिनी' हिन्दी का पहला दुःखान्त नाटक है जिसे विशेष प्रसिद्धि मिली।

सामयिक सन्दर्भों के अनुकूल रचित नाटकों में 'भारत-दुर्दशा' (भारतेन्दु हरिश्चन्द्र), 'नयी रोशनी का विष' (बालकृष्ण भट्ट), 'देश-दशा' (गोपालराम गहमरी), 'विधवाविवाह' (काशीनाथ खत्री), 'भारतहरण' (देवकीनन्दन त्रिपाठी) आदि महत्त्वपूर्ण हैं। इन नाटकों में देश की तत्युगीन समस्याओं का जीवन्त चित्रण मिलता है और समाज की समस्याओं को उजागर करके उनके मूल में व्याप्त बुराइयों को दूर करने की प्रेरणा दी गई है।

भारतेन्दु युग में अनेक सफल प्रहसनों की भी रचना की गई। 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति', 'अन्धेर नगरी' (भारतेन्दु), 'जैसा काम वैसा परिणाम' (बालकृष्ण भट्ट), 'महाअन्धेर नगरी' (विजयानन्द त्रिपाठी), 'कलिकौतुक रूपक' (प्रतापनारायण मिश्र), 'बूढ़े मुँह मुँहासे' (राधाचरण गोस्वामी) आदि प्रहसनों में धार्मिक पाखण्डों का खण्डन करते हुए तत्युगीन सामाजिक समस्याओं पर तीव्र प्रहार किए गए हैं।

भारतेन्दु युग के एक अन्य नाटककार के रूप में जी. पी. श्रीवास्तव का नाम उल्लेखनीय है। उनके द्वारा रचित प्रहसनों में 'उलटफेर', 'दमदार आदमी', 'गड़बड़झाला, 'न घर का न घाट का' आदि महत्त्वपूर्ण हैं। इसी परम्परा में पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र के 'चार बिचारे', 'उजबक' आदि नाटकों को भी रखा जा सकता है। प्रतीकवादी नाटकों में 'अद्भुत नाटक' (कमलाचरण मिश्र), 'न्यायसभा' (रतनचंद्र) और 'विज्ञान' (शंकरानन्द) महत्त्वपूर्ण हैं जिनमें भावों तथा मनोवृत्तियों को ही पात्रों का रूप दिया गया है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने हिन्दी नाट्य साहित्य को साहित्यिक भूमि प्रदान की। राष्ट्रीय सांस्कृतिक परम्परा को अक्षुण्ण गौरव, युग-चेतना को सशक्त स्वर और स्वर्णिम भविष्य के स्वस्थ स्वप्नों को रूप और रंग प्रदान करने में भारतेन्दुयुगीन नाटकों की महनीय भूमिका है। ये नाटकों संस्कृति की शालीनता, राष्ट्रीयता के उद्‌बोधन, अतीत-गौरव और लोककल्याण की आकांक्षा से पूरित हैं। भारतेन्दुयुगीन नाटकों का मुख्य प्रतिपाद्य भारतीय संस्कृति की संवेदना व राष्ट्रीय सामाजिक चेतना को प्रसारित करना रहा है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के नाटक सुधारवादी दृष्टिकोण के साथ-साथ राष्ट्रीय चेतना से अभिप्रेरित हैं। राधाकृष्णदास ने अपनी बहुचर्चित नाट्यकृति 'महाराणा प्रताप' में राणाप्रताप के शौर्य का वर्णन करते हुए राष्ट्रीय-भावना उत्पन्न करने का सार्थक प्रयास किया है। भारतेन्दुयुगीन नाटककारों ने अपनी रचनाओं के माध्यम से तत्युगीन समाज में व्याप्त कुरीतियों, अन्धविश्वासों, विकृत रीति-रिवाजों, आडम्बरों, रूढ़िवादी परम्पराओं तथा विद्रूपताओं को अत्यन्त सजगता से उजागर किया है। साथ ही, ऐतिहासिक, पौराणिक व काल्पनिक कथाओं को आधार बनाकर राष्ट्रीय गौरव-गान और समाज-सुधार के दायित्व का निर्वहन भी किया है।

भारतेन्दुयुगीन नाटकों की रचना का मूल उद्देश्य मनोरंजन के साथ ही जनमानस में आत्मविश्वास उत्पन्न करना और चेतना जाग्रत करना था। इसीलिए तत्युगीन नाटकों में सत्य, त्याग, न्याय, उदारता आदि उदात्त मूल्यों के प्रति आस्था उत्पन्न करने, पुरातन संस्कृति के प्रति विश्वास जगाने और विदेशी अंधानुकरण से समाज को सुरक्षित रखने का प्रयास निहित दिखाई देता है।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण तक सामन्तीय सामाजिक ढाँचा नष्ट हो चुका था और सामाजिक, राष्ट्रीय व सांस्कृतिक जागरण की लहर का पर्याप्त प्रसार हो गया। देश के शिक्षित वर्ग पर अंग्रेज़ी शिक्षा का प्रभाव पड़ने लगा और संवेदनशील मध्यम वर्ग आकार लेने लगा। उदारहृदय और विवेक-चेतना से सम्पन्न यह वर्ग व्यापक राष्ट्रीय एवं सामाजिक हितों के लिए प्रयत्नशील हुआ। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और तत्युगीन रचनाकारों की नाट्य-कृतियों में देशोद्धार और राष्ट्र-कल्याण की यही उदात्त भावना अभिव्यंजित होती है।

3.2.2.2. शिल्पगत वैशिष्ट्य

भारतेन्दु युग हिन्दी नाटकों के विकास का प्रथम पड़ाव है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र इस युग के सर्वश्रेष्ठ नाटककार हैं। उन्होंने अपने समय के दर्शकों की अभिरुचि को परिष्कृत करने का प्रयास किया। पारसी थियेटर की व्यावसायिक मनोवृत्ति से उत्पन्न हीन रुचियों का प्रबल विरोध किया और संस्कृत नाट्यकला के साथ-साथ पाश्चात्य नाट्यकला का समन्वय करके हिन्दी नाट्यकला को नवीन दिशा की ओर अग्रसर किया। उनके योगदान को रेखांकित करते हुए सुप्रसिद्ध समालोचक रामविलास शर्मा कहते हैं – 'भारतेन्दु जी ने अपने मौलिक और अनूदित नाटकों के जरिए एक साथ कई काम किये। उन्होंने नाटकों के माध्यम से नयी हिन्दी को लोकप्रिय बनाया, पारसी रंगमंच का विरोध किया तथा प्राचीन नाटकों का उद्धार किया।" भारतेन्दुयुगीन नाटकों में विषय-वैविध्य था तथापि तकनीकी में सुधार की आवश्यकता थी। उदाहरण के तौर पर रंग-संकेत तो भारतेन्दुयुगीन नाटकों में मिलते हैं, लेकिन वे अधिक प्रभावशाली नहीं हैं।

3.2.3. भारतेन्दु युगीन काव्य

हिन्दी काव्य-परम्परा में भारतेन्दु युग का उदय नवजागरण के प्रतिनिधि युग के रूप में हुआ । इसके सीमांकन में मतैक्य का अभाव है । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के रचनाकाल को दृष्टि में रखकर वि.सं. 1925 से वि.सं. 1950 की अवधि को 'नयी धारा' अथवा 'प्रथम उत्थान' की संज्ञा दी है । मिश्रबन्धुओं ने वि.सं. 1926 से वि.सं. 1945 तक, डॉ० रामकुमार वर्मा ने वि.सं. 1927 से वि.सं. 1957 तक, डॉ० केसरी नारायण शुक्ल ने वि.सं. 1922 से वि.सं. 1957 तक और डॉ० रामविलास शर्मा ने वि.सं. 1925 से वि.सं. 1957 तक भारतेन्दु युग की व्याप्ति मानी है । भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने काव्य-क्षेत्र को आधुनिक विषयों से परिपूर्ण किया तथा रीतिकालीन बँधी-बँधाई परिपाटी से हिन्दी कविता को मुक्त कर आधुनिक युग का द्वार खोल दिया । भारतेन्दु मण्डल के साहित्यकार कवि होने के साथ-साथ समाज-सुधारक एवं प्रचारक भी थे । अपनी कविताओं के माध्यम से उन्होंने समाज में व्याप्त कुरीतियों एवं रूढ़ियों पर प्रहार किया । हालाँकि, भारतेन्दुयुगीन कविता का अधिकांश वस्तुनिष्ठता, बुद्धिवादिता, वर्णनात्मकता और इतिवृतात्मकता से युक्त है तथापि ठाकुर जगमोहन सिंह, श्रीधर पाठक की कविताओं में सौन्दर्यवादी जीवन-दृष्टि का उन्मेष भी मिलता है ।

3.2.3.1. विषयवस्तु, उद्देश्य एवं उसकी व्यंजना

भारतेन्दुयुगीन कवियों का काव्यफलक अत्यन्त विस्तृत है । उनकी रचनात्मक प्रवृत्तियाँ एक ओर जहाँ भक्तिकाल और रीतिकालीन परम्परा से अनुबद्ध हैं, वहीं दूसरी ओर समकालीन परिवेश के प्रति भी जागरूक हैं । अपनी सजग राजनैतिक चेतना की प्रेरणास्वरूप भारतेन्दुयुगीन कवियों ने विदेशी शासन के अत्याचारों से शोषित भारतीय जनता में देशभक्ति एवं राष्ट्रीयता की भावना जगाने का कार्य किया –

भीतर भीतर सब रस चूसै ।
हँसि हँसि कै तन मन धन मूसै ॥
ज़ाहिर बातन मैं अति तेज ।
क्यों सखि साजन नहिं अँगरेज ॥

राधाचरण गोस्वामी की कविता 'हमारा उत्तम भारत देश' तथा राधाकृष्णदास द्वारा रचित 'भारत बारहमासा' देशभक्तिपूर्ण रचनाएँ हैं । अंग्रेज़ी शासन के गुणों की प्रशंसा करते हुए भारतेन्दु हरिश्चन्द्र उनके द्वारा किए जाने वाले शोषण का उल्लेख इस प्रकार करते हैं –

अँगरेज़ राज सुख साज सजे सब भारी ।
पै धन विदेस चली जात यहै अति ख्वारी ॥

भारतेन्दुयुगीन कवियों ने तत्युगीन समाज में व्याप्त रूढ़ियों व कुप्रथाओं का डटकर विरोध किया है । वे नारी-शिक्षा के प्रबल समर्थक हैं, विधवा-विवाह को प्रोत्साहित करते हैं तथा बालविवाह की भर्त्सना करते हैं । बाल-विधवाओं की दुर्दशा का मार्मिक चित्रण करते हुए प्रतापनारायण मिश्र कहते हैं –

कौन करैजो नहिं कसकत सुनि बिपति बाल विधवनकी।

भारत-दुर्दशा का जीवन्त चित्रण करते हुए राधाचरण गोस्वामी लिखते हैं –

मैं हाय-हाय दै धाय पुकारौं रोई।
भारत की डूबी नाव उबारौ कोई॥

भारतेन्दु युग में रीतिकालीन पद्धति पर शृंगार का विशद् चित्रण हुआ है। हालाँकि, राधा-कृष्ण की प्रेम लीलाओं का चित्रण अधिकांश रचनाकारों ने नायक व नायिका की सामान्य चेष्टाओं के रूप में ही किया है। भारतेन्दु की कविताओं 'प्रेम माधुरी', 'प्रेम तरंग', 'प्रेम फुलवारी' में शृंगार की मधुर अभिव्यक्ति हुई है –

आजु लौं न मिले तो कहा हम तो तुमरे सब भाँति कहावें।
मेरौ उराहनौ है कछु नाहिं सबै फल आपुने भाग को पावें।
जो हरिचंद भई सो भई अब प्रान चले चहैं तासों सुनावें।
प्यारे जू है जग की यह रीति बिदा की समैं सब कंठ लगावें॥

अम्बिकादत्त व्यास की 'पावस पचासा' और ठाकुर जगमोहन सिंह-कृत 'प्रेमसम्पत्तिलता' इस दृष्टि से उत्कृष्ट रचनाएँ हैं। प्रेम का जैसा निश्छल, सरस और रागात्मक वर्णन ठाकुर जगमोहन सिंह ने किया है, वैसी प्रस्तुति भारतेन्दु के यहाँ भी सुलभ नहीं है। 'प्रेमसम्पत्तिलता' की निम्नलिखित पंक्तियाँ देखिए –

अब यों उर आवत है सजनी, मिलि जाउँ गरे लगि कै छतियाँ।
मन की करि भाँति अनेक औ मिलि कीजिय री रस की बतियाँ।
हम हारि अरी करि कोटि उपाय, लिखी बहु नेह भरी पतियाँ।
जगमोहन मोहनी मूरति के बिन कैसे कटें दुख की रतियाँ॥

भारतेन्दु युग में भक्ति-भावना से ओत-प्रोत काव्य-रचनाएँ भी हुईं। "मेरे तो साधन एक ही हैं, जग नन्दलला वृषभानु दुलारी" के गायक भारतेन्दु स्वयं पुष्टिमार्ग में दीक्षित कृष्णभक्त थे। उनकी कविताओं में सख्य और विनय भाव की भक्ति का निदर्शन मिलता है। ईश्वर के प्रति अपनी दृढ़ आस्था एवं विश्वास प्रकट करते हुए दीनतापूर्वक भारतेन्दु कहते हैं –

उधारौ दीन बन्धु महाराज।
जैसे हैं तैसे तुमरे ही नहीं और सौं काज॥

भारतेन्दुयुगीन अन्य भक्तिपरक रचनाओं में 'अलौकिक कविता',' सूर्यस्तोत्रम्' (बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन'), 'कंसवध' (अम्बिकादत्त व्यास), 'कृष्ण रामायण' (घनारंग दूबे), 'नवरात्र के पद' (प्रतापनारायण मिश्र), 'नवभक्त ओमाल' (राधाचरण गोस्वामी) आदि प्रमुख हैं। भारतेन्दुयुगीन कवियों ने राम और कृष्ण के साथ ही अन्य देवी-देवताओं की महिमा भी गायी है।

भारतेन्दुयुगीन काव्य में प्रकृति का स्वच्छ रूप में चित्रण हुआ है। तत्युगीन कवियों ने अपनी कविताओं में एक ओर जहाँ वसन्त, वर्षा आदि ऋतुओं का मनोहारी वर्णन किया है वहीं साथ ही गंगा-यमुना आदि सरिताओं एवं चाँदनी, शीतल-मन्द-सुगन्धित पवन आदि का भी नयनाभिराम चित्रण किया है। उदाहरण के तौर पर यमुना के तट पर खड़े तमाल वृक्षों का चित्ताकर्षक वर्णन देखिए –

तरनि तनुजा तट तमाल तरुवर बहु छाए।
झुके कूल सौं जल परसन हित मनहु सुहाए ॥

हास्य-व्यंग्य की प्रवृत्ति भारतेन्दुयुगीन कविताओं की प्रधान विशेषता है। तत्युगीन कवियों ने अंग्रेज़ी शासन, पश्चिमी सभ्यता, सामाजिक अन्धविश्वास एवं रूढ़ियों को अपने व्यंग्य का विषय बनाया है। 'प्रेमजोगिनी' नाटिका के प्रथम अंक के दूसरा गर्भांक में 'देखी तुमरी कासी' कविता के माध्यम से भ्रष्ट, पाखण्डी और कामचोरों को आड़े हाथों लेते हुए भारतेन्दु कहते हैं –

देखी तुमरी कासी, लोगो, देखी तुमरी कासी।
जहाँ विराजैं विश्वनाथ विश्वेश्वरजी अनिवासी॥

आधी कासी भाट भंडेरिया बाम्हन औ संन्यासी।
आधी कासी रंडी मुंडी राँड़ खानगी खासी॥

लोग निकम्मे भंगी गंजड़ लुच्चे बे-बिसवासी।
महा आलसी झूठे शुहदे बे-फिकरे बदमासी॥

आप काम कुछ कभी करैं नहिं कोरे रहैं उपासी।
और करे तो हँसैं बनावैं उसको सत्यानासी॥

'अन्धेर नगरी' में चूरन वाला अंग्रेज़ों की साम्राज्यवादी नीति पर व्यंग्य करता हुआ कहता है –

चूरन साहेब लोग जो खाता।
सारा हिन्द हजम कर जाता॥

मद्यपान की बुराई पर व्यंग्य करते हुए भारतेन्दुहरिश्चन्द्र की निम्नलिखित मुकरी द्रष्टव्य है –

मुँह जब लागै तब नहिं छूटै
जाति मान धन सब कुछ लूटै।
पागल करि मोहि करै खराब
क्यों सखि साजन नहीं सराब॥

अंग्रेज़ी शिक्षा प्राप्त नवयुवकों के भारतीय रीति-नीति और संस्कार को छोड़कर पश्चिमी सभ्यता का अंधानुकरण करने पर प्रतापनारायण मिश्र अत्यन्त मार्मिक व्यंग्य करते हैं –

जग जानैं इंगलिश हमैं, वाणी वस्त्रहिं जोय।
मिटै बदन कर श्याम रंग, जन्म सुफल तब होय ॥

3.2.3.2. शिल्पगत वैशिष्ट्य

भारतेन्दुयुगीन काव्य-शिल्प के विषय में कतिपय विद्वज्जनों का मत है कि तत्युगीन रचनाकारों ने काव्य-शिल्प की अपेक्षा वर्ण्य-विषय को महत्त्व दिया है। लेकिन वास्तविकता यह है कि तत्कालीन शिल्प-विधान पर बदलते हुए परिवेश का अनिवार्यतः प्रभाव पड़ा है। भारतेन्दुयुगीन काव्य की भाषा ब्रज है। यह रीतिकालीन कवियों की भाँति परिष्कृत तो नहीं है तथापि उसमें स्वाभाविक प्रवाह मौजूद है। उर्दू के प्रचलित शब्दों का प्रयोग भाषिक-माधुर्य में वृद्धि करते हैं। आलंकारिकता की प्रवृत्ति भी भारतेन्दुयुगीन काव्य की अन्यतम विशेषता मानी जा सकती है। इस युग में कुछ फुटकर पद्य भी लिखे गए। अधिकांश कवियों ने मुक्तक शैली में काव्य-रचना की है। दोहा, सवैया, कवित्त, रोला, कुण्डलिया जैसे छन्द अधिक प्रयुक्त हुए हैं। अपने पूर्ववर्ती कवियों की भाँति भारतेन्दुयुगीन कवि भी विविधतापूर्ण छन्द-विधान के प्रति सजग हैं।

3.2.4. भारतेन्दु युगीन निबन्ध

हिन्दी की अन्य गद्य-विधाओं की भाँति हिन्दी निबन्ध का विकास भी भारतेन्दु युग से स्वीकार किया जाता है। इस कालखण्ड के निबन्धकारों ने अतिसाधारण प्रतीत होने वाले विषयों से लेकर से गम्भीरतम विषयों पर निबन्ध लिखे हैं। इस समय भारतीय समाज एक नयी चेतना से अनुपूरित हो रहा था। बुद्धिजीवी निबन्धकारों ने भी विचार-अभिव्यक्ति हेतु नूतन शैली अपनायी। इस समय तक हिन्दी में अनेक पत्र-पत्रिकाएँ भी प्रकाशित होने लगी थीं। पत्र-पत्रिकाओं ने निबन्धकारों के लिए मंच उपलब्ध कराया। उनके द्वारा विविध विषयों पर व्यक्त विचार इन पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित किये जाते थे। इन आलेखों को हिन्दी निबन्ध का प्रारम्भिक रूप कहा जा सकता है। इस दौर में लेखकों के समक्ष निबन्ध-लेखन हेतु अनेक विषय उपलब्ध थे। निबन्धकारों ने समसामयिक राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक विषयों को अपने निबन्धों का विषय बनाया। इस युग के प्रमुख निबन्धकारों में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', लाला श्री निवासदास, राधाचरण गोस्वामी, काशीनाथ खत्री आदि विशेषतः उल्लेखनीय हैं।

3.2.4.1. विषयवस्तु, उद्देश्य एवं उसकी व्यंजना

भारतेन्दु युग को हिन्दी निबन्ध की विकास-यात्रा का प्रारम्भिक चरण है। इससे पहले के गद्यकारों की रचनाओं में निबन्ध के गुण उपलब्ध नहीं थे। सही अर्थों में भारतेन्दु के निबन्ध ही हिन्दी के आरम्भिक निबन्ध हैं जिनमें निबन्ध-कला की मूलभूत विशिष्टताएँ सहज ही उपलब्ध होती हैं। भारतेन्दु के निबन्ध विषय एवं शैली की दृष्टि से बेजोड़ हैं। इतिहास, समाज, धर्म, राजनीति, धर्म, प्रकृति एवं व्यंग्य जैसे विषयों पर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने महत्त्वपूर्ण निबन्धों की रचना की है। अपने सामाजिक निबन्धों में उन्होंने तत्युगीन सामाजिक कुरीतियों पर प्रहार किया है। इसी प्रकार उनके राजनैतिक निबन्ध विदेशी शासन पर तीखा व्यंग्य करते हैं। भारतेन्दु के

आलोचनात्मक निबन्धों की भाषा प्रौढ़ होते हुए भी दुरूह व बोझिल नहीं हो पाई है। 'अंग्रेज़ स्त्रोत', 'पाँचवें पैगम्बर', 'स्वर्ग विचारसभा का अधिवेशन', 'लेवी प्राणलेवी' आदि भारतेन्दु के बहुचर्चित निबन्ध हैं।

भारतेन्दुयुगीन निबन्धकारों में प्रमुख निबन्धकार पण्डित बालकृष्ण भट्ट ने वर्णनात्मक, भावनात्मक और विचारोत्तेजक निबन्धों की रचना की है। निबन्ध-लेखन में वे हास्य को बहुत अधिक महत्त्व देते थे। उनके निबन्ध भावात्मक भी हैं तथा विचारात्मक भी। उदाहरण के तौर पर 'चन्द्रोदय' उनका भावात्मक निबन्ध है जबकि 'मुग्धमाधुरी' में विचार और भावना का सुन्दर समन्वय दिखाई पड़ता है। विषय की व्यापकता एवं मौलिकता के साथ-साथ शैली की रोचकता पण्डित बालकृष्ण भट्ट के निबन्धों की प्रमुख विशेषता है।

मनोरंजक एवं व्यंग्यप्रधान निबन्ध-लेखन में प्रवीण पण्डित प्रतापनारायण मिश्र के लिए निबन्ध के लिए कोई विषय-सीमा निश्चित नहीं थी। उन्होंने 'समझदार की मौत है', 'धोखा', 'खुशामद', 'आप', 'बात', 'परीक्षा', 'भौं', 'पेट', 'दाँत', 'नाक' जैसे विषयों पर विनोदपूर्णशैली में प्रभावपूर्ण निबन्धों की रचना की है। बालमुकुन्द गुप्त ने लार्ड कर्जन को सम्बोधित करते हुए 'शिवशम्भू का चिट्ठा' शीर्षक से निबन्ध लिखा जिसमें भारतवासियों की राजनैतिक विवशता का कच्चा चिट्ठा पेश किया गया है। राधाचरण गोस्वामी ने सामाजिक कुरीतियों पर प्रहार करते हुए अनेक उत्कृष्ट निबन्धों की रचना की। उदाहरण के लिए 'यमपुर की यात्रा' शीर्षक निबन्ध में उन्होंने 'गोदान' पर करारा व्यंग्य किया है – "यदि गौ की पूँछ पकड़कर पार उतर जाते हैं तो क्या बैल से नहीं उतर सकते। जब बैल से उतर सकते हैं तो कुत्ते ने क्या चोरी की है।" भारतेन्दुयुगीन निबन्धों का प्रमुख उद्देश्य राजनैतिक विषमता और सामाजिक कुरीतियों पर प्रहार करना रहा है। डॉ॰ रामविलास शर्मा ने तो इस युग में रचित निबन्धों को तत्युगीन रचित काव्य-रचनाओं और नाटकों से भी श्रेष्ठ माना है – "जितनी सफलता भारतेन्दु युग के लेखकों को निबन्ध-रचना में मिली उतनी कविता और नाटक में भी नहीं मिली है। भारतेन्दु युग की गद्य शैली के सबसे चमत्कारपूर्ण निदर्शन निबन्धों में ही मिलते हैं।" भारतेन्दुयुगीन निबन्धों का वैशिष्ट्य प्रतिपादित करते हुए बाबू गुलाब राय का कथन है – "निबन्ध की पृष्ठभूमि में रहने वाला निजीपन, हृदयोल्लास और चलतेपन के लिए भारतेन्दु युग सदैव चिरस्मरणीय रहेगा।"

3.2.4.2. शिल्पगत वैशिष्ट्य

भारतेन्दुयुगीन प्रत्येक निबन्धकार की शैली व्यक्तित्व-भेद से अलग-अलग है। समेकित रूप में देखा जाए तो विचारात्मक, भावात्मक, विवरणात्मक, वर्णनात्मक, कथात्मक, इतिवृत्तात्मक, अनुसंधानात्मक एवं भाषण शैली के निबन्ध भारतेन्दु युग में रचे गए हैं। प्रायः प्रत्येक शैली में रचित निबन्धों में राष्ट्रीय, सामाजिक, सांस्कृतिक पुनर्जागरणही मुख्य स्वर रहा।

3.2.5. भारतेन्दु युगीन साहित्यिक पत्रकारिता

भारतेन्दु युग के पूर्व ही पत्र-पत्रिकाओं के विकास का प्रथम दौर पूरा हो चुका था। भारतेन्दुयुगीन हिन्दी पत्रकारिता की व्याप्ति 1868 ई. से 1885 ई. तक है। यह अपेक्षाकृत बहुत छोटा कालखण्ड है तथापि इस दौर की

पत्रकारिता ने हिन्दी पत्रकारिता को अनेक स्तरों पर समृद्ध किया है । पत्र-पत्रिकाओं का सम्बन्ध प्रत्यक्षतः जनजागरण से है । भारतेन्दुयुगीन पत्रकारिता का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पक्ष यह है कि इस दौर में शुद्ध साहित्यिक पत्रिकाओं का प्रकाशन भी शुरू हुआ तथा हिन्दी भाषा के परिमार्जन के साथ-साथ आमजन में जागरण का भाव भी उत्पन्न हो पाया ।

सन् 1868 ई. में ही प्रकाशित 'कविवचन सुधा' के प्रकाशन से हिन्दी पत्रकारिता का एक स्वर्णिम अध्याय आरम्भ होता है । इस मासिक पत्र का प्रकाशन भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने साहित्यकारों की रचनाओं को दृष्टि में रखकर किया था, लेकिन शीघ्र ही यह सामान्य शिक्षित लोगों में भी लोकप्रिय हो गया । 1873 ई. में भारतेन्दु ने 'हरिश्चन्द्र मैग्जीन' का प्रकाशन प्रारम्भ किया जो 1874 ई. में 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' के नाम से प्रकाशित होने लगी । सन् 1880 ई. में 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' और 'मोहनचन्द्रिका' को संयुक्त कर दिया गया और नया नाम दिया गया – 'मोहनचन्द्रिका' । सन् 1884 ई. में भारतेन्दु ने 'नवोदित हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' का प्रकाशन भी प्रारम्भ कर दिया । वस्तुतः यही वह दौर है जब "हिन्दी नयी चाल में ढली ।" इस युग में पत्रकारिता ने अपने को निरन्तर विकसित किया तथा उसमें सामयिकता का महान् दायित्व भी जुड़ा।

समसामयिक प्रश्नों को उद्घाटित करने के साथ-साथ साहित्यिक विकास की दृष्टि से भी इस युग की पत्रकारिता का महत्त्व है । सन् 1874 ई. में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने महिलाओं पर केन्द्रित 'बालाबोधिनी' नामक पत्रिका का प्रकाशन आरम्भ किया जो विशेष तौर पर महिलाओं के लिए हिन्दी की पहली पत्रिका थी । इस पत्रिका ने अपार लोकप्रियता हासिल की ।

भारतेन्दु द्वारा प्रकाशित पत्र-पत्रिकाओं ने हिन्दी की पत्रकारिता को नयी जाग्रति से जोड़ा और उसे राष्ट्रीय दायित्वों के प्रति सजग भी किया । स्वाधीनता के प्रति जागरण का सन्देश देने के साथ-साथ इस युग के पत्र-पत्रिकाओं ने भ्रमित जीवन जीने को अभ्यस्त हो चुके युवाओं को उद्यमी तथा आत्मनिर्भर बनने की सीख भी दी । उदाहरण के तौर पर 'कविवचनसुधा' में भारतेन्दु की घोषणा होती थी – "सत्व निज भारत गहे ।" स्वाधीनता की प्रबल माँग भी भारतेन्दुयुगीन पत्रकारिता की एक सार्थक चेष्टा कही जा सकती है ।

भारतेन्दु मण्डल के साहित्यकारों ने विभिन्न महत्त्वपूर्ण पत्र-पत्रिकाओं का कुशल सम्पादन किया । इनमें पण्डित बालकृष्ण भट्ट, बदरीनारायण चौधरी प्रेमघन, पण्डित प्रतापनारायण मिश्र प्रमुख हैं। भारतेन्दु युग में अनेक महत्त्वपूर्ण पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित होना प्रारम्भ हुई जिनमें निम्नलिखित प्रमुख हैं – 'काशी', 'जगत समाचार' (1869), 'साप्ताहिक आगरा', 'सुलभ समाचार' (1871), 'बिहारबन्धु' (1872), 'चरणाद्रि चन्द्रिका' (1873), 'भारतबन्धु' (1874), 'काशी-पत्रिका' (1875), 'हिन्दी प्रदीप' (1877), 'कायस्थ समाचार' (1875), 'आर्यमित्र' (1875), 'भारत सुदशा प्रवर्तक' (1879), 'सार सुधानिधि' (1879), 'क्षत्रिय पत्रिका' (1880), 'आनन्दकादम्बिनी' (1881), 'भारतेन्दु' (1883), 'देवनागरी प्रचारक' (1882), 'ब्राह्मण' (1883), 'इन्दु' (1883), 'कान्यकुब्ज प्रकाश' (1884), 'हिन्दोस्थान' (1885), 'भारतोदय' (1885), 'रहस्य चन्द्रिका (1888),

'हिन्दी बंगवासी' (1890), 'नगरी-नीरद' (1893), 'साहित्य सुधानिधि' (1894), 'विद्याविनोद' (1895), 'समस्यापूर्ति' (1897), 'उपन्यास' (1898), 'पण्डित पत्रिका' (1898) आदि।

3.2.6. भारतेन्दु युगीन अन्यगद्य-विधाएँ

भारतेन्दु युग में इतिहास, राजनीति, भूगोल, ललित कला, भक्ति, धर्म और दर्शन, चिकित्साशास्त्र, विज्ञान आदि क्षेत्रों को लेखन का विषय बनाया गया। तत्युगीन रचनाकारों ने साहित्य की समस्त विधाओं के माध्यम से इन सभी विषयों पर अपने विचार प्रस्तुत किये। कविता के साथ ही हिन्दी गद्य साहित्य की मुख्य एवं गौण सभी विधाओं का विकास इस युग में देखने में आता है।

अन्य गद्य-विधाओं की तरह जीवनी साहित्य का आरम्भ भी भारतेन्दु युग में ही हुआ है। स्वयं बाबू भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने विक्रम, कालिदास, जयदेव, सूरदास, शंकराचार्य, मुग़ल बादशाहों, लार्ड मेयो, लार्ड रिपन आदि से सम्बद्ध अनेक महत्त्वपूर्ण जीवनियाँ लिखी हैं। इस युग में लिखित अन्य जीवनी साहित्य में 'अहिल्याबाई का जीवनचरित्र', 'छत्रपति शिवाजी का जीवनचरित्र' और 'मीराँबाई का जीवनचरित्र' (कार्तिक प्रसाद खत्री); 'हिन्दुस्तान की अनेक रानियों का जीवनचरित्र' (काशीनाथ खत्री); 'राजा मालदेव का जीवनचरित्र', 'अकबरनामा' (रमाशंकर व्यास); 'कविवर बिहारीलाल', 'सूरदास' (राधाकृष्ण दास) और 'श्री देवीसहायचरित्र', 'आर्यचरितामृत' (अम्बिकादत्त व्यास) उल्लेखनीय हैं।

भारतेन्दु युग में ही यात्रावृत्त-लेखन भी प्रारम्भ हो गया था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'सरयू-पार की यात्रा', 'लखनऊ की यात्रा', 'हरिद्वार की यात्रा' आदि यात्रावृत्तों का लेखन किया। इस युग में लिखित अन्य यात्रावृत्तों में 'गया यात्रा' (बालकृष्ण भट्ट), 'विलायत यात्रा' (प्रताप नारायण मिश्र), 'लंदन का यात्री' (भगवानदास वर्मा), 'ब्रजयात्रा' (विगू मिश्र) आदि प्रमुख हैं।

भारतेन्दु युग में इतिहास, भूगोल, व्याकरण, गणित, विज्ञान आदि विभिन्न विषयों पर पुस्तकें लिखी गईं। 'बूंदी का राजवंश' (भारतेन्दु हरिश्चन्द्र), 'मारवाड़ के प्राचीन लेख' (देवीप्रसाद मुंसिफ), 'राजनीति' (श्रीनिवास दास), 'भूगोल हस्तामलक' (राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द), 'जगत दर्शन' (ज्वालानाथ नागर), 'राग रत्नाकर' (भक्तिराम), 'सितार-चन्द्रिका' (मणिराम), 'आत्मचिकित्सा' (श्रद्धाराम फुल्लौरी), 'ज्ञानप्रकाश' (कृष्णदास), 'वैद्यक रत्न' (जनार्दन भट्ट), 'परमार्थ चिन्तन विधि' (हरिदास), 'समीकरण मीमांसा' (सुधाकर द्विवेदी) आदि इस युग में लिखित प्रमुख पुस्तकें हैं।

3.2.7. शब्दावली

आलम्बन	:	सहारा, आधार
उर	:	हृदय
तरुवर	:	वृक्ष

इतिवृत्त	:	कथा
तट	:	किनारा

3.2.8. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

1. वर्मा, धीरेन्द्र, हिन्दी साहित्य, भारतीय हिन्दी परिषद्, प्रयाग.
2. द्विवेदी, आचार्य हजारीप्रसाद, हिन्दी साहित्य : उद्भव और विकास, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.
3. वार्ष्णेय, लक्ष्मीसागर, हिन्दी साहित्य का इतिहास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद.
4. शर्मा, रामविलास, भारतेन्दु युग और हिन्दी भाषा की विकास परम्परा, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.
5. शर्मा, रामविलास, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और हिन्दी नवजागरण की समस्याएँ, राजकमल प्रकाशन.
6. चतुर्वेदी, रामस्वरूप, हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद.
7. मिश्र, भगीरथ, हिन्दी साहित्य का परिचयात्मक इतिहास, राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा. लि., नयी दिल्ली.

3.2.9. सम्बन्धित प्रश्न

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. भारतेन्दुयुगीन काव्य की सामान्य प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालिए।
2. भारतेन्दुयुगीन नाटकों की सामाजिक-सांस्कृतिक दृष्टि पर टिप्पणी कीजिए।
3. भारतेन्दु मण्डल के प्रमुख निबन्धकारों का परिचय दीजिए।
4. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र विरचित जीवनी साहित्य का उल्लेख कीजिए।
5. भारतेन्दुयुगीन साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं का उल्लेख कीजिए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. "भारतेन्दुयुगीन काव्य में शिल्प-विधान की तुलना में वर्ण्य-विषय पर अधिक ध्यान दिया गया है।" उक्त कथन की तात्त्विक समीक्षा कीजिए।
2. "हिन्दी गद्य साहित्य के विकासक्रम में भारतेन्दु युग का महत्त्व असाधारण है।" तथ्यपरक चर्चा कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. 'नीलदेवी' के रचनाकार हैं –

(क) भारतेन्दु हरिश्चन्द्र
(ख) प्रतापनारायण मिश्र
(ग) अम्बिकादत्त व्यास
(घ) इनमें से कोई नहीं

2. 'भारत की डूबी नाव उबारौ कोई' पंक्ति के रचयिता कौन हैं ?

(क) राधाचरण गोस्वामी

(ख) भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

(ग) राधाकृष्ण दास

(घ) प्रतापनारायण मिश्र

3. 'हरिश्चन्द्र मैग्ज़ीन' का प्रकाशन किस वर्ष हुआ ?

(क) 1873 ई. में

(ख) 1874 ई. में

(ग) 1875 ई. में

(घ) 1876 ई. में

4. 'भारतेन्दु' पत्रिका के सम्पादक हैं –

(क) श्रीनिवास दास

(ख) राधाचरण गोस्वामी

(ग) भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

(घ) बालमुकुन्द गुप्त

5. निम्नलिखित में से भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा रचित जीवनी है –

(क) बूंदी का राजवंश

(ख) मीराँबाई का जीवनचरित्र

(ग) राजा मालदेव का जीवनचरित्र

(घ) इनमें से कोई नहीं

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 3 : पुनर्जागरण, नवजागरण और स्वच्छन्दता

इकाई – 3 : महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग, जागरण-सुधार, हिन्दी प्रचार कार्य, हिन्दी पाठकों में वृद्धि

इकाई की रूपरेखा

3.3.01. उद्देश्य कथन
3.3.02. प्रस्तावना
3.3.03. महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग
3.3.04. जागरण और सुधार-कार्य
3.3.05. हिन्दी प्रचार कार्य
3.3.06. हिन्दी पाठकों में वृद्धि
3.3.07. पाठ-सार
3.3.08. बोध प्रश्न
3.3.09. व्यवहार
3.3.10. कठिन शब्दावली
3.3.11. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

3.3.01. उद्देश्य कथन

हिन्दी साहित्य का इतिहास – II शीर्षक पाठ्यचर्या में अब तक आप सांस्कृतिक पुनर्जागरण और भारतेन्दु युग के बारे में पढ़ चुके हैं। इसके साथ ही गद्य-विधाओं के उद्भव तथा साहित्यिक पत्रकारिता के बारे में भी आपको जानकारी मिल चुकी है। प्रस्तुत इकाई में आप महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनके युग के बारे में जानेंगे। इस पाठ में आचार्य द्विवेदी द्वारा चलाए गए नवजागरण अभियान और हिन्दी के प्रचार-प्रसार के लिए किये गए अनेक प्रयत्नों के बारे में भी आपको जानकारी मिलेगी। प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. महावीरप्रसाद द्विवेदी के साहित्यिक व्यक्तित्व और नेतृत्व से परिचित हो सकेंगे।
ii. द्विवेदीयुग के ऐतिहासिक महत्त्व के बारे में जान सकेंगे।
iii. द्विवेदीयुग में होने वाले नवजागरण तथा समाज-सुधार के प्रयत्न के बारे में भी अपनी समझ बना सकेंगे।
iv. इस युग में हिन्दी भाषा के प्रचार-प्रसार तथा परिष्कार के संस्थागत प्रयासों के बारे में भी जान पाएँगे।

3.3.02. प्रस्तावना

सन् 1900 ई. में 'सरस्वती' पत्रिका के प्रकाशन और महावीरप्रसाद द्विवेदी द्वारा उसके सम्पादन (सन् 1903 ई. से सन् 1920 ई. तक) के साथ ही हिन्दी साहित्य में द्विवेदीयुग का आरम्भ माना जाता है। इस युग में

'सरस्वती' पत्रिका ने हिन्दी साहित्य की दुनिया में लगभग केन्द्रीयता प्राप्त कर ली थी और उसके सम्पादक महावीरप्रसाद द्विवेदी ने इस पत्रिका के माध्यम से हिन्दी भाषा और साहित्य में नवीन धारा का सूत्रपात किया। इस युग पर भी नवजागरण की चेतना का गहरा असर है और यह असर भारतेन्दु युग की नवजागरण की चेतना का ही विस्तार है। इस युग की कविता ब्रजभाषा को त्याग कर खड़ीबोली हिन्दी का वरण करती है। नयी भाषा के अंगीकार और नवजागरण की चेतना के कारण कविता की विषय-वस्तु और शैली में परिवर्तन होता है। इस युग में हिन्दी भाषा के परिष्कार और परिमार्जन का प्रयास किया गया और उसे राष्ट्रभाषा की गरिमा के योग्य बनाया गया। इस दौर में विभिन्न संस्थाओं के सांगठनिक प्रयासों और हिन्दी उपन्यासों की बढ़ती लोकप्रियता ने हिन्दीभाषा के पाठकों में अभूतपूर्व वृद्धि की।

3.3.03. महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग

महावीरप्रसाद द्विवेदी हिन्दी साहित्य के व्यवस्थापक आचार्य हैं। सन् 1903 ई. से सन् 1920 ई. तक वे 'सरस्वती' पत्रिका के सम्पादक रहे। इस दौरान 'सरस्वती' पत्रिका हिन्दी साहित्य की केन्द्रीय पत्रिका के रूप में समादृत होती रही। 'सरस्वती' पत्रिका के माध्यम से आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी भाषा और साहित्य को नयी दिशा दी। इसके लिए उन्होंने लेखकों का एक ऐसा समूह तैयार किया जो उनकी मान्यताओं और दिशा-निर्देशों के अनुरूप साहित्य की रचना कर सके। इसमें मैथिलीशरण गुप्त, सियारामशरण गुप्त, मुकुटधर पाण्डेय आदि प्रमुख थे। महावीरप्रसाद द्विवेदी भी मैथ्यू आर्नल्ड की तरह साहित्य को नैतिकतावादी दृष्टि से देखते थे। उनकी नज़र में साहित्य का महत्त्व उसके सौन्दर्य में न होकर मानव जीवन के लिए प्रत्यक्ष रूप से उपयोगी होने में था। महावीरप्रसाद द्विवेदी सात्विक, कर्मठ और अनुशासनप्रिय व्यक्ति थे। उनके इन गुणों और साहित्यिक मान्यताओं का उस दौर के साहित्य पर गहरा प्रभाव पड़ा। उस युग के प्रतिनिधि कवि मैथिलीशरण गुप्त का काव्य तो जैसे इन्हीं मान्यताओं और आदर्शों को चरितार्थ करने के लिए लिखा गया है। उस युग की काव्य-प्रवृतियों यथा राष्ट्रप्रेम, समाज-सुधार की भावना, शृंगारी मनोवृति का विरोध, नैतिकता और सात्विकता का आग्रह आदि पर तो द्विवेदी जी के व्यक्तित्व की स्पष्ट छाप को देखा जा सकता है। इस युग की काव्य-नायिकाएँ भी प्रेम और सौन्दर्य के बजाए सेवा, त्याग और स्वाभिमान की मूर्ति नज़र आती हैं। उर्मिला, सीता, यशोधरा और राधा का उदाहरण इस बात को समझने के लिए पर्याप्त है। इस युग का साहित्य प्रेम, सौन्दर्य और भाषा की सर्जनात्मकता के प्रति उदासीन होकर समाज-सुधार और जागरण की लहर को प्रसारित करने में अपनी सार्थकता का अनुभव करता था। लेकिन सिर्फ कविता ही क्यों, प्रेमचंद और उनके पूर्ववर्ती कथाकारों पर भी इस सुधारवादी असर का विस्तार स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। यहाँ तक की रामचन्द्र शुक्ल की आलोचना भी इस युगबोध के प्रभाव में आने से बच नहीं सकी। उनकी लोकमंगल और क्षात्र धर्म की अवधारणा पर भी द्विवेदीयुग के उपयोगितावाद और समाज सापेक्ष साहित्यिक दृष्टिकोण का असर देखा जा सकता है। कहना सही होगा कि हिन्दी के साहित्य-बोध में आए इस परिवर्तन में द्विवेदी जी की साहित्यिक मान्यताओं और विचारों की महत्त्वपूर्ण भूमिका थी।

खड़ीबोली हिन्दीभाषा को सुगठित, संस्कारित और परिष्कृत करने में द्विवेदी जी का बड़ा योगदान रहा है। उन्होंने भारतेन्दुकालीन भाषायी संक्रमण को समाप्त करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया। भारतेन्दु के समय

तक गद्य की भाषा तो खड़ीबोली हिन्दी थी जबकि पद्य की भाषा ब्रजभाषा थी । उस दौर में इस बात की आवश्यकता महसूस की जा रही थी कि गद्य और पद्य की भाषा एक ही होनी चाहिए । सन् 1901 ई. में 'सरस्वती' के सम्पादक के रूप में बाबू श्यामसुन्दरदास इस आवश्यकता के बारे में लिख चुके थे । श्रीधर पाठक खड़ीबोली में कविता लिखने की शुरुआत कर चुके थे । वे गोल्ड स्मिथ की कृति 'हरमिट' का खड़ीबोली में 'एकान्तवासी योगी' शीर्षक से अनुवाद कर चुके थे । लेकिन कविता की मुख्य धारा ब्रजभाषा में ही अपने आप को अभिव्यक्त कर रही थी । ऐसे परिदृश्य में आचार्य द्विवेदी सन् 1903 ई. में 'सरस्वती' के सम्पादक के रूप में सामने आए । उन्होंने अपनी पत्रिका में भारत में अंग्रेज़ी और अन्य भारतीय भाषाओं की स्थिति, भारतीय भाषाओं को शिक्षा का माध्यम बनाने की समस्या, हिन्दी-उर्दू की समानता और भेद तथा हिन्दी और अन्य जनपदीय बोलियों के आपसी सम्बन्ध पर बहुत गहराई से विचार किया । उन्होंने 'सरस्वती' पत्रिका के माध्यम से खड़ीबोली को हिन्दी कविता की भाषा बनाने का बीड़ा उठाया । लेकिन यह कोई आसान काम नहीं था । खड़ीबोली में हिन्दी कविता के लेखन की कोई सुसंगत परम्परा नहीं थी । उसके मुकाबले ब्रजभाषा की सैकड़ों साल पुरानी काव्य-परम्परा मौजूद थी । उसके पास काव्य रचने की पूरी शब्दावली अनेकानेक रंगतों के साथ मौजूद थी । फिर ब्रजभाषा की कोमलता, मधुरता और लोच का कोई मुकाबला खड़ीबोली के पास नहीं था । खड़ीबोली का खड़ापन और दीर्घ स्वरों पर बलाघात देने की प्रवृति उस युग में कविता-कामिनी के मिजाज के अनुकूल नहीं मानी जा रही थी । इसके अतिरिक्त खड़ीबोली का स्वरूप निश्चित नहीं हो पाया था । उसका व्याकरणिक रूप भी स्थिर नहीं हो पाया था । ऐसी विकट परिस्थिति में महावीरप्रसाद द्विवेदी ने खड़ीबोली को काव्य की भाषा बनाने के लिए अथक प्रयत्न किया । वे 'सरस्वती' में छपने के लिए आने वाली रचनाओं की व्याकरणिक त्रुटियों और वाक्य की संरचना को सुधार कर अपनी पत्रिका में छापते थे । उन्होंने अनेक शब्दों का लिंग-निर्धारण किया । सर्वनामों के प्रयोग को स्थिर और निश्चित किया । उन दिनों खड़ीबोली को बरतने की अनेक शैलियाँ थीं । द्विवेदी जी ने हिन्दी लिखने की शैली को भी निश्चित किया । उन्होंने अरबी और फ़ारसी के शब्दों से परहेज किया । खड़ीबोली की सम्प्रेषण-क्षमता और शब्दावली को बढ़ाने के लिए संस्कृत के शब्दों का सहारा लिया । संस्कृत की सहायता से नये शब्दों का निर्माण किया गया । तत्सम शब्दों की बहुलता से खड़ीबोली हिन्दी का नया वितान तैयार हुआ । इसके लिए द्विवेदीयुग के साहित्यकारों को उर्दू, ब्रजभाषा, बांग्ला तथा हिन्दी की अन्य बोलियों से संघर्ष करना पड़ा । आचार्य द्विवेदी ने खड़ीबोली हिन्दी को संस्कृत भाषा के आदर्श के अनुरूप ढालना चाहा और इसमें बहुत हद तक वे सफल भी हुए । लेकिन इसका नुकसान यह हुआ कि हिन्दी भाषा अपनी मूल प्रवृति से दूर हो गई । हिन्दी के तत्समीकरण की प्रवृति ने एक ओर तो उर्दू के साथ हिन्दी की दूरी बहुत बढ़ा दी वहीं दूसरी ओर लोक के साथ हिन्दी के सहज सम्बन्ध को भी नष्ट कर दिया । लोक से उसकी दूरी बहुत बढ़ गई । हिन्दी भाषा की मौलिक प्रकृति पर इसका नकारात्मक प्रभाव पड़ा । इसका एक दुष्प्रभाव यह भी हुआ कि हिन्दी भाषा अब पहले की तरह जीवन्त और सर्जनात्मक नहीं रह गई । इस युग में नज़ीर अकबराबादी और श्रीधर पाठक वाली लोक से सम्पृक्त और जीवन्त भाषा-परम्परा का विकास नहीं हो पाया । वह सिर्फ इतिवृतात्मक होकर रह गई । उसमें एक तरह की शुष्कता आ गई । लेकिन इन सब सीमाओं के बावजूद इस बात में कोई सन्देह नहीं है कि हिन्दीभाषा के स्वरूप-निर्धारण, मानकीकरण और कविता की भाषा के रूप में खड़ीबोली के प्रचलन को सम्भव बनाने में महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनके युग का अप्रतिम योगदान है ।

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी अपनी नैतिकतावादी, उपयोगितावादी और समाजसापेक्ष साहित्यिक दृष्टिकोण से रचना और आलोचना के लिए नये रास्ते की खोज कर रहे थे। उन्होंने साहित्य में समाज की महत्त्वपूर्ण भूमिका का ज़िक्र करते हुए अपने एक वक्तव्य में कहा – "आँख उठाकर जरा और देशों तथा और जातियों की और तो देखिए। आप देखेंगे कि साहित्य ने वहाँ की सामाजिक और राजकीय स्थितियों में कैसे-कैसे परिवर्तन कर डाले हैं; साहित्य ने वहाँ समाज की दशा कुछ की कुछ कर दी है; शासन प्रबन्ध में बड़े-बड़े उथल-पुथल कर डाले हैं; यहाँ तक कि अनुदार धार्मिक भावों को भी जड़ से उखाड़ फेंका है। साहित्य में जो शक्ति छिपी रहती है वह तोप, तलवार और बम्ब के गोलों में भी नहीं पाई जाती।" (महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण, पृष्ठ 271) सामाजिक और राजनैतिक परिवर्तन करने में साहित्य की भूमिका की पहचान ही वह आधारभूमि है जिस पर हिन्दी नवजागरण और रीतिवादी साहित्य के विरोध का राजप्रासाद खड़ा हुआ। अपने इसी समाजसापेक्ष और नैतिकतावादी दृष्टिकोण के कारण द्विवेदी जी ने 'हिन्दी नवरत्न' की समीक्षा करते हुए इसके लेखक मिश्र बन्धुओं की आलोचना की। तब हिन्दी आलोचना में इस बात का झगड़ा चल रहा था कि सबसे बड़े कवि 'देव' हैं या 'बिहारी'। द्विवेदीजी ने इस झगड़े को ख़ारिज करते हुए अपनी नयी दृष्टि के अनुरूप तुलसी और सूर को इनसे बड़ा कवि घोषित किया। यहाँ तक कि उन्होंने हाल ही में दिवंगत हुए भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को भी देव और बिहारी से बड़ा कवि बताया। उस रीतिवादी माहौल में यह बहुत साहस की बात थी। इसी पृष्ठभूमि में द्विवेदीजी ने रीतिवादी कविता का विरोध करना शुरू किया। उन्होंने इसके सीमित सामन्ती सामाजिक आधार और कृत्रिम भाषा को अपनी आलोचना के माध्यम से स्पष्ट किया। इसके अतिरिक्त द्विवेदीजी को ऐन्द्रिय उद्‌बोधन के उसके संकीर्ण उद्देश्य से भी समस्या थी। वे साहित्य के माध्यम से समाज-सुधार और देश-प्रेम की भावना जगाना चाहते थे। वे नवजागरण की चेतना को प्रसारित करना चाहते थे। ऐसे साहित्य-सेवी के लिए साहित्य का उद्देश्य सिर्फ मनोरंजन नहीं हो सकता था। उस पर भी रीतिवादी कविता का उद्देश्य तो सिर्फ संकीर्ण मनोरंजन करना ही था। इसीलिए द्विवेदीजी ने अपनी आलोचना, सम्पादकीय और वक्तव्यों के माध्यम से रीतिवादी नायिका-भेद, अलंकारवाद, चमत्कारप्रियता तथा समस्यापूर्ति जैसी काव्य-प्रवृतियों का विरोध करना शुरू किया। वे जानते थे कि इन रीतिवादी प्रवृतियों की जड़ें संस्कृत साहित्य में हैं और वहीं से वे ब्रजभाषा में आई हैं। इसलिए उन्होंने इन प्रवृतियों की जड़ों पर प्रहार करने के लिए संस्कृत के पुराने साहित्य की समीक्षा की। उन्होंने 'विक्रमांक देव चर्चा', 'नैषध चर्चा', 'कालिदास की निरंकुशता' जैसे आलोचनात्मक निबन्धों तथा 'किरातार्जुनीयम्' के अनुवाद की भूमिका के द्वारा रीतिवादी प्रवृतियों तथा लक्षण-ग्रन्थों की अनुपयोगिता को सिद्ध किया। उन्होंने प्रस्तावित किया कि हिन्दी को ऐसे ग्रन्थों की ज़रूरत नहीं है। अपनी समीक्षा में वे कथावस्तु पर बहुत जोर देते थे। वे मानते थे कि कथावस्तु यथार्थ जीवन के अनुरूप होनी चाहिए। उसमें स्वाभाविकता का गुण होना चाहिए। स्वाभाविकता और यथार्थ जीवन से जुड़ाव के बगैर कथावस्तु कृत्रिम हो जाएगी। इसी तर्क के आधार पर उन्होंने चमत्कारप्रियता को भी ख़ारिज किया। द्विवेदीजी के इस विवेचन में शुक्लजी की आलोचना की उस अनुगूँज को सुना जा सकता है जिसमें उन्होंने महाकाव्य में मार्मिक स्थलों की पहचान को कवित्व की कसौटी बताया था। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनके युग का एक योगदान भविष्य में विकसित होने वाली आधुनिक आलोचना के लिए नयी पृष्ठभूमि का निर्माण करना भी है। द्विवेदी जी के प्रभाव में उस समय के अनेक कवियों

और लेखकों ने रीतिवादी प्रवृतियों का विरोध करते हुए आधुनिक और उपयोगितावादी दृष्टिकोण से नये साहित्य की रचना की शुरुआत की।

महावीरप्रसाद द्विवेदी ने लेखक और सम्पादक के रूप में हिन्दी के गैर-साहित्यिक गद्य के विकास में भी महत्त्वपूर्ण योगदान दिया । उन्होंने अपनी पत्रिका में अर्थशास्त्र, राजनीति, समाजशास्त्र, इतिहास, अन्तर्राष्ट्रीय मामलों और आधुनिक विज्ञान से सम्बन्धित विषयों पर अनेक लेख छापे । इनमें से अनेक के लेखक स्वयं द्विवेदीजी ही थे । उन्होंने बड़ी परिश्रम से 'सम्पत्तिशास्त्र' के नाम से अर्थशास्त्र की एक पुस्तक लिखी जो पहले 'सरस्वती' में छपी। बाद में सन् 1908 ई. में वह स्वतन्त्र पुस्तक के रूप में छपी। उन्होंने भारत के प्राचीन विज्ञान और दर्शन का भी गम्भीरता से अध्ययन किया और इस बात का परीक्षण किया कि आज हम अपने चिन्तन में कितना आगे या पीछे गए हैं ? उन्होंने 'निरीश्वरवाद' नामक अपने निबन्ध में चार्वाक् दर्शन का विश्लेषण करते हुए भारतीय चिन्तन की तर्कवादी और विवेकवादी परम्परा का रेखांकन किया। द्विवेदी जी ईश्वर को मानते थे लेकिन वे रुढ़िवादी नहीं थे। उनके लिए धर्म का सारतत्त्व नैतिकता और सदाचरण में निहित था। इसीलिए वे कर्मकाण्ड और देव-पूजा को निरर्थक मानते थे। इसके अतिरिक्त अपने अंग्रेज़ी ज्ञान की वजह से द्विवेदीजी यूरोप की साहित्यिक-सांस्कृतिक परम्परा और विकास से भी बखूबी परिचित थे । वे यूरोप के समाज और राजनीति में होने वाले परिवर्तनों तथा अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं के बारे में भी 'सरस्वती' के पाठकों को बताया करते थे और संसार के विकसित देशों के साथ भारत के हालत की तुलना किया करते थे। ऐसे विषयों पर उन्होंने 'सरस्वती' में अनेक लेख लिखवाये । साहित्य की पत्रिका मानी जाने वाली 'सरस्वती' में तत्कालीन राजनीति, समाज और विज्ञान सम्बन्धी अनेक लेख छापे गए। इसका एक परिणाम तो यह हुआ कि 'सरस्वती' के पाठक रस और अलंकार की संकीर्णता से निकल कर देश-विदेश और समाज के बारे में सोचने लगे। 'सरस्वती' के प्रयासों से उसके पाठकों के मानसिक क्षितिज का विस्तार हुआ। इस प्रयास का दूसरा परिणाम यह हुआ कि हिन्दी गद्य के क्षितिज का विस्तार हुआ। हिन्दी के ज्ञानात्मक साहित्य का विकास हुआ। अब हिन्दी में भी दर्शन, समाजशास्त्र, राजनीति और विज्ञान से सम्बन्धित सामग्री का निर्माण होने लगा। हिन्दी भाषा में उनकी उपलब्धता का सम्भव होना बहुत बड़ी बात थी। हिन्दी में ज्ञानात्मक साहित्य की कोई परम्परा न होने के कारण उस दौर के इन लेखकों को बहुत कठिनाई हुई। उन्हें नये चिन्तन को हिन्दी में लाने के लिए नयी शब्दावली का निर्माण करना पड़ा। लेखन की नयी शैली खोजनी पड़ी। इन सब प्रयासों का तीसरा परिणाम यह हुआ कि साहित्य के अतिरिक्त भारतीय दर्शन और समाज चिन्तन तथा यूरोपीय राजनैतिक-सांस्कृतिक प्रवृत्तियों और घटनाओं की सूचना देने का मंच बन जाने से 'सरस्वती' पत्रिका हिन्दी नवजागरण को एक पुख़्ता आधार प्रदान करने में सक्षम हो गई।

3.3.04. जागरण और सुधार-कार्य

हिन्दी साहित्य में आधुनिकता के आगमन ने उसे इहलौकिक चिन्तन की ओर प्रेरित किया। इहलौकिक चिन्तन ने साहित्य को भक्ति और मनोरंजन के दायरे निकाल कर संसार और जीवन की राजनैतिक-सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों के प्रति जागरूक किया। इसी जागरूकता ने हिन्दी के साहित्यकारों को देश और समाज की हालत के प्रति सचेष्ट किया । साहित्यकारों ने जब देश और समाज की ओर दृष्टिपात किया तो उनको अपनी

पराधीनता और दीन-हीन स्थिति का भान हुआ। इस दीन-हीन स्थिति और पराधीनता को दूर करने के लिए हिन्दी के साहित्यकारों ने जो अभियान चलाया उसे ही जागरण या नवजागरण कहते हैं। इस जागरण के लिए आवश्यक था कि समाज को पीछे धकेलने वाली प्रवृतियों और रूढ़ियों को दूर किया जाए। समाज की रूढ़ियों और कुरीतियों को दूर करने के अभियान को ही सुधार-कार्य या समाज-सुधार कहा जाता है। समाज-सुधार की यह प्रवृति नवजागरण की ही चेतना का एक अंग है। नवजागरण की चेतना के कारण उत्पन्न हुई नयी जागरूकता ने भारतीयों को अपनी वर्तमान स्थति के प्रति जागरूक किया। इसकी काव्यात्मक अभिव्यक्ति मैथिलीशरण गुप्त के 'भारत भारती' में हुई –

हम क्या थे, क्या हो गए और क्या होंगे अभी;
आओ विचारें आज मिलकर, ये समस्याएँ सभी।

यहाँ कवि का आशय राजनैतिक और सामाजिक परिस्थितियों में अपने वर्तमान का मूल्यांकन करने से है और प्रकारान्तर से भारत की पराधीनता की ओर संकेत करने से है। इस पराधीनता पर चिन्तन करना ही हिन्दी नवजागरण की आधारभूमि है। पराधीनता पर होने वाला यह चिन्तन ही यह एहसास कराता है कि सामाजिक रूढ़ियाँ और कुरीतियाँ ही हमारी पराधीनता का कारण हैं। इस युग के सभी प्रमुख कवि अज्ञानता, अशिक्षा, स्वार्थ और अकर्मण्यता को छोड़कर आदर्श और नीति के मार्ग पर चलने का आह्वान करते हैं। वे अपनी कविता के द्वारा देश-हित और समाज-हित में काम करने तथा देश के लिए कोई भी कुर्बानी देने को तत्पर रहने का आह्वान करते हैं। इनमें मैथिलीशरण गुप्त, सियारामशरण गुप्त, रामनरेश त्रिपाठी, मुकुटधर पाण्डेय, श्रीधर पाठक आदि प्रमुख हैं। इन कवियों ने विधवा नारी और बाल विधवा की कारुणिक स्थिति के प्रति समाज को जागरूक करने के लिए अनेक कविताओं की रचना की। देशवासियों में देश-प्रेम की भावना जगाने के लिए भारत देश और उसकी प्रकृति के सौन्दर्य का गुणगान किया गया। अज्ञानता, अशिक्षा और सामाजिक कुरीतियों को दूर करने और आमजन में जागरूकता फैलाने के लिए इस युग के साहित्यकारों ने कविता ही नहीं बल्कि कहानी, उपन्यास, निबन्ध आदि अनेक विधाओं का सहारा लिया। इस दौर के उपन्यासों की एक धारा समाज-सुधार के लक्ष्य के प्रति समर्पित थी। इन उपन्यासकारों में किशोरीलाल गोस्वामी, अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह, लज्जाराम शर्मा आदि उल्लेखनीय हैं। इन उपन्यासों में धार्मिक अन्धविश्वास के दुष्परिणाम, प्रेम-प्रसंगों के कारण युवाओं के पथभ्रष्ट होने के खतरे, अवैध प्रेम, विधवाओं के व्यभिचार, वेश्याओं के नारकीय जीवन आदि के माध्यम से पाठकों को उच्च आदर्श और नैतिक जीवन की ओर प्रेरित करने का प्रयत्न किया गया। उनमें देश और समाज के लिए त्याग और बलिदान की भावना को जगाने का प्रयत्न किया गया। समाज-सुधार सम्बन्धी इन उपन्यासों ने प्रेमचंद जैसे कथासम्राट् के लिए एक सुदृढ़ कथाभूमि का निर्माण किया। इस युग के निबन्धों में भी देश-प्रेम और समाज-सुधार की भावना और प्रेरणा को आसानी से पहचाना जा सकता है। समाज की हीन अवस्था, धार्मिक पतन, राजनैतिक पराधीनता, आर्थिक विषमता और अन्य राष्ट्रीय समस्याओं को ध्यान में रख कर अनेक निबन्ध लिखे गए। इस युग के सबसे सफल निबन्धकार बालमुकुन्द गुप्त हैं। चुटीले व्यंग्य और राजनैतिक-सामाजिक जागरूकता के लिए उनकी रचना 'शिवशम्भू के चिट्ठे' को आज भी याद किया जाता है।

इस तरह इस युग के साहित्यकारों ने अपने गद्य और पद्य के माध्यम से भारतेन्दुयुगीन हिन्दी नवजागरण और समाज-सुधार की चेतना को विकसित और प्रसारित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया।

3.3.05. हिन्दी प्रचार कार्य

हिन्दी भाषा के प्रसार में पत्र-पत्रिकाओं और विविध संस्थाओं का महत्त्वपूर्ण योगदान है। यूँ तो हिन्दी की पाठ्यपुस्तकों की रचना की शुरुआत 'फोर्ट विलियम कॉलेज' की स्थापना के साथ ही शुरू हो गई थी। लेकिन हिन्दी भाषा के प्रचार-प्रसार की बहुत व्यवस्थित और उत्साही प्रयास की शुरुआत 19वीं शताब्दी के अन्तिम और 20वीं शती के प्रारम्भिक दशकों में होती है। इस दौरान हिन्दी भाषा और साहित्य के विकास में योगदान देने वाली अनेक महत्त्वपूर्ण संस्थाओं की स्थापना होती है और कई महत्त्वपूर्ण पत्रिकाओं का प्रकाशन भी शुरू होता है। 16 जुलाई 1893 में बाबू श्यामसुन्दर दास, शिवकुमार सिंह और रामनारायण मिश्र के प्रयासों के परिणामस्वरूप नागरीप्रचारिणीसभा की स्थापना वाराणसी में हुई। इस संस्था ने हिन्दी भाषा और साहित्य के विकास में अभूतपूर्व योगदान दिया। इस संस्था के प्रयासों से अनेक पुरानी पाण्डुलिपियों की खोज हुई जिनका पुस्तक के रूप में प्रकाशन हुआ। हिन्दी के अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के संकलन, सम्पादन और प्रकाशन का श्रेय भी इसी संस्था को जाता है। हिन्दी शब्दसागर, हिन्दी व्याकरण, वैज्ञानिक शब्दावली, हिन्दी विश्वकोश, हिन्दी साहित्य का इतिहास आदि अनेक मानक ग्रन्थों को लिखवाने और प्रकाशित करने का श्रेय इस संस्था को जाता है। यह संस्था हिन्दी पाठकों के लिए 'नागरीप्रचारिणी' पत्रिका का सम्पादन भी करती रही जिसमें अनेक शोधपरक लेख छपते रहे। इस संस्था के प्रयासों के फलस्वरूप भविष्य में विश्वविद्यालयों में होने वाले हिन्दी के पठन-पाठन और शोध-कार्य की पीठिका का निर्माण सम्भव हुआ। नागरीप्रचारिणीसभा के तत्त्वावधान में ही सन् 1910 ई. में हिन्दी साहित्य सम्मेलन की स्थापना प्रयाग (इलाहाबाद) में हुई। इस संस्था की स्थापना के साथ ही नागरीप्रचारिणीसभा ने अपने को शोध और साहित्य की समृद्धि का प्रयत्न करने तक सीमित कर लिया और हिन्दीभाषा के प्रचार-प्रसार का दायित्व 'हिन्दी साहित्य सम्मेलन' के जिम्मे आ गया। पुरुषोत्तमदास टंडन इसके मंत्री बनाए गए। इस संस्था ने पाण्डुलिपियों के संग्रह और पुस्तक-प्रकाशन के अलावे सरकारी और अर्धसरकारी प्रतिष्ठानों में हिन्दी को बढ़ावा देने का बीड़ा उठाया। अनेक राज्यों में इस संस्था की शाखाएँ खुलीं। इस संस्था ने अनुवाद के काम को भी महत्त्व दिया। सम्पर्क भाषा के रूप में हिन्दी के विकास के लिए इस संस्था ने अनेक कार्य किये। इस संस्था ने लोगों को हिन्दी सिखाने के लिए प्रथमा, मध्यमा और उत्तमा की परीक्षाएँ आयोजित की। इन परीक्षाओं ने हिन्दी के पाठक और शिक्षक तैयार करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। 'सम्मेलन' पत्रिका और 'राष्ट्रभाषा सन्देश' जैसी उपयोगी पत्रिकाओं का प्रकाशन भी इस संस्था द्वारा किया जाता रहा। सन् 1910 ई. में ही 'श्री मध्य भारत हिन्दी साहित्य समिति' की स्थापना इंदौर में हुई जहाँ से 'वीणा' नामक पत्रिका का प्रकाशन होता था। यह एक महत्त्वपूर्ण पत्रिका थी। इस संस्था का उद्देश्य भी हिन्दी को सम्पर्क भाषा के रूप में विकसित करने का यत्न करना था। सन् 1918 ई. में 'दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा' की स्थापना मद्रास में हुई। इसकी स्थापना एनी बेसेंट ने महात्मा गाँधी की प्रेरणा से की थी। यहाँ से 'हिन्दी समाचार' नामक मासिक पत्रिका का प्रकाशन होता था। इन दोनों संस्थाओं ने गैर-हिन्दीभाषी प्रदेशों में हिन्दी के विकास के लिए अनेक कार्य सम्पन्न किए। इसी तरह बाद के वर्षों में देश के

अनेक हिस्सों में हिन्दी के संवर्धन हेतु विभिन्न संस्थाओं की स्थापना होती रही और इनके प्रयासों से हिन्दी के पठन-पाठन तथा उसके प्रसार में मदद मिलती रही।

इन संस्थाओं के अतिरिक्त हिन्दी भाषा और साहित्य के विकास में हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओं का भी उल्लेखनीय योगदान रहा है। 'सरस्वती' इस दौर की सबसे महत्त्वपूर्ण पत्रिका थी जिसका प्रकाशन सन् 1900 ई. में चिन्तामणि घोष के इंडियन प्रेस द्वारा इलाहाबाद में शुरू किया गया। महावीरप्रसाद द्विवेदी सन् 1903 ई. में इसके सम्पादक बनाये गए और वहीं से 'सरस्वती' ने अपने ऐतिहासिक सफ़र की शुरुआत की जिसके बारे में ऊपर के अनुच्छेद में आप पढ़ आये हैं। 'सरस्वती' पत्रिका ने हिन्दी भाषा के सुगठन और व्यवस्थापन में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। इसके अतिरिक्त हिन्दी को काव्य की भाषा के रूप विकसित करने का श्रेय भी इसी पत्रिका को है। इसके अलावे मुंशी प्रेमचंद की पत्रिका 'हंस', 'जागरण', 'माधुरी' का योगदान भी उल्लेखनीय है। हिन्दी के गद्य साहित्य को आगे बढ़ाने में इस पत्रिका का योगदान है। इसके बाद माखनलाल चतुर्वेदी की 'प्रताप', 'प्रभा' और 'कर्मवीर', अम्बिकाप्रसाद गुप्त की 'इन्दु', देवकीनन्दन खत्री की 'सुदर्शन', काशीप्रसाद जयसवाल की 'पाटलिपुत्र', खंडवा की 'प्रभा', कलकत्ते की 'देवनागर' और 'विश्वमित्र', गोपालराम गहमरी की 'जासूस' आदि ने भी हिन्दी साहित्य के प्रचार-प्रसार में और नये पाठक बनाने में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। इसी दौर में गणेशशंकर विद्यार्थी ने कानपुर में 'प्रताप' का प्रकाशन शुरू किया। इस पत्रिका में मज़दूरों की समस्याओं को प्रमुखता दी गई। गणेशशंकर विद्यार्थी ने 'प्रताप' के माध्यम से हिन्दीभाषा को आमजन से जोड़ने की पहल की और अपने पत्र की भाषा भी आमजन के शब्दों से निर्मित की। उन्होंने हिन्दीभाषा को आभिजात्यता से मुक्त किया और उसे आमजन की भाषा के करीब लाने का प्रयत्न किया। इनके अतिरिक्त 'भारतोदय', 'बिहार बन्धु' और 'बिहार केसरी' जैसी पत्रिकाओं का भी हिन्दी के प्रचार-प्रसार में उल्लेखनीय योगदान रहा है।

3.3.06. हिन्दी पाठकों में वृद्धि

इन संस्थाओं और पत्रिकाओं के सम्मिलित प्रयास से हिन्दी साहित्य की अभूतपूर्व वृद्धि हुई। पाण्डुलिपियों के संग्रह और प्रकाशन से हिन्दी के प्राचीन और मध्यकालीन साहित्य की रचनाओं में बहुत वृद्धि हुई। अनेक महत्त्वपूर्ण रचनाएँ और रचनाकार सामने आए जो अब तक हिन्दी-प्रेमियों की निगाहों से ओझल थे। इन रचनाओं को सम्पादित करके पुस्तकों के रूप में छापा गया। हिन्दी की पत्रिकाओं में छपने वाली रचनाओं से आधुनिक हिन्दी साहित्य का पाठ तैयार करना सम्भव हुआ। आधुनिक और प्राचीन पाठों की उपलब्धता से भविष्य में विश्वविद्यालयों में हिन्दी का पठन-पाठन और शोध कार्य करना सम्भव हुआ। बाबू श्यामसुन्दरदास ने इसके लिए बहुत प्रयास किया। बाद में, विश्वविद्यालयों में हिन्दी के पठन-पाठन के शुरू होने से हिन्दी भाषा के पाठकों और शिक्षकों की संख्या में अभूतपूर्व वृद्धि हुई। 'हिन्दी साहित्य सम्मेलन' द्वारा आयोजित की जाने वाली परीक्षाओं ने भी हिन्दी के पाठकों और शुभचिन्तकों की संख्या में वृद्धि की। हिन्दी की पत्रिकाओं ने भी हिन्दी पाठकों की वृद्धि में उल्लेखनीय भूमिका का निर्वाह किया। इसके अलावे हिन्दी में लिखे जा रहे उपन्यासों ने हिन्दी साहित्य के पाठकों को बढ़ाने में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। यूँ तो ऐतिहासिक, तिलस्मी-ऐयारी, जासूसी और रोमानी उपन्यासों की रचना भारतेन्दुकाल में ही शुरू हो गई थी लेकिन इस परम्परा का सर्वाधिक विकास

द्विवेदीयुग के दौरान ही हुआ। देवकीनन्दन खत्री की 'चन्द्रकान्ता', चौबीस खण्डों वाली 'चन्द्रकान्ता सन्तति', 'नरेन्द्रमोहिनी', 'कुसुमकुमारी' और हरेकृष्ण जौहर-कृत 'कुसुमलता' जैसे तिलस्मी और ऐयारी उपन्यास जनता में खूब लोकप्रिय हुए। गोपालराम गहमरी ने हिन्दी में जासूसी उपन्यासों को लिखने की शुरुआत की। वे अंग्रेज़ी के जासूसी उपन्यासकार आर्थर कार्नर डायल से बहुत प्रभावित थे। गोपालराम गहमरी ने तक़रीबन 200 जासूसी उपन्यासों की रचना की। इनके उपन्यास भी देवकीनन्दन खत्री के उपन्यासों की तरह रहस्य-कथा और विशद् कल्पना से भरे पड़े हैं। आमजन को इन रहस्यकथाओं, रोमांच और कौतुहल ने बहुत आकर्षित किया। देवकीनन्दन खत्री और गोपालराम गहमरी के उपन्यासों की तो धूम मच गई थी। बहुत सारे उर्दू के पाठकों ने सिर्फ इन उपन्यासों को पढ़ने के लिए हिन्दी सीखी। इसके अतिरिक्त हिन्दी जानने वाले सामान्य लोगों ने भी रहस्य, रोमांच और मनोरंजन के लिए इन उपन्यासों को पढ़ना शुरू किया। हिन्दीभाषी जनता में पढ़ने की ललक जगी। उसे किताब पढ़ने की आदत लगी। इन सबका परिणाम यह हुआ कि हिन्दी के पाठकों की संख्या में अभूतपूर्व वृद्धि हुई। हिन्दी के इस बढ़ते पाठक समूह की संख्या का दबाव ऐसा था कि लेखक उर्दू को छोड़कर हिन्दी में लिखने को उत्सुक होने लगे। कथासम्राट् प्रेमचंद भी इन्हीं लेखकों में से एक थे।

3.3.07. पाठ-सार

महावीरप्रसाद द्विवेदी के सम्पादकत्व में निकलने वाली 'सरस्वती' पत्रिका ने भारतेन्दु युग के बाद भी नवजागरण की चेतना को न सिर्फ आगे बढ़ाया अपितु उसे पुष्ट और मजबूत भी किया। इस युग की कविता, कथा-साहित्य, निबन्ध आदि विधाओं ने नवजागरण की चेतना को प्रसारित करने में अपनी भूमिका निभायी। ज्ञानात्मक लेखन ने भी नवजागरण की चेतना को दिशा देने और हिन्दी भाषा को समर्थ बनाने में बहुत उपयोगी भूमिका का निर्वाह किया। खड़ीबोली हिन्दी को काव्य-भाषा बनाने तथा उसे समर्थ और व्यवस्थित करने में भी इस दौर की पत्र-पत्रिकाओं और संस्थाओं की सराहनीय भूमिका रही है। पत्र-पत्रिकाओं तथा विविध संस्थाओं के सम्मिलित प्रयास से हिन्दी भाषा का प्रचार-प्रसार तेजी से हुआ और हिन्दी के पाठकों की संख्या में भी बढ़ोतरी हुई। इस बढ़ोतरी में हिन्दी के तिलस्मी-ऐयारी तथा जासूसी उपन्यासों का महत्त्वपूर्ण योगदान था।

3.3.08. बोध प्रश्न

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. महावीरप्रसाद द्विवेदी 'सरस्वती' पत्रिका के सम्पादक किस वर्ष नियुक्त हुए?

(क) सन् 1900 ई. में

(ख) सन् 1901 ई. में

(ग) सन् 1902 ई. में

(घ) सन् 1903 ई. में

2. 'नागरीप्रचारिणीसभा' की स्थापना किस वर्ष हुई ?

(क) सन् 1910 ई. में

(ख) सन् 1900 ई. में

(ग) सन् 1893 ई. में

(घ) सन् 1896 ई. में

3. जासूसी उपन्यासों के लोकप्रिय लेखक हैं –

(क) गोपालराम गहमरी

(ख) देवकीनन्दन खत्री

(ग) किशोरीलाल गोस्वामी

(घ) ठाकुर जगमोहन सिंह

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. महावीरप्रसाद द्विवेदी ने आधुनिक हिन्दी आलोचना के विकास में मार्गदर्शक की भूमिका का निर्वाह किस प्रकार किया ? संक्षिप्त विवेचन कीजिए।
2. खड़ीबोली हिन्दी को काव्य-भाषा बनाने में द्विवेदीजी के प्रयत्न की सीमाओं को रेखांकित कीजिए।
3. 'नागरीप्रचारिणीसभा' के कार्यों का उल्लेख कीजिए।
4. हिन्दीभाषा के प्रचार-प्रसार में 'हिन्दी साहित्य सम्मेलन' के योगदान का संक्षिप्त परिचय दीजिए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. महावीरप्रसाद द्विवेदी के साहित्यिक योगदान की विस्तारपूर्वक विवेचना कीजिए।
2. हिन्दी भाषा के विकास में विभिन्न संस्थाओं के योगदान को निरूपित कीजिए।
3. द्विवेदीयुगीन नवजागरण की विशेषताओं का विश्लेषण कीजिए।

3.3.09. व्यवहार

1. द्विवेदीयुगीन ज्ञानात्मक लेखन की एक सूची बनाकर उस पर एक विस्तृत निबन्ध लिखिए।
2. वर्तमान समय में हिन्दी भाषा और साहित्य के विकास के लिए सक्रिय महत्त्वपूर्ण संस्थाओं के बारे में जानकारी इकट्ठा कीजिए।

3.3.10. कठिन शब्दावली

राजप्रासाद	:	राजमहल
परिष्कार	:	अशुद्धियों को दूर करना
इहलौकिक	:	सांसारिक
तिलस्मी	:	जादू से निर्मित, मायावी
ऐयारी	:	चालाकी, धूर्तता

3.3.11. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

1. महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण, रामविलास शर्मा, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास, डॉ॰ नगेन्द्र, मयूर पेपरबैक्स, नॉएडा.
3. हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास, बच्चन सिंह, राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली.

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 3 : पुनर्जागरण, नवजागरण और स्वच्छन्दता

इकाई – 4 : द्विवेदीयुगीन हिन्दी कविता की ऐतिहासिक भूमिका, द्विवेदीयुगीन कथा-साहित्य, साहित्यिक पत्रकारिता और 'सरस्वती' पत्रिका का योगदान, नवजागरण के सन्दर्भ में 'सरस्वती' पत्रिका का अवदान, विविध विषयपरक अनूदित साहित्य और अन्य गद्य-विधाएँ, हिन्दी आलोचना का आरम्भिक विकास

इकाई की रूपरेखा

3.4.00. उद्देश्य कथन
3.4.01. प्रस्तावना
3.4.02. द्विवेदीयुगीन हिन्दी कविता की ऐतिहासिक भूमिका
    3.4.02.1. पृष्ठभूमि
    3.4.02.2. सामान्य प्रवृत्तियाँ
    3.4.02.3. रचनात्मक अवदान
3.4.03. द्विवेदीयुगीन कथा-साहित्य
    3.4.03.1. द्विवेदीयुगीन उपन्यास
    3.4.03.2. द्विवेदीयुगीन कहानी
    3.4.03.3. शिल्पगत वैशिष्ट्य
3.4.04. साहित्यिक पत्रकारिता और 'सरस्वती' का योगदान
3.4.05. नवजागरण के सन्दर्भ में 'सरस्वती' पत्रिका का अवदान
3.4.06. विविध विषयपरक अनूदित साहित्य और अन्य गद्य-विधाएँ
3.4.07. हिन्दी आलोचना का आरम्भिक विकास
3.4.08. सारांश
3.4.09. शब्दावली
3.4.10. उपयोगी ग्रन्थ-सूची
3.4.11. सम्बन्धित प्रश्न

3.4.00. उद्देश्य कथन

प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. द्विवेदीयुगीन हिन्दी कविता की ऐतिहासिक भूमिका को जान सकेंगे।
ii. द्विवेदीयुगीन कथा-साहित्य से परिचित हो सकेंगे।
iii. द्विवेदीयुगीन साहित्यिक पत्रकारिता और 'सरस्वती' पत्रिका के योगदान की चर्चा कर सकेंगे।
iv. नवजागरण के सन्दर्भ में 'सरस्वती' पत्रिका के अवदान का विवेचन कर सकेंगे।
v. विविध विषयपरक अनूदित साहित्य और अन्य गद्य-विधाओं की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

vi. हिन्दी आलोचना के आरम्भिक विकास का अनुशीलन कर सकेंगे ।

3.4.01. प्रस्तावना

अपने समय की प्रातिनिधिक साहित्यिक प्रवृत्तियों को पहचानने, परखने और उन्हें एक सही दिशा की ओर प्रवृत्त करने में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के उल्लेखनीय योगदान को देखते हुए इतिहास-लेखकों ने हिन्दी साहित्य के इतिहास के क्रमिक विकास में भारतेन्दु युग के बाद वाले युग को द्विवेदीयुग के नाम से अभिहित किया है । सन् 1903 ई. से सन् 1920 ई. तक 'सरस्वती' पत्रिका के सम्पादक रहे द्विवेदी जी ने हिन्दी साहित्य को रीतिकालीन प्रवृत्तियों से पूर्णतः मुक्त कर उसे आधुनिक प्रवृत्तियों से जोड़ने का स्तुत्य प्रयास किया । रचनात्मक फलक पर उन्होंने हिन्दी साहित्य-जगत् को अनेक रूपों में प्रभावित किया है । भारतेन्दु युग में जिन साहित्यिक प्रवृत्तियों का सूत्रपात हुआ था, आचार्य द्विवेदी और उनके समकालीन साहित्यकारों ने द्विवेदीयुग में उन्हीं प्रवृत्तियों को विकसित करते हुए नवजागरण का सन्देश दिया । राष्ट्रीयता, देश-प्रेम, स्वदेशाभिमान, समाज-सुधार, आदर्शवाद, नैतिकता, नवजागरण के स्वर द्विवेदीयुगीन हिन्दी कविता, कथा-साहित्य, साहित्यिक पत्रकारिता, अनूदित साहित्य, विभिन्न गद्य-विधाओं और आरम्भिक हिन्दी समालोचना में अपेक्षाकृत अधिक मुखर हैं । आर्यसमाज, ब्रह्मसमाज, थियॉसोफिकल सोसायटी तथा इंडियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना का प्रभाव भी द्विवेदीयुगीन साहित्य पर अधिक दिखाई पड़ता है । यह वही समय था जब बालगंगाधर तिलक, गोपालकृष्ण गोखले, लाला लाजपत राय, स्वामी श्रद्धानन्द, मदनमोहन मालवीय आदि समाजसुधारक सामाजिक क्षेत्र में देशवासियों के स्वाभिमान को जगाने तथा अपनी गौरवशाली परम्पराओं के प्रति उन्हें निष्ठावान् बनाने का प्रयास कर रहे थे । द्विवेदीयुगीन साहित्य में भी समाज-सुधार की भावना बलवती दिखाई देती है ।

3.4.02. द्विवेदीयुगीन हिन्दी कविता की ऐतिहासिक भूमिका

जिस समय और समाज ने द्विवेदीयुगीन हिन्दी कविता की रचना-दृष्टि का निर्माण किया है और उसे सामाजिक-सांस्कृतिक प्रतिबद्धता से जोड़ा है, वह समय और समाज भारत में सामाजिक और राजनैतिक आन्दोलनों की चरम अवस्था का समाज है । काव्य-चिन्तन की एक व्यापक मानवीय भूमिका तत्कालीन आन्दोलनों के मूल में दिखाई देती है । इस कालखण्ड में सामाजिक सुधार, धार्मिक सुधार, परम्परा व रीति-रिवाज से सम्बन्धित समस्त सुधारों को हिन्दी काव्य से जोड़कर ब्रिटिश सत्ता के विरुद्ध भारतीय स्वतन्त्रता पर केन्द्रित करते हुए एक सफल राष्ट्रीय, सामाजिक, सांस्कृतिक आन्दोलन के रूप में प्रस्तुत किया गया है । द्विवेदीयुगीन हिन्दी काव्य तत्युगीन राजनैतिक व्यवस्था, भारतीय समाज में व्याप्त भ्रष्टाचार, नारी की स्थिति, गरीबी, अभाव और पीड़ा को समग्रता में उद्घाटित करता है ।

3.4.02.1. पृष्ठभूमि

भारतेन्दुयुगीन हिन्दी कविताओं में मूलतः शृंगार, भगवद्भक्ति एवं देशभक्ति की भावना विद्यमान थी । विक्टोरिया के आश्वासन के भुलावे में पड़कर राजभक्ति भी प्रकट की जा रही थी तो विद्वज्जनों की सभा-गोष्ठियों में

समस्यापूर्ति जैसा स्वस्थ मानसिक अभ्यास भी प्रचलन में था। कहीं न कहीं एकरूपता का अभाव दिखाई देता था। साहित्य की भाषा में भी एकमत नहीं था। गद्य की एकमात्र भाषा खड़ीबोली स्वीकार कर लेने पर भी भारतेन्दुयुगीन कविताओं में ब्रजभाषा का एकछत्र साम्राज्य बना रहा। हिन्दी कविता को शृंगारिकता से राष्ट्रीयता, जड़ता से प्रगति तथा रूढ़ि से स्वच्छन्दता के द्वार पर ला खड़ी करने में बीसवीं शताब्दी के प्रथम दो दशकों का सर्वाधिक महत्त्व है। इस कालखण्ड के विचारक, पथ-प्रदर्शक और साहित्य-साधक आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के प्रतिनिधित्व व मार्गदर्शन में हिन्दी कविता अपनी एक निश्चित दिशा और स्वरूप निर्धारित करती है। नवजागरण का शंखनाद होने के कारण द्विवेदीयुग को 'नवजागरण काल' भी कहा गया। भारतेन्दु युग को पुनर्जागरण काल की संज्ञा दी गई थी। कालान्तर में उन्नीसवीं शताब्दी का अन्त होते-होते महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों एवं संशोधनों के परिणामस्वरूप द्विवेदीयुग को 'जागरणसुधार काल' भी कहा जाता है।

भारतीय इतिहास में द्विवेदीयुग ब्रिटिश शासन के दमनचक्र और कूटनीति का कालखण्ड है। सन् 1857 ई. की क्रान्ति के उपरान्त सन् 1858 ई. में महारानी विक्टोरिया के सहृदयतापूर्ण घोषणापत्र से भारतीय जनमानस आशान्वित हो गई थी। कतिपय सुधार हुए भी, इससे कृतज्ञ होकर भारतेन्दुयुगीन कवियों ने ब्रिटिश हुकूमत की प्रशस्तियाँ लिखीं और महारानी विक्टोरिया की जय-जयकार की। दुःखद स्थिति यह रही कि छोटे-मोटे सुधारों के अतिरिक्त कुछ नहीं हुआ। आमजनों ने जो बड़ी-बड़ी आशाएँ लगाई थीं, अपूर्ण ही रहीं। अनेक प्रतिगामी एवं काले कानून लागू किए गए जिसके चलते भारतीय जनता दिन-प्रतिदिन पिसती चली गई। आर्थिक दृष्टि से भी ब्रिटिश नीति भारत के लिए अहितकारी थी। देश का धन निरन्तर बाहर जाने से देश निर्धन होता चला गया। उद्योगों के विकास की ओर सरकार ने कोई ध्यान नहीं दिया। साथ ही, एक के बाद एक अकाल पड़ने से भारतीयों के समक्ष जीवन-संकट उपस्थित हो गया। इस कारण जनता ने पूर्ण स्वतन्त्रता की माँग की। 'पूर्ण स्वराज्य' तथा 'स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है' जैसे नारे बुलन्द हुए। भारतेन्दु युग के रचनाकार जहाँ भारत-दुर्दशा पर दुःख प्रकट करके रह गए, वहीं द्विवेदीयुगीन साहित्यकारों ने देश की दुर्दशा के उद्‌घाटन के साथ-साथ देशवासियों को स्वतन्त्रता की अभिप्रेरणा भी दी तथा उन्हें आत्म-बलिदान एवं सर्वस्व-समर्पण हेतु प्रेरित किया।

3.4.02.2. सामान्य प्रवृत्तियाँ

बढ़ती हुई राजनैतिक चेतना तथा सांस्कृतिक पुनरुत्थान के प्रभावस्वरूप राष्ट्रीयता द्विवेदीयुगीन हिन्दी काव्यधारा की प्रमुख विशेषता थी। इस युग के प्रायः सभी रचनाकारों ने देशभक्तिपूर्ण कविताओं का प्रणयन किया। पराधीनता को सबसे बड़ा अभिशाप मानते हुए स्वतन्त्रता-प्राप्ति के निमित्त क्रान्ति एवं आत्मोत्सर्ग की प्रेरणा दी। कविवर नाथूराम शर्मा 'शंकर' देश पर प्राण न्यौछावर करने को अभिप्रेरित करते हैं –

देशभक्त वीरो, मरने से नेक नहीं डरना होगा।
प्राणों का बलिदान देश की वेदी पर करना होगा॥

गयाप्रसाद शुक्ल 'स्नेही' की काव्य-रचनाएँ देशभक्ति एवं राष्ट्रीयता के स्वर से परिपूर्ण हैं –

जिसको न निज गौरव तथा निज देश का अभिमान है।
वह नर नहीं नर पशु निरा है और मृतक समान है॥

मैथिलीशरण गुप्त की कविताओं में राष्ट्रीयता का स्वर मुखरित हुआ है। उनके द्वारा रचित 'भारत-भारती' को देशभक्तिपरक होने के कारण ही ब्रिटिश हुकूमत ने प्रतिबन्धित कर दिया था। कविवर गुप्त की हुंकार युवाओं को आत्मोसर्ग हेतु प्रेरित करती है –

धरती हिल कर नींद भगा दे
वज्रनाद से व्योम जगा दे
दैव, और कुछ आग लगा दे।

गुप्त जी ने 'भारत-भारती' में बड़ी श्रद्धा और भक्ति से अतीत का गौरव-गान करते हुए देश की वर्तमान दशा पर क्षोभ प्रकट किया है। वे भारतवर्ष की श्रेष्ठता की घोषणा करते हुए कहते हैं –

भू-लोक का गौरव, प्रकृति का पुण्य-लीला स्थल कहाँ?
फैला मनोहर गिरि हिमाचल और गंगाजल जहाँ।
सम्पूर्ण देशों से अधिक किस देश का उत्कर्ष है
उसका कि जो ऋषिभूमि है, वह कौन? भारतवर्ष है॥

युवाओं में धैर्य, लगन, दृढ़ निश्चय, शौर्य, देशप्रेम आदि उदात्त भावनाओं को नष्ट होता देखकर ठाकुर गोपालसिंह दुःख प्रकट करते हैं –

वह धीरता कहाँ है गंभीरता कहाँ है?
वह वीरता हमारी है वह कहाँ बड़ाई?
क्या हो गईं कलाएँ कौशल सभी हमारे?
किसने शताब्दियों की ली छीन सब कमाई?

देशवासियों में व्याप्त आपसी फूट, आलस्य, प्रमाद, मिथ्याभिमान, स्वार्थ-वृत्ति आदि बुराइयों के प्रति क्षोभ प्रकट करते हुए राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' कहते हैं –

भरतखंड का हाल जरा देखो है कैसा।
आलस का जंजाल जरा देखो है कैसा॥
जरा फूट की दशा खोल कर आँखें देखो।
खुदगर्जी का नशा खोल कर आँखें देखो॥

है शेखी दौलत की कहीं, बल का कहीं गुमान है।
है खानदान का मद कहीं, कहीं नाम का ध्यान है॥

इस प्रकार द्विवेदीयुगीन कवियों ने देश की आर्थिक विपन्नता, सामाजिक कुरीतियाँ, विकृत रूढ़िवादिता तथा धार्मिक आडम्बरों का स्पष्ट उद्‌घाटन करते हुए देशवासियों को इन्हें त्यागने हेतु प्रेरित किया है।

रीतिकालीन कविताओं में मुक्तक शैली की प्रधानता थी जो शृंगारी रचनाओं के लिए सर्वाधिक उपयुक्त मानी गई है। वही मुक्तक शैली भारतेन्दु युगीन रचनाओं में भी प्रयुक्त होती रही। लेकिन द्विवेदीयुग में मुक्तक शैली की बजाय इतिवृत्तात्मकता की प्रवृत्ति बढ़ी फलस्वरूप प्रबन्धात्मक रचनाएँ अधिक परिमाण में लिखी जाने लगीं। मैथिलीशरण गुप्त-कृत 'साकेत', 'जयद्रथवध', 'पंचवटी', 'यशोधरा', 'द्वापर'; अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'-कृत 'प्रियप्रवास', 'वैदेही वनवास'; रामनरेश त्रिपाठी-कृत 'मिलन', 'पथिक', 'स्वप्न' आदि रचनाएँ इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं।

द्विवेदीयुगीन काव्य में सामान्य मानव की महिमा स्थापित करने का प्रयास किया गया। मानव मात्र के सुख-दुःख और परिस्थितियों का वर्णन द्विवेदीयुगीन हिन्दी काव्य की प्रमुख प्रवृत्ति है। सामाजिक कुप्रथाओं के उन्मूलनार्थ अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने तत्युगीन उच्चतर जातियों द्वारा निम्न जातियों के प्रति किए गए अन्याय और दुर्व्यवहार का अत्यन्त ही मार्मिक वर्णन किया है –

आप आँखें खोल कर के देखिए,
आज जितनी जातियाँ हैं सिर-धरी।
पेट में उनके पड़ी दिखलाएँगी,
जातियाँ कितनी सिसकती या मरी॥

द्विवेदीयुगीन हिन्दी काव्य आदर्शवादी एवं नीतिपरक है। इस कालखण्ड में इतिहास, पुराण आदि से गृहीत कथा-प्रसंगों के आधार पर अथवा कल्पनाश्रित उज्ज्वल कथाएँ लेकर आदर्श चरित्रों पर अनेक प्रबन्धकाव्य लिखे गए हैं। सभी रचनाओं में असत्य पर सत्य की विजय और स्वार्थ, त्याग, कर्त्तव्य-पालन, आत्मगौरव आदि उच्चादर्शों की प्रेरणा दी गई है। 'प्रियप्रवास' की राधा रीतिकालीन काव्य-परम्परा में वर्णित स्वरूप से सर्वथा भिन्न रूप में लोकसेविका और समाज से सरोकार रखने वाली आदर्श नारी के रूप में सामने आती है।

दुष्ट का संग विनाशकारी होता है। कुसंगति के परिणामों के प्रति सावधान करते हुए पण्डित रामचरित उपाध्याय कहते हैं –

अति खल की संगति करने से, जग में मान नहीं रहता है।
लोहे के संग में पड़ने से, घन की मार अनल सहता है॥
सबसे नीतिशास्त्र कहता है, दुष्ट संग दुख का दाता है।
जिस पय में पानी रहता है, वही खूब औटा जाता है॥

द्विवेदीयुगीन काव्य को सुधारवादी काव्य भी कहा जाता है। तत्युगीन रचनाकारों ने छूआछूत, दहेज प्रथा, बाल-विवाह, धार्मिक रूढ़ियाँ आदि सामाजिक समस्याओं को अपनी कविता का विषय बनाया है। नारी की व्यथा-कथा को भी प्रायः सभी तत्युगीन कवियों ने मार्मिक रूप में उजागर किया है –

अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी।
आँचल में है दूध और आँखों में पानी॥

द्विवेदीयुगीन काव्य में प्रकृति का सुरम्य चित्रण हुआ है तथापि यहाँ रीतिकालीन परिपाटी पर प्रकृति-वर्णन नहीं किया गया है। श्रीधर पाठक, मैथिलीशरण गुप्त, अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' आदि की रचनाओं में प्रकृति का मनोहारी चित्रण मिलता है। श्रीधर पाठक ने 'कश्मीर सुषमा' का मनमोहक चित्रण किया है तो अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने अपने महाकाव्य 'प्रियप्रवास' में प्रकृति की रम्य छटा अंकित की है –

दिवस का अवसान समीप था।
गगन था कुछ लोहित हो चला॥
तरु शिखा पर थी अब राजती।
कमलिनी कुल बल्लभ की प्रभा॥

द्विवेदीयुगीन काव्य में वर्ण्य-विषय के विस्तार में पर्याप्त वैविध्य और व्यापकत्व के दर्शन होते हैं। नायिका-भेद को छोड़कर अन्य सभी चिरपरिचित उपादान तो गृहीत हैं ही, साथ ही अनेक नूतन विषयों को भी द्विवेदीयुगीन कविताओं में पर्याप्त महत्त्व दिया गया है।

3.4.02.3. रचनात्मक अवदान

द्विवेदीयुग में प्रबन्धकाव्य और खण्डकाव्य अधिक मात्रा में रचे गए हैं। प्रगीतात्मक मुक्तकों की रचना भी पर्याप्त मात्रा में हुई है। छायावादी युग में 'प्रगीत' लिखने की परम्परा का सूत्रपात द्विवेदीयुग में ही हो चुका था। मैथिलीशरण गुप्त द्वारा रचित 'सुकवि कीर्तन' तथा रामचरित उपाध्याय-कृत 'कन्हैया' में प्रगीतात्मक मुक्तक शैली दिखाई पड़ती है।

द्विवेदीयुगीन कवियों ने काव्य-भाषा के रूप में ब्रजभाषा का परित्याग कर खड़ीबोली हिन्दी का प्रयोग किया। श्रीधर पाठक और अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' पहले ब्रजभाषा में काव्य-रचना करते थे, वे भी अब आचार्य द्विवेदी के प्रभाव से खड़ीबोली में रचना करने लगे। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 'कवि कर्त्तव्य' नामक निबन्ध में कवियों को परामर्श दिया कि काव्य में पुराने छन्दों के साथ-साथ संस्कृत वर्णवृत्तों का प्रयोग भी किया जाना चाहिए। वंशस्थ, शिखरिणी, हरिगीतिका, मन्दाक्रान्ता, शार्दूलविक्रीड़ित, ताटक, लावनी आदि छन्दों का प्रयोग द्विवेदीयुगीन कवियों ने अत्यन्त कुशलतापूर्वक किया है। इस युग की काव्य-भाषा आचार्य द्विवेदी के आदर्शानुसार सुबोध, शुद्ध और रसानुरूप बनाने का प्रयास किया गया।

3.4.03. द्विवेदीयुगीन कथा-साहित्य

कथा-साहित्य की दृष्टि से द्विवेदीयुग अपेक्षाकृत समृद्ध है। रचनाकारों की प्रवृत्ति कौतुहल, रहस्य और रोमांच के माध्यम से पाठकों का मनोरंजन करने में अधिक रही है। सामाजिक जीवन की यथार्थ समस्याओं पर आधारित गम्भीर कथा-साहित्य का सृजन बहुत अधिक नहीं हुआ। रहस्यमयी अद्‌भुत घटनाओं को शृंखलाबद्ध कर एक अपरिचित संसार में पाठकों को भ्रमण कराते रहने में द्विवेदीयुगीन कथाकारों ने अधिक रुचि दिखाई है।

3.4.03.1. द्विवेदीयुगीन उपन्यास

विषयवस्तु के आधार पर द्विवेदीयुगीन कथा-साहित्य, खासकर उपन्यासों को पाँच वर्गों में रखा जा सकता है – (i) तिलस्मी ऐयारी उपन्यास, (ii) जासूसी उपन्यास, (iii) अद्‌भुत घटनाप्रधान उपन्यास, (iv) ऐतिहासिक उपन्यास और (v) सामाजिक उपन्यास।

तिलस्मी-ऐयारी उपन्यासों की परम्परा देवकीनन्दन खत्री द्वारा भारतेन्दु युग में आरम्भ की गई थी। द्विवेदीयुग में भी यह परम्परा प्रचलन में रही। देवकीनन्दन खत्री के 'काजर की कोठरी' (1902), 'अनूठी बेगम' (1905), 'गुप्त गोदना' (1906), 'भूतनाथ' : प्रथम छह भाग (1906) आदि उपन्यास द्विवेदीयुग में प्रकाशित हुए। इस परम्परा की अन्य औपन्यासिक रचनाओं में हरिकृष्ण जौहर के 'मयंकमोहिनी या मायामहल' (1901), 'कमलकुमारी' (1902), 'निराला नक़ाबपोश' (1902), 'भयानक खून' (1903); किशोरीलाल गोस्वामी का 'तिलस्मी शीशमहल' (1905), रामलाल वर्मा का 'पुतली महल' (1908) प्रमुख हैं।

जासूसी उपन्यासों का सूत्रपात गोपालराम गहमरी ने किया। वे अंग्रेज़ी के प्रसिद्ध जासूसी रचनाकार आर्थर कार्नर डायल से बहुत प्रभावित थे। उन्होंने आर्थर कार्नर डायल के बहुचर्चित उपन्यास 'ए स्टडी इन स्कारलेट' (1887) का 'गोविन्दराम' (1905) शीर्षक से हिन्दी रूपान्तरण किया। 'सरकटी लाश' (1900), 'चक्करदार चोरी' (1901), 'जासूस की भूल' (1901), 'जासूस पर जासूसी' (1904), 'जासूस चक्कर में' (1906), 'इन्द्रजालिक जासूस' (1910), 'गुप्त भेद' (1913), 'जासूस की ऐयारी' (1914) आदि उनके प्रसिद्ध मौलिक जासूसी उपन्यास हैं। गोपालराम गहमरी रचित उपन्यास पाठक वर्ग में अत्यन्त लोकप्रिय हुए। अन्य जासूसी उपन्यासकारों में रामलाल वर्मा, किशोरीलाल गोस्वामी और जयरामदास गुप्त ख्यातिलब्ध हैं।

अद्‌भुत घटनाप्रधान उपन्यासों की रचना तिलस्मी और जासूसी उपन्यासों से अलग तकनीक पर की जाती थी। इसमें इसी लोक के किसी रहस्यमयी कोने का उद्‌घाटन किया जाता था। ऐसे उपन्यासों की प्रेरणा रेनॉल्ड कृत 'मिस्ट्रीज ऑफ द कोर्ट ऑफ लंदन' के अनुवाद 'लंदन-रहस्य' से प्राप्त हुई थी। विट्ठलदास नागर का 'किस्मत का खेल' (1905), बाँकेलाल चतुर्वेदी का 'खौफ़नाक खून' (1912), निहालचन्द वर्मा का 'प्रेम का फल या मिस जौहरा' (1913), प्रेमविलास वर्मा का 'प्रेममाधुरी या अनंगकांता' (1915) और दुर्गाप्रसाद खत्री का 'अद्‌भुत भूत' (1916) इसी कोटि के उपन्यास हैं।

द्विवेदीयुग में मुग़लकालीन इतिहास पर आधारित कई ऐतिहासिक उपन्यास लिखे गए। हालाँकि, उनमें ऐतिहासिक तत्त्वों का अभाव है। तत्युगीन ऐतिहासिक उपन्यासकारों ने इतिहास की प्रायः ऐसी घटनाओं का चयन किया है जो पाठकों के कौतूहल एवं रहस्य-रोमांच वृत्ति को सम्पुष्ट कर सकें। किशोरीलाल गोस्वामी-कृत 'तारा वा क्षात्रकुलकमलिनी' (1902), 'सुल्ताना रजिया बेगम वा रंगमहल में हलाहल' (1904), 'मल्लिका देवी या बंग सरोजिनी' (1905), 'लखनऊ की क़ब्र व शाही महलसरा' (1917); गंगाप्रसाद गुप्त-कृत 'नूरजहाँ' (1902), 'कुमारसिंह सेनापति' (1903), 'हम्मीर' (1903); जयरामदास गुप्त-कृत 'काश्मीर पतन' (1907), 'नवाबी परिस्तान वा वाजिद अली शाह' (1909), 'मल्का चाँद बीबी' (1909) और मथुरा प्रसाद शर्मा-कृत 'नूरजहाँ बेगम व जहाँगीर' (1905) द्विवेदीयुगीन प्रमुख ऐतिहासिक उपन्यास हैं।

द्विवेदीयुगीन सामाजिक उपन्यासों में सुधारवादी जीवन-दृष्टि अन्तर्निहित है। किशोरीलाल गोस्वामी, लज्जाराम शर्मा और गंगाप्रसाद गुप्त जैसे उपन्यासकार सनातन धर्म के प्रबल समर्थक थे। आर्यसमाज के नवीन सुधारवादी आन्दोलन के विरुद्ध होते हुए भी वे लोग नैतिक जीवन-दृष्टि के पक्षधर रहे। किशोरीलाल गोस्वामी ने अपने उपन्यासों में सती-साध्वी, देवियों के आदर्श प्रेम के साथ ही अवैध प्रेम, विधवाओं के व्यभिचार, वेश्याओं के कुत्सित जीवन और देवदासियों की विलास-लीला का सजीव चित्रण किया है। इस तरह उनका उद्देश्य समाज के नारकीय कुत्सित जीवन के दुष्परिणाम दिखाकर लोगों को उच्च नैतिक जीवन हेतु प्रवृत्त करना था। द्विवेदीयुगीन अन्य सामाजिक उपन्यासकारों में अयोध्यासिंह उपाध्याय, ब्रजनन्दन सहाय, राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह, मन्नान द्विवेदी प्रमुख हैं।

द्विवेदीयुगीन सामाजिक उपन्यासों में लज्जाराम शर्मा द्वारा रचित 'आदर्श दम्पति' (1904), 'बिगड़े का सुधार अथवा सती सुखदेवी' (1907) और 'आदर्श हिन्दू' (1914) उपन्यास विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण हैं। किशोरीलाल गोस्वामी-कृत उपन्यासों में 'लीलावती वा आदर्श सती' (1901), 'चपला वा नव्य समाज' (1904), 'पुनर्जन्म या सौतिया डाह' (1907), 'माधवीमाधव वा मदनमोहिनी' (1910) और 'अँगूठी का नगीना' (1918) उल्लेखनीय हैं। अयोध्यासिंह उपाध्याय विरचित उपन्यास 'अधखिला फूल' में धार्मिक अन्धविश्वासों के दुष्परिणामों का निदर्शन किया गया है। ब्रजनन्दन सहाय-कृत 'सौन्दर्योपासक' (1911) और 'राधाकान्त' (1912) मूलतः भावपरक सामाजिक उपन्यास हैं। मन्नान द्विवेदी की औपन्यासिक कृति 'रामलाल' में ग्रामीण जीवन का सजीव चित्रण मिलता है। द्विवेदीयुगीन उपन्यासों, विशेषकर सामाजिक उपन्यासों की महत्त्वपूर्ण परम्परा में ही परवर्ती उपन्यासकारों ने अपनी आधारभूमि ग्रहण की। द्विवेदीयुगीन सामाजिक उपन्यासों का मुख्य उद्देश्य समाज-सुधार था। कथासम्राट् मुंशी प्रेमचंद भी इसी उद्देश्य से अभिप्रेरित हुए। उनके 'प्रेमा', 'रूठी रानी' और 'सेवासदन' उपन्यासों में समाज-सुधार की भावना प्रधान रूप से विद्यमान है।

3.4.03.2. द्विवेदीयुगीन कहानी

'सरस्वती' पत्रिका के प्रकाशन वर्ष सन् 1900 ई. के साथ ही हिन्दी कहानी का उदय होता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'इन्दुमती' को हिन्दी की प्रथम मौलिक कहानी माना है जिसका प्रकाशन सन् 1900 ई. में

'सरस्वती' पत्रिका में हुआ था। इस प्रकार सन् 1900 ई. के आसपास हिन्दी कहानी का जन्म हुआ और सन् 1912 ई. से सन् 1918 ई. के मध्य वह कथा-साहित्य के क्षेत्र में पूर्णतः प्रतिष्ठित हो गई। आरम्भिक दौर के कथाकारों में किशोरीलाल गोस्वामी, माधवप्रसाद मिश्र, रामचन्द्र शुक्ल, जयशंकर प्रसाद, वृन्दावनलाल वर्मा उल्लेखनीय हैं। किशोरीलाल गोस्वामी की 'इन्दुमती' कहानी 'सरस्वती' में सन् 1900 ई. में प्रकाशित हुई। इसी वर्ष 'सुदर्शन' में माधवप्रसाद मिश्र की कहानी 'मन की चंचलता' का प्रकाशन हुआ। सन् 1900 ई. में ही लाला भगवानदीन की कहानी 'प्लेग की चुड़ैल' प्रकाशित हुई जो तत्कालीन वास्तविक परिस्थिति का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करने वाली कहानी स्वीकार की जाती है। 'सरस्वती' में ही आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की कहानी 'ग्यारह वर्ष का समय' (1903) और बंगमहिला राजेन्द्रबाला घोष की कहानी 'दुलाईवाली' (1907) प्रकाशित हुईं। सन् 1912 ई. में जयशंकर प्रसाद की कहानियों का संग्रह 'छाया' शीर्षक से प्रकाशित हुआ। 'सरस्वती' में प्रकाशित प्रेमचंद की कहानियों में 'सौत' (1915), 'पंच परमेश्वर' (1916), 'सज्जनता का दण्ड' (1916), 'ईश्वरीय न्याय' (1917), 'दुर्गा का मन्दिर' (1917) उल्लेखनीय हैं। सन् 1915 ई. से सन् 1917 ई. के मध्य 'सरस्वती' में पण्डित ज्वालादत्त शर्मा की कहानी 'मिलन', विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' की कहानी 'रक्षाबन्धन', पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी की कहानी 'झलमला' प्रकाशित हुईं। द्विवेदीयुगीन हिन्दी कहानी के क्षेत्र में प्रेमचंद और जयशंकर प्रसाद ने दो भिन्न प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व किया। जहाँ एक ओर प्रेमचंद जीवन की वास्तविक घटनाओं और समस्याओं को लेकर आदर्श की प्रतिष्ठा कर रहे थे, वहीं दूसरे छोर पर जयशंकर प्रसाद मानवीय अन्तर्द्वन्द्व को अभिव्यक्त करने में एकाग्र थे। द्विवेदीयुग में अन्य भाषाओं में रचित प्रसिद्ध कहानियों के हिन्दी अनुवाद भी हुए। अधिकतर अनुवाद बांग्ला भाषा से किए गए। कहानी अनुवादकों में गिरिजाकुमार घोष और बंगमहिला राजेन्द्रबाला घोष के नाम आदरपूर्वक लिए जाते हैं।

3.4.03.3. शिल्पगत वैशिष्ट्य

द्विवेदीयुगीन हिन्दी कथा-साहित्य की पीठिका सामाजिक सम्बन्धों पर आधारित है जहाँ शिल्पगत वैशिष्ट्य कथाकार के मानवीय सम्बन्ध एवं व्यवहारों की समझ तथा भाषिक संरचना पर निर्भर है। द्विवेदीयुगीन कथा-साहित्य के शिल्पगत वैशिष्ट्य को इस प्रकार रेखांकित किया जा सकता है –

(i) द्विवेदीयुगीन कथा-साहित्य की कथावस्तु और भाषिक-विधान अपनी पूर्ववर्ती परम्पराओं से नितान्त भिन्न है।

(ii) युगीन परिवेश को समग्रता में अभिव्यक्त करने के लिए प्रतीकात्मकता एवं सांकेतिकता का प्रभावी संयोजन हुआ है।

(iii) भाषा में पात्रानुकूलता एवं अर्थव्यंजना पर विशेष बल दिया गया है।

(iv) द्विवेदीयुगीन कथा-साहित्य में भाषा के दो रूप दिखाई पड़ते हैं। पहला, सरल एवं स्वाभाविक भाषा तथा दूसरा, अलंकृत एवं क्लिष्ट भाषा। जयशंकर प्रसाद की रचनाओं की भाषा प्रायः संस्कृतनिष्ठ तत्सम शब्दावली से युक्त है।

(v) लोकभाषा का प्रयोग प्रायः वातावरण का यथातथ्य चित्रण करने तथा पात्रों के संवादों को सहज एवं विश्वसनीय बनाने में किया गया है।

(vi) द्विवेदीयुगीन कथा-साहित्य में भाषा को सम्प्रेषणीय बनाने के लिए लोकोक्तियों, मुहावरों और सूक्तियों का भरपूर इस्तेमाल किया गया है।

3.4.04. साहित्यिक पत्रकारिता और 'सरस्वती' का योगदान

हिन्दी पत्रकारिता अपने उद्भव से लेकर अब तक मूल रूप से साहित्यिक व सांस्कृतिक रही है। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' मासिक पत्रिका का सम्पादन-कार्य आरम्भ कर हिन्दी की साहित्यिक पत्रकारिता के एक नये युग का सूत्रपात किया। सही मायने में द्विवेदीयुग में ही हिन्दी पत्रकारिता का साहित्यिक एवं सांस्कृतिक रूप निखरा और वह महनीय दायित्व की ओर उन्मुख हुई। आचार्य द्विवेदी ने 'सरस्वती' के माध्यम से पत्रकारिता को सांस्कृतिक अनुष्ठान में परिवर्तित कर दिया। कालान्तर में रचनाकार 'सरस्वती' से सीख लेकर अपनी पहचान कायम कर सके। इस परिप्रेक्ष्य में मैथिलीशरण गुप्त का उदाहरण हमारे समक्ष प्रकट है। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने स्वयं एवं अन्य रचनाकारों से नये-नये विषयों पर निबन्ध लिखवाकर लेखकों की एक पूरी पीढ़ी को प्रशिक्षित किया जो आगे चलकर हिन्दी पत्रकारिता में ही नहीं, अपितु साहित्य में भी अपना श्रेष्ठतम योगदान दे सकी। साहित्यिक पत्रकारिता के उन्नयन में 'सरस्वती' पत्रिका के योगदान को निम्नलिखित बिन्दुओं में परिगणित किया जा सकता है –

(i) 'सरस्वती' का सिद्धान्त वाक्य है – "सरस्वती श्रुति महती न हीयताम्।" इसके प्रवेशांक में कहा गया है कि "परम कारुणिक सर्वशक्तिमान जगदीश्वर की अशेष अनुकम्पा से ही ऐसा अनुपम अवसर आकर प्राप्त हुआ है कि आज हम लोग हिन्दी के रसिकजनों की सेवा में नये उत्साह से उत्साहित हो एक नवीन उपहार लेकर उपस्थित हुए हैं जिसका नाम 'सरस्वती' है।" 'सरस्वती' के प्रवेशांक में अभिव्यक्त इस संकल्प का निर्वाह उसके प्रकाशन में निरन्तर होता रहा। 'सरस्वती' पत्रिका का यह संकल्प यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि पत्रकारिता में साहित्यिक-सांस्कृतिक चेतना को प्रतिष्ठित करना 'सरस्वती' का महत् उद्देश्य था। और, आचार्य द्विवेदी के सत्प्रयासों से वह इसमें सफल भी हुई।

(ii) मानवीय हितों की रक्षा के संकल्प के साथ 'सरस्वती' प्रत्येक स्तर पर हिन्दी समाज की उन्नति का लक्ष्य लेकर चली जिसमें भाषा, साहित्य, संस्कार आदि क्षेत्र प्राथमिकता पर थे।

(iii) स्वाधीनता की चेतना के प्रसार के साथ-साथ 'सरस्वती' ने बड़े यत्न से उस नींव को तैयार किया जिस पर बाद में साहित्यिक पत्रकारिता के विकास की इमारत खड़ी हो सकी और हिन्दी की साहित्यिक पत्रकारिता की प्रगति भी सुनिश्चित हो सकी।

(iv) भाषा की व्याकरणिक भूलों को सुधार कर हिन्दी गद्य का संस्कार, परिष्कार एवं परिमार्जन हुआ।

(v) आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' में 'कवि कर्त्तव्य' जैसे निबन्ध लिखकर कवियों की भाषिक-संरचना, शैली, छन्द-योजना, विषयवस्तु सम्बन्धी अनेक निर्देश दिये जिसने हिन्दी कविता की दिशा बदलने में उल्लेखनीय भूमिका का निर्वहन किया।

(vi) हिन्दी गद्य में विराम-चिह्नों का सूत्रपात भी 'सरस्वती' के प्रयासों से ही सम्भव हो पाया।

(vii) खड़ीबोली हिन्दी को काव्य-भाषा के पद पर प्रतिष्ठित करने का श्रेय 'सरस्वती' को जाता है। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने ब्रजभाषा में लिखी जाने वाली हिन्दी कविता को प्रोत्साहन नहीं दिया तथा इस बात पर विशेष बल दिया कि गद्य एवं पद्य की भाषा एक होनी चाहिए।

3.4.05. नवजागरण के सन्दर्भ में 'सरस्वती' पत्रिका का अवदान

'सरस्वती' पत्रकारिता का एक निश्चित ध्येय था। उसका प्रकाशन व्यावसायिक न था। राष्ट्रीय व सामाजिक-सांस्कृतिक प्रश्नों और समस्याओं पर टिक कर बहस करना उसका अपना धर्म बन गया था। रचनाकारों की चिन्ताएँ जो 'सरस्वती' में अभिव्यक्त होती थीं, वे उनकी रचनाभूमि भी बनती थीं। नवजागरण के सन्दर्भ में 'सरस्वती' पत्रिका के अवदान को निम्नलिखित बिन्दुओं के अन्तर्गत परिगणित किया जा सकता है –

(i) 'सरस्वती' में नैतिकता, मर्यादा, संस्कृति, समाज-सुधार आदि पर विशेष बल दिया गया है।

(ii) 'सरस्वती' में प्रकाशित कविताओं और निबन्धों में देश की तत्युगीन स्थिति का चित्रण करने के साथ-साथ समाज-सुधार, आदर्शवाद और स्वदेशाभिमान का स्वर मुखरित हुआ है।

(iii) सामाजिक न्याय को दृष्टि में रखकर मानवता, समरसता, स्वतन्त्रता के सिद्धान्त को महत्त्व देने वाली रचनाएँ 'सरस्वती' में प्रकाशित की गईं।

(iv) 'सरस्वती' में प्रकाशित रचनाएँ पढ़कर पाठक वर्ग तत्युगीन सामाजिक कुरीतियों से मुक्त होने की प्रेरणा प्राप्त कर रहा था और नयी राष्ट्रीय-सांस्कृतिक एकता के भाव को आत्मसात् कर रहा था।

(v) सामाजिक सद्भाव एवं एकता के निहितार्थ रची गई 'सरस्वती' में प्रकाशित रचनाएँ जाति, वर्ग, वर्ण, धर्म, मत, सम्प्रदाय आदि भेदों को भुलाकर युगबोध एवं मानवीय-मूल्यों की प्रवृत्ति के विकास में सहायक बनीं।

3.4.06. विविध विषयपरक अनूदित साहित्य और अन्य गद्य-विधाएँ

द्विवेदीयुग में हिन्दी उपन्यास, कहानी, नाटक, निबन्ध आदि मुख्य गद्य-विधाओं के साथ-साथ अन्य गद्य विधाओं एवं विविध विषयपरक अनूदित साहित्य की एक समृद्ध एवं विकसित परम्परा रही है। निम्नलिखित बिन्दुओं में द्विवेदीयुगीन विविध विषयपरक अनूदित साहित्य और अन्य गद्य-विधाओं का विकास देखा जा सकता है –

(i) द्विवेदीयुग में संस्कृत, अंग्रेज़ी और बांग्ला भाषा में रचित महत्त्वपूर्ण नाटकों के हिन्दी अनुवाद किये गए। श्री सदानन्द अवस्थी ने संस्कृत नाटक 'नागानन्द' (1906), लाला सीताराम ने संस्कृत नाटक

'मृच्छकटिकम्' (1913) और सत्यनारायण ने संस्कृत नाटक 'उत्तररामचरितम्' का हिन्दी अनुवाद किया। शेक्सपियर के अंग्रेज़ी नाटकों का हिन्दी अनुवाद लाला सीताराम और चतुर्भुज औदीच्य ने किया। फ्रांस के प्रसिद्ध नाटककार मोलियर के नाटकों को लल्लीप्रसाद पाण्डेय और गंगाप्रसाद श्रीवास्तव ने अनूदित किया। बांग्लाभाषा के कुछ नाटकों का अनुवाद ब्रजनन्दन सहाय ने किया। यद्यपि इन अनूदित रचनाओं में मूल कृतियों की आत्मा सुरक्षित नहीं रह पाई है।

(ii) द्विवेदीयुग में अंग्रेज़ी और बांग्ला भाषा के बहुत से उपन्यास अनूदित हुए। गंगाप्रसाद गुप्त ने रेनॉल्ड के 'लब्ज़ ऑफ द हेयर' का 'रंगमहल' शीर्षक से, जनार्दन प्रसाद झा 'द्विज' ने डिफ़ो के 'रॉबिन्सन क्रूसो' का इसी शीर्षक से, महावीरप्रसाद पोद्दार ने स्टो के 'अंकल टॉम्स केबिन' का 'टाम काका की कुटिया' शीर्षक से और लाला चन्द्रलाल ने स्कॉट के 'द एबट' का 'रानी मेरी' शीर्षक से अनुवाद किया। बांग्लाभाषा से अधिक अनुवाद हुए। ईश्वरीप्रसाद शर्मा ने दामोदर मुखोपाध्याय-कृत उपन्यासों के और किशोरीलाल गोस्वामी ने बंकिमचंद्र-कृत उपन्यासों के हिन्दी अनुवाद किये। कुछ अपवादों को छोड़कर प्रायः सभी अनुवाद कौतुक, रहस्य और रोमांचप्रधान उपन्यासों के ही हुए हैं।

(iii) अन्य गद्य-विधाओं में जीवनी साहित्य, यात्रावृत्त, संस्मरण, पत्र-साहित्य का भी पर्याप्त लेखन हुआ। जीवनी साहित्य में 'प्राचीन पण्डित और कवि', 'सुकवि संकीर्तन', 'चरित चर्चा', 'दयानन्द चरितामृत', 'स्वामी दयानन्द', 'लाजपत महिमा', 'मदनमोहन मालवीय', दादाभाई नौरोजी', 'महात्मा गोखले', 'कर्मवीर गाँधी' 'लोकमान्य तिलक का चरित्र' 'पृथ्वीराज चौहान', महाराणा प्रतापसिंह' 'महाराजा छत्रसाल' आदि; यात्रावृत्त साहित्य में 'मॉरिशस यात्रा', 'युद्ध क्षेत्र की सैर', 'हमारी यात्रा' आदि; संस्मरण साहित्य में 'अनुमोदन का अन्त', 'सभा की सभ्यता', 'इधर-उधर की बातें', 'हरिऔध जी के संस्मरण' आदि; पत्र-साहित्य में 'ऋषि दयानन्द का पत्र-व्यवहार' आदि प्रमुख कृतियाँ हैं।

(iv) इतिहास, राजनीति, नीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, भाषा, व्याकरण और लिपिज्ञान सम्बन्धी रचनाएँ भी प्रकाशित हुईं। राजनीति विषयक रचनाओं में 'जापानी राजव्यवस्था', 'भारतीय शासन पद्धति' आदि; नीतिशास्त्र विषयक ग्रन्थों में 'नीतिदर्शन' आदि; कोशविज्ञान के अन्तर्गत 'पदार्थ संख्या कोश' आदि उल्लेखनीय हैं।

3.4.07. हिन्दी आलोचना का आरम्भिक विकास

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने न केवल अपने युग की रचनाशीलता को नयी दिशा देने का प्रयास किया, प्रत्युत अपने समय के साहित्यिक वर्ग की रुचियों के परिष्कार पर भी पूरा ध्यान दिया है। भारतेन्दु युग की तुलना में द्विवेदीयुगीन चिन्तन की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि उसका रीतिकालीन संस्कारों से मुक्त होना है। हिन्दी आलोचना के आरम्भिक विकास की दृष्टि से नयी चेतना-दृष्टि से सम्पन्न द्विवेदीयुगीन आलोचकों का ख़ास महत्त्व है। द्विवेदीयुगीन समीक्षा-दृष्टि और समीक्षादर्शों में हिन्दी की आगामी समीक्षा के प्रतिमान परिलक्षित होते हैं।

हिन्दी आलोचना के आरम्भिक विकास में द्विवेदीयुग का महत्त्व निम्नलिखित बिन्दुओं के अन्तर्गत देखा जा सकता है –

(i) द्विवेदीयुगीन आलोचना में परम्परा और आधुनिकता को लेकर वैसा द्वन्द्व नहीं है, जैसा कि भारतेन्दुयुगीन समीक्षकों में था।

(ii) द्विवेदीयुग में हिन्दी आलोचना के पाँच रूप लक्षित किए जा सकते हैं – (1) शास्त्रीय आलोचना, (2) तुलनात्मक निर्णय एवं मूल्यांकन, (3) अन्वेषण एवं अनुसंधानपरक आलोचना, (4) परिचयात्मक आलोचना और (5) व्याख्यात्मक आलोचना।

(iii) संस्कृत आचार्यों की पद्धति पर लक्षण-ग्रन्थ प्रस्तुत करने की परम्परा रीतिकाल की प्रमुख प्रवृत्ति थी। इस परम्परा का अनुसरण करते हुए जगन्नाथ प्रसाद 'भानु' ने 'काव्य प्रभाकर' (1916) तथा 'छन्द सारावली' (1917) और लाला भगवानदीन ने 'अलंकार-मंजूषा' (1916) ग्रन्थों की रचना की।

(iv) तुलनात्मक मूल्यांकनद्विवेदीयुगीन समीक्षा की प्रमुख प्रवृत्ति है। तुलनात्मक आलोचना का आरम्भ सन् 1907 ई. में पद्मसिंह शर्मा ने बिहारी और सादी की तुलना द्वारा किया। वे सन् 1908 ई. से सन् 1912 ई. तक 'सरस्वती' में संस्कृत और हिन्दी कविता के बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव की आलोचना करते रहे। इसी क्रम में सन् 1910 ई. में मिश्र बन्धुओं का 'हिन्दी नवरत्न' प्रकाशित हुआ। शोधपरक आलोचना के उन्नायकों में डॉ॰ श्यामसुन्दर दास, राधाकृष्ण दास, जगन्नाथदास रत्नाकर और सुधाकर द्विवेदी उल्लेखनीय हैं।

(v) पद्मसिंह शर्मा का महत्त्व शृंगारवर्णन की दीर्घकालीन परम्परा का निदर्शन करते हुए उसके मध्य बिहारी का मूल्यांकन करने के कारण है। इसी कड़ी में कृष्णबिहारी मिश्र का अवदान प्राचीन शास्त्रीय समीक्षा को वास्तविक रूप में प्रतिष्ठित करने के कारण है। साथ ही लाला भगवानदीन का महत्त्व बिहारी की बारीकियों को चरितार्थ करने में है।

(vi) चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' ने सन् 1902 ई. में जयपुर से 'समालोचक' पत्र निकाला।

(vii) द्विवेदीयुगीन आलोचना में यह सिद्धान्त प्रतिष्ठापित किया गया कि कवि के हृदय की अवस्था, उसका आशय एवं उसकी परिस्थितियों को हृदयंगम किए बिना उसकी समीक्षा नहीं की जा सकती।

(viii) द्विवेदीयुग में साहित्य की समीक्षा में उसके अन्तरंग और बहिरंग दोनों पहलुओं पर समान रूप से बल दिया गया। द्विवेदीयुगीन व्याख्यात्मक आलोचना में किसी रूढ़ि का अनुसरण न कर आलोच्य विषय की व्यापक उपयोगिता को ध्यान में रखकर नैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, राष्ट्रीय व सौन्दर्यपरक मूल्यों के आधार पर ही उसकी समीक्षा के जाती है। वैसे तो इस प्रकार की आलोचना का सूत्रपात बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने 'आनन्दकादम्बिनी' में लाला श्रीनिवासदास के नाटक 'संयोगिता स्वयंवर' की आलोचना से कर दिया था। बालकृष्ण भट्ट ने भी 'हिन्दी प्रदीप' में 'नीलदेवी', 'परीक्षागुरु' और 'संयोगिता स्वयंवर' की गम्भीर आलोचना करके इस पद्धति को सम्पुष्ट किया।

(ix) द्विवेदीयुगीन आलोचना में साहित्य की सामाजिक पृष्ठभूमि का विशेष आग्रह है। साथ ही रचनाकार के काव्य-विकास का विवेचन भी तत्युगीन समीक्षा का एक महत्त्वपूर्ण प्रतिमान है जिसमें कृतिकार के कृतित्व-विश्लेषण का उद्देश्य अन्तर्निहित है। संस्कार, नैतिकता, वात्सल्य, राष्ट्रीयता जैसे विषयों तथा साहित्य और समाज के मध्य सम्बन्ध जैसे सवालों को आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनके समकालीन चिन्तकों ने अपनी समीक्षा में उन्नत और प्रौढ़ रूप में प्रस्तुत किया।

(x) आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के अतिरिक्त बाबू श्यामसुन्दरदास, माधवप्रसाद मिश्र, गोविन्द नारायण मिश्र, अध्यापक पूर्णसिंह, पद्मसिंह शर्मा, चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी', मिश्रबन्धु, जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी आदि द्विवेदीयुगीन प्रमुख आलोचक हैं। इन आलोचकों की शैली में प्रौढ़ता है, और कहीं भी अस्प्ष्टता दिखाई नहीं देती।

3.4.08. सारांश

द्विवेदीयुगीन साहित्य-सृजन का प्रेरक तत्त्व राष्ट्रीय-सांस्कृतिक नवजागरण था। नवजागरण ने साहित्य और समाज के अन्तराल को न्यून किया। नवजागरण प्रत्येक साहित्यिक विधा का अन्तःप्रवाह बना। द्विवेदीयुगीन साहित्य में शास्त्रीय रूढ़ियाँ टूटीं और रचना का मुख्य उद्देश्य व्यापक जनसमुदाय को प्रेरित एवं प्रभावित करना हो गया। काव्य के साथ ही कथा-साहित्य, विभिन्न गद्य-विधाएँ, साहित्यिक पत्रकारिता, महत्त्वपूर्ण कृतियों का हिन्दी अनुवाद एवं विशिष्ट विषयों पर आधारित ग्रन्थ-निर्माण द्वारा द्विवेदीयुग ने हिन्दी साहित्य को समृद्ध किया। हिन्दी साहित्य की व्याप्ति बढ़ी और वह शिष्ट समाज में प्रवेश का अधिकारी बना। परिष्कृत और उन्नत हिन्दी साहित्य का स्वर क्रमशः गम्भीर हुआ और उसमें दायित्वबोध उत्पन्न हुआ।

3.4.09. शब्दावली

आत्मोत्सर्ग	:	बलिदान
उत्कर्ष	:	उत्थान, विकास
इतिवृत्त	:	कथा
अवसान	:	समापन
घन	:	लोहा
अनल	:	आग

3.4.10. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

1. वर्मा, धीरेन्द्र, हिन्दी साहित्य, भारतीय हिन्दी परिषद्, प्रयाग.
2. द्विवेदी, आचार्य हजारीप्रसाद, हिन्दी साहित्य : उद्भव और विकास, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.
3. वार्ष्णेय, लक्ष्मीसागर, हिन्दी साहित्य का इतिहास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद.
4. शर्मा, रामविलास, महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.
5. अनूप, वशिष्ठ, हिन्दी साहित्य का अभिनव इतिहास, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी.

6. चतुर्वेदी, रामस्वरूप, हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद.
7. मिश्र, भगीरथ, हिन्दी साहित्य का परिचयात्मक इतिहास, राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा. लि., नयी दिल्ली.

3.4.11. सम्बन्धित प्रश्न

टिप्पणी लिखिए –

1. द्विवेदीयुगीन सामाजिक उपन्यास
2. द्विवेदीयुगीन प्रमुख कहानीकार
3. द्विवेदीयुगीन हिन्दी काव्य की सामान्य प्रवृत्तियाँ
4. द्विवेदीयुगीन अनूदित साहित्य
5. साहित्यिक पत्रकारिता और 'सरस्वती'

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. "भारतेन्दु युग में जिन काव्य-प्रवृत्तियों का सूत्रपात हुआ था, द्विवेदीयुग में उन्हीं प्रवृत्तियों को विकसित करते हुए नवजागरण का सन्देश दिया गया।" उक्त कथन की तार्किक विवेचना कीजिए।
2. "द्विवेदीयुगीन कथा-साहित्य में विषयगत वैविध्य एवं व्यापकत्व मिलता है।" उक्त कथन का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।

वस्तुषनिष्ठी प्रश्नय

1. द्विवेदीयुगीन हिन्दी काव्य की मुख्य प्रवृत्ति है –

(क) राष्ट्रीयता
(ख) राजनैतिक चेतना
(ग) सांस्कृतिक पुनरुत्थान
(घ) उपर्युक्त सभी

2. 'भारत-भारती' के रचनाकार हैं –

(क) आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी
(ख) मैथिलीशरण गुप्त
(ग) रामनरेश त्रिपाठी
(घ) श्रीधर पाठक

3. 'प्रियप्रवास' के रचनाकार हैं –
(क) रामनरेश त्रिपाठी
(ख) मैथिलीशरण गुप्त
(ग) अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'
(घ) उपर्युक्त में से कोई नहीं

4. 'द्विवेदीयुगीन प्रमुख कवि हैं–
(क) नाथूराम शर्मा 'शंकर'
(ख) मैथिलीशरण गुप्त
(ग) श्रीधर पाठक
(घ) उपर्युक्त सभी

5. बहुचर्चित उपन्यास 'अधखिला फूल' के रचयिता हैं –
(क) लज्जाराम शर्मा
(ख) किशोरीलाल गोस्वामी
(ग) ब्रजनन्दन सहाय
(घ) अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 4 : छायावाद युग : छायावादी काव्य और उसके समानान्तर विकसित गद्य-साहित्य

इकाई – 1 : छायावाद की पृष्ठभूमि, नामकरण, छायावाद के कवि और उनका काव्य

इकाई की रूपरेखा

4.1.0. उद्देश्य
4.1.1. प्रस्तावना
4.1.2. पृष्ठभूमि
 4.1.2.1. राजनैतिक पृष्ठभूमि
 4.1.2.2. सामाजिक पृष्ठभूमि
 4.1.2.3. सांस्कृतिक पृष्ठभूमि
 4.1.2.4. साहित्यिक पृष्ठभूमि
4.1.3. नामकरण
4.1.4. छायावाद के कवि और उनका काव्य
 4.1.4.1. जयशंकर प्रसाद
 4.1.4.2. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला
 4.1.4.3. सुमित्रानन्दन पंत
 4.1.4.4. महादेवी वर्मा
 4.1.4.5. छायावाद के अन्य कवि
4.1.5. बोध प्रश्न
4.1.6. सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

4.1.0. उद्देश्य

प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. छायावादी काव्य के अभिव्यंजना शिल्प की नवीनता, लाक्षणिकता, सूक्ष्मता और छायावादी काव्य की मूल प्रवृत्ति के प्रति अपनी समझ विकसित कर सकेंगे।

ii. 'छायावाद' नाम कैसे प्रयोग में आया, यह प्रचलित कैसे हुआ, किस तरह की रचनाओं के लिए छायावाद शब्द का प्रयोग किया गया, इन सभी सवालों की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

iii. छायावाद के कवियों और उनकी रचनाओं का परिचय प्राप्त कर सकेंगे।

iv. छायावाद के विषय में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, मुकुटधर पाण्डेय, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, डॉ॰ नगेन्द्र, प्रो॰ नामवर सिंह आदि आलोचकों ने क्या-क्या टिप्पणियाँ की हैं और उन टिप्पणियों का ऐतिहासिक महत्त्व क्या है ? इन सभी बिन्दुओं से परिचित हो सकेंगे।

4.1.1. प्रस्तावना

द्विवेदीयुग भाषा और साहित्य के अनुशासन का कालखण्ड रहा। द्विवेदी जी ने काव्य में ब्रजभाषा के स्थान पर खड़ीबोली को स्थापित किया और खड़ीबोली हिन्दी भाषा को परिमार्जित व परिष्कृत करने का अथक प्रयास किया। 'सरस्वती' के सम्पादन-काल में उन्होंने लेखकों को आदर्श भाषा लिखने हेतु प्रेरित किया। महावीरप्रसाद द्विवेदी ने रीतिकालीन शृंगारिक प्रवृत्तियों की भरपूर निन्दा की और कविता में सादगी, असलियत और जोश पर बल दिया। सन् 1900 ई. से सन् 1918 ई. तक के कालखण्ड को द्विवेदीयुग कहा जाता है। आगे चलकर द्विवेदीयुगीन इतिवृत्तात्मकता एवं स्थूलता के विरोध में नयी तरह की कविताओं का उदय हुआ जिसे छायावादी काव्य कहा गया। छायावादी कवि एक तरफ रीतिकालीन कविता की जड़ शास्त्रीयता, दरबारीपन, आलंकारिता से छूटने का प्रयास कर रहे थे तो दूसरी तरफ बांग्ला और अंग्रेज़ी की कविताओं से प्रभावित होकर लाक्षणिकता, प्रेम, शृंगार, दैहिक सूक्ष्म सौन्दर्यांकन, स्वातन्त्र्य चेतना और देश-प्रेम से आलोड़ित कविताएँ लिख रहे थे। सन् 1900 ई. में बदरीनाथ भट्ट, सन् 1914 ई. से 1918 ई. के मध्य मैथिलीशरण गुप्त और सन् 1917 ई. से 1920 ई. के मध्य मुकुटधर पाण्डेय की ऐसी कविताएँ सामने आईं जिन पर बांग्ला और अंग्रेज़ी की रोमांटिक कविताओं का असर दिखाई पड़ता है।

छायावाद के नामकरण को लेकर भी मुकुटधर पाण्डेय, रामचन्द्र शुक्ल, नन्ददुलारे वाजपेयी और डॉ॰ नगेन्द्र के अपने-अपने मत हैं। द्विवेदीयुग में कविता विषयप्रधान थी। श्रीधर पाठक आदि स्वच्छन्दतावादी कवियों ने इसे विषयीप्रधान बनाया और धीरे-धीरे कविता 'पर' से 'निज' को धारण करने लगी। स्थूलता का स्थान सूक्ष्मता ने ले लिया और कवियों की सौन्दर्य-दृष्टि में बड़ा परिवर्तन सम्भव हुआ। 'पल्लव' और 'परिमल' की भूमिका को छायावादी काव्य की प्रस्तावना के रूप में देखा जा सकता है जिसमें पुरातन जड़ रूढ़ियों की कारा से छूटने और व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की उद्घोषणा करने का संकल्प दिखाई पड़ता है। छन्दों के बन्धन से मुक्ति, सामाजिक रूढ़ियों से मुक्ति, ब्रजभाषा से मुक्ति, परतन्त्रता से मुक्ति यानी प्रत्येक बन्धन से मुक्ति की छटपटाहट दिखाई पड़ती है। 'जूही की कली' ऐसी ही प्रारम्भिक मुक्त छन्द की कविता है। छायावाद अपने प्रगीतों के लिए प्रसिद्ध है। गीत शैली में लिखी गई कविताएँ छायावाद के प्रबन्ध और मुक्तक दोनों काव्यरूपों में दिखाई पड़ती है। वैयक्तिक चेतना की अभिव्यक्ति के लिए गीत उपयुक्त माध्यम होते हैं। ये गीत भावावेगपूर्ण हैं। इन सभी प्रवृत्तियों और उनकी समस्त सम्भावनाओं का पुंजीभूत स्वरूप 'कामायनी' में दिखाई पड़ता है। जयशंकर प्रसाद, सुमित्रानन्दन पंत, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' और महादेवी वर्मा छायावाद के प्रमुख स्तम्भ कहे जाते हैं। जिस समय हिन्दी में छायावादी कविता रची जा रही थी ठीक उसी के समानान्तर हरिवंश राय बच्चन, नरेन्द्र शर्मा तथा रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' प्रेम और मस्ती भरा काव्य लिख रहे थे। बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' और भगवतीचरण वर्मा ने प्रेम और सौन्दर्य के अलावा राष्ट्रीय तथा जनकाव्य भी लिखा। इसके अलावा मैथिलीशरण गुप्त के 'भारत-भारती' का व्यापक प्रभाव भी कवियों पर देखा गया। पंत, सियाराम शरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' और सुभद्रा कुमारी चौहान जैसे कवि क्रान्ति-विद्रोह की भावना को उजागर कर रहे थे। सियाराम शरण गुप्त और

पंत जी गाँधीवाद से प्रभावित होकर देशराग गा रहे थे। 'छायावाद' इन सभी प्रवृत्तियों के समवेत रूप को धारण करने वाला कालखण्ड माना जाता है।

4.1.2. पृष्ठभूमि

वस्तुतः कोई भी रचनाकार अपने युगीन परिवेश, तत्कालीन साहित्यिक, सांस्कृतिक आन्दोलनों और अपने युग के महापुरुषों से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। प्रभावित होने और दूसरों को प्रभावित करने की सहज चेतना साहित्यकार की अपनी विशेषता होती है। छायावादी काव्य के प्रेरणा-स्रोत कई हैं किन्तु उनमें तत्कालीन परिवेश – राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक व सांस्कृतिक पृष्ठभूमि की भूमिका अति महत्त्वपूर्ण है।

4.1.2.1. राजनैतिक पृष्ठभूमि

सन् 1857 ई. से उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक का समय राष्ट्रीय-सामाजिक जागरण का समय था। सन् 1885 ई. में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का जन्म हुआ, जिसका मुख्य उद्देश्य था – विदेशी शासन से मुक्ति और स्वशासन की स्थापना। प्रारम्भ में कांग्रेस उदार विचार वालों की संस्था थी किन्तु कालान्तर में लोकमान्य बालगंगाधर तिलक, लाला लाजपत राय और विपिनचंद्र पाल जैसे नेताओं का उदय हुआ। लोकमान्य तिलक ने यह शंखनाद किया कि "स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है और हम उसे प्राप्त करके ही रहेंगे।" इन नेताओं की वजह से देश में अपूर्व राष्ट्रीय चेतना का निर्माण हुआ जिसका प्रभाव तत्कालीन भारतीय साहित्य पर पड़ा और छायावादी काव्य भी इस प्रभाव से अछूता न रह सका। एक तरफ सामन्तवाद के ढहते अवशेष थे तो दूसरी तरफ पूँजीवाद और अंग्रेज़ी सभ्यता का विस्तार हो रहा था। एक तरफ पराधीनता थी तो दूसरी तरफ आज़ादी का सपना। एक तरफ रूढ़ियों की अन्ध परम्परा थी तो दूसरी तरफ नयी वैज्ञानिक सोच का उदय हो रहा था। एक तरफ कृषि पर निर्भर संयुक्त परिवार थे तो दूसरी तरफ पूँजीवादी व्यवस्था व एकल परिवारों की संकल्पना थी। इनके बीच द्वन्द्व था, संघर्ष था। प्रगतिरोधी शोषक व्यवस्था के खिलाफ़ एक व्यापक जनआन्दोलन जीवन के प्रत्येक स्तर पर चल रहा था। सन् 1857 ई. की क्रान्ति विदेशी शासन को उखाड़ फेंकने का पहला सशस्त्र प्रयास थी। सन् 1905 ई. में लॉर्ड कर्जन के 'बंग-भंग' के निर्णय ने विरोध की आग को और भड़का दिया। बांग्ला के प्रसिद्ध उपन्यासकार बंकिमचंद्र चटर्जी ने इसी समय 'वंदे मातरम्' गीत की रचना की जो 'बंग-भंग' के अवसर पर राष्ट्रीय गीत बना। ब्रिटिश शासन की निर्मम व कठोर नीतियों के खिलाफ़ ईंट का जवाब पत्थर से देने के लिए 'आजाद हिंद फौज' आदि क्रान्तिकारी सैन्य दलों की स्थापना होने लगी। चंद्रशेखर आज़ाद, राजगुरु, सुखदेव, भगतसिंह सुभाषचंद्र बोस, अशफ़ाक़ उल्ला ख़ाँ, राजेन्द्र लाहिड़ी, खुदीराम बोस आदि इस आयोजन के अगुवा बने। उन्होंने ईंट का जवाब पत्थर से देने के लिए हिंसात्मक उपायों में विश्वास व्यक्त किया। 'रॉलेट एक्ट' जैसे दमनकारी कानून के बाद 'जालियाँवाला बाग हत्याकाण्ड' ने भारतीय जनमानस को भीतर से झकझोर दिया। कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ टैगोर ने इस दुःखद घटना के प्रति अपना आक्रोश व्यक्त किया और 'सर' की उपाधि लौटा दी। छायावादी काव्य का यह प्रारम्भिक काल था। मोटे तौर पर सन् 1918 ई. से सन् 1936 ई. तक के कालखण्ड को छायावादी युग माना जाता है। सन् 1920 ई. से सन् 1935 ई. तक का समय 'असहयोग' एवं 'सविनय अवज्ञा' आन्दोलनों का

समय था। सन् 1920 ई. के कांग्रेस कलकत्ता अधिवेशन में गाँधी जी के अहिंसात्मक आन्दोलन की नीति को स्वीकार कर लिया गया। गाँधी जी की अपील पर विद्यार्थियों ने सरकारी विद्यालयों का परित्याग किया। देशबन्धु चितरंजन दास, मोतीलाल नेहरु आदि वकीलों ने अपनी वकालत छोड़ दी। विदेशी वस्त्रों की होली जलाई गई, स्वदेशी वस्तुओं को अपनाने पर बल दिया गया। कारावास सम्मान का विषय बन गया। राजनीति के क्षेत्र में पहली बार गाँधी जी ने आध्यात्मिक अस्त्रों, नैतिक ऊर्जा और सांस्कृतिक चेतना से सम्पन्न राष्ट्रीयता के प्रयोग किए। तत्कालीन छायावादी काव्य में राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना का स्वर सुना जा सकता है। जयशंकर प्रसाद के प्रगीत – "अरुण यह मधुमय देश हमारा। जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा।" में इसी राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना की अनुगूँज सुनाई पड़ती है। सन् 1928 ई. में सायमन-कमीशन का बहिष्कार किया गया। 31 दिसंबर 1929 ई. को कांग्रेस के तत्कालीन सभापति पं॰ जवाहरलाल नेहरु ने पूर्ण स्वाधीनता की माँग की। 26 जनवरी 1930 ई. को कांग्रेस ने प्रथम स्वाधीनता दिवस मनाया, देशवासी गाँधी जी के पद-चिह्नों पर चल पड़े। चरखा कातना आत्मशुद्धि का साधन तो था ही इससे खादी वस्त्रोद्योग को बढ़ावा मिला। गाँधी जी द्वारा अनुशंसित त्याग, तपस्या, आत्मशुद्धि से युक्त प्राकृतिक जीवन की अभिव्यक्ति छायावादी काव्य में भी हुई है। जयशंकर प्रसाद कृत 'चन्द्रगुप्त' नाटक में दण्डायन कहता है – "मैं कन्द-मूल-फल खाकर अंजलि से जलपान कर जीवित रह लूँगा, तृण-शय्या पर विश्राम कर लूँगा। किसी से कुछ लेने की प्रतिस्पर्धा से बढ़कर दूसरा दम्भ नहीं।" " ... भूमा के सुख का जिसे आभास मात्र हो जाए उसे ये नश्वर चमकीले प्रदर्शन अभिभूत नहीं कर सकते।" (– चन्द्रगुप्त, जयशंकर प्रसाद, पृ. 17)

4.1.2.2. सामाजिक पृष्ठभूमि

बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध का भारत सामाजिक रूप से भी परतन्त्र था। समाज अनेक कुप्रथाओं के मकड़जाल में उलझा हुआ था। एक तरफ मध्यकालीन जीवनमूल्य ध्वस्त हो रहे थे तो दूसरी ओर पाश्चात्य शिक्षा व संस्कृति के प्रभावस्वरूप विरोध का स्वच्छन्दतावादी स्वर भी उमड़ रहा था। बावजूद इसके भारतीय समाज पूर्णरूपेण उनसे मुक्त नहीं हो पाया था। छायावादी काव्य में मुक्ति की छटपटाहट का स्वर सुना जा सकता है। निराला अपनी कविता (वर दे, वीणावादिनी वर दे) में माँ सरस्वती से प्रार्थना करते हैं कि –

वर दे, वीणावादिनि वर दे!
प्रिय स्वतंत्र-रव अमृत-मंत्र नव
भारत में भर दे!

काट अंध-उर के बंधन-स्तर
बहा जननि, ज्योतिर्मय निर्झर;
कलुष-भेद-तम हर प्रकाश भर
जगमग जग कर दे!

नव गति, नव लय, ताल-छंद नव
नवल कंठ, नव जलद-मन्द्ररव;

नव नभ के नव विहग-वृंद को
नव पर, नव स्वर दे !

वर दे, वीणावादिनि वर दे !

अंध-उर के बंधन-स्तर को काटे बिना, अपनी चेतना को मुक्त किए बिना मुक्ति नहीं मिलती। यह सत्य निराला से बेहतर कौन जान सकता था। उन्होंने 'जागो फिर एक बार' कविता के माध्यम से सोये हुए भारतीयों के मन में आजादी की चेतना जगायी। महादेवी वर्मा अपने रूमानी नव रहस्यवादी गीतों के लिए प्रसिद्ध रही हैं। उन्होंने भी स्वतन्त्रता सेनानियों व समस्त भारतवासियों को अपने गीतों के माध्यम से जगाने का काम किया –

टकरायेगा नहीं आज उद्धत लहरों से,
कौन ज्वार फिर तुझे पार तक पहुँचायेगा ?

बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में अंग्रेज़ों ने जिस शिक्षा प्रणाली का सूत्रपात किया, जो नूतन वैज्ञानिक उन्नति हुई उसका सीधा प्रभाव भारतीय जनमानस पर पड़ा। उस समय में 'ब्रह्मसमाज' – राजा राम मोहन राय (1928), 'प्रार्थना-समाज' – केशवचंद्र सेन (1864), 'आर्यसमाज' – स्वामी दयानन्द सरस्वती, 'रामकृष्ण मिशन' – विवेकानन्द, 'थियोसोफिकल सोसाइटी' – एनी बेसेन्ट आदि सामाजिक-आध्यात्मिक संस्थाओं व महापुरुषों के आचरण व सिद्धान्तों का व्यापक प्रभाव भारतीय जनमानस पर पड़ा। इस प्रभाव की प्रतिच्छाया छायावादी काव्य पर भी देखी जा सकती है। 'सती-प्रथा और 'विधवा-विवाह' तब एक विकट समस्या थी जिसने स्त्रियों की मुक्ति-चेतना को क्षत-विक्षत कर दिया था। राजा राममोहन राय के सत्प्रयासों से सतीप्रथा नियामक कानून पारित हुआ। 'विधवा' के प्रति निराला की यह सह अनुभूति व करुणा अकारण नहीं है –

वह इष्टदेव के मन्दिर की पूजा-सी
वह शांत भाव में लीन दीपशिखा-सी ...

– 'विधवा', निराला, राग-विराग, पृ. 34

निराला के काव्य में युगीन प्रभाव विविध रूपों में अभिव्यक्त हुआ है। कहीं वे "नव गति, नव लय, ताल-छंद नव, नवल कंठ, नव जलद-मन्द्ररव; नव नभ के नव विहग-वृंद को, नव पर, नव स्वर दे !" के माध्यम से नवनिर्माण की प्रेरणा दे रहे हैं तो कहीं "सिंहों की माँद में आया है आज स्यार।" कहकर भारतीयों का मनोबल बढ़ा रहे हैं।

4.1.2.3. सांस्कृतिक पृष्ठभूमि

भारतीय राजनीति में गाँधी जी और भारतीय साहित्य में रवीन्द्रनाथ टैगोर का जनमानस पर व्यापक प्रभाव पड़ा। टैगोर की सौन्दर्य अन्वेषी दृष्टि, प्रकृति-प्रेम, उदात्त नारी धारणा, आध्यात्मिक चेतना, राष्ट्रीयता, मानवतावाद और प्रगीतात्मक काव्य-शैली ने भारतीय साहित्यकारों को नवीन दिशा प्रदान की। रवीन्द्र के सम्पूर्ण काव्य में

सूक्ष्म सौन्दर्यबोध के दर्शन होते हैं। उनके प्रकृति-प्रेम ने उसकी सौन्दर्यानुभूति को और भी तीव्र बना दिया। उनके सभी प्रकृति-चित्रों में रोमांटिक हृदय की विस्मय-भावना एवं शिशु-सुलभ जिज्ञासा की अभिव्यक्ति हुई है। प्रसाद, पंत, निराला और महादेवी वर्मा – इन चारों छायावादी कवियों की भावभूमि, विचारधारा और अभिव्यंजना शैली पर रवीन्द्र का गहन प्रभाव पड़ा। प्रसाद-कृत 'कानन-कुसुम', 'चित्राधार', 'आँसू' आदि काव्य-रचनाओं में प्रेम व सौन्दर्य की जो गहनता, तरलता एवं मधुरता दिखाई पड़ती है, उस पर रवीन्द्र का प्रभाव लक्षित होता है। पंत जी की भाव-गरिमा, सौन्दर्य-बोध, विश्व-मानवतावाद और आध्यात्मिक चेतना पर भी रवीन्द्र का प्रभाव दिखाई पड़ता है। निराला के काव्य में सांस्कृतिक चेतना, विराट् कल्पना-वैभव, नारी के प्रति उदात्त दृष्टिकोण और मानवतावाद के प्रेरणा-स्रोत रवीन्द्र ही रहे हैं। यहाँ तक कि रोमांटिक्युगीन अंग्रेज़ी कवियों का जो प्रभाव छायावादी कवियों ने ग्रहण किया, वह भी प्रत्यक्ष रूप से ग्रहण न करके रवीन्द्र के माध्यम से ही ग्रहण किया। रवीन्द्र रोमांटिक कवि वर्ड्सवर्थ की आध्यात्मिक चेतना, शेली के विश्व-मानवतावाद एवं कीट्स के सौन्दर्य-बोध से काफी हद तक प्रभावित थे। पहले रवीन्द्र ने रोमानी कवियों से प्रेरणा ग्रहण की फिर छायावादी कवियों ने रवीन्द्र के माध्यम से उनका प्रभाव ग्रहण किया।

4.1.2.4. साहित्यिक पृष्ठभूमि

छायावादी काव्य एक तरफ स्वतन्त्रता आन्दोलन की पृष्ठभूमि और सामाजिक सुधार की प्रक्रिया से प्रभावित हो रहा था तो दूसरी तरफ सांस्कृतिक नवजागरण की दिशा में भी अग्रसर हो रहा था। छायावादी कवियों को प्रत्येक स्तर पर मुक्ति चाहिए थी – छन्द के बन्धनों से मुक्ति, कुरीतियों से मुक्ति, मानसिक पराधीनता से मुक्ति, नारी-मुक्ति, आत्म-मुक्ति। और इस मुक्ति की युक्ति गाँधी, टैगोर, राजा राममोहन राय, दयानन्द सरस्वती और विवेकानन्द आदि के पास थी। इस तरह नवजागरण की चेतना का छायावादी काव्य पर बहुविध प्रभाव पड़ा। पूर्वमध्यकालीन काव्य में सन्त स्वभाव और देवत्व पर बल था, आदर्श जीवन-पद्धति की खोज थी। उत्तरमध्यकालीन काव्य में जो रीतिमुक्त कवियों – घनानन्द, आलम, बोधा आदि कवियों की एक परम्परा थी, वही आगे चलकर आधुनिककाल में स्वच्छन्दतावादी काव्यधारा का रूप ग्रहण कर सकी। श्रीधर पाठक ('काश्मीर सुषमा') इस धारा के अग्रणी कवि हुए। रामनरेश त्रिपाठी ('मिलन', 'पथिक', 'स्वप्न') इसी स्वच्छन्दतावादी काव्यधारा को आगे बढ़ा रहे थे। सांस्कृतिक नवजागरण के प्रभावस्वरूप आत्म-प्रसार हुआ, आत्म-अभिव्यक्ति को प्रधानता मिली, 'स्व' को महत्त्व मिला। किन्तु छायावादी कवियों का 'स्व' इतना व्यापक था कि उसमें परिवार, ग्राम, नगर, प्रदेश, राष्ट्र और सम्पूर्ण विश्व के प्रति आत्मीयता का भाव समाहित था। नवजागरण के फलस्वरूप शिक्षित वर्ग सामन्ती जीवनशैली की बुराइयों और विकास-विरोधी स्थितियों को समझ सका और सामन्ती हितों के स्थान पर मानवतावादी दृष्टिकोण को अपनाने लगा। नवजागरण ने देश-प्रेम की भावना जाग्रत की, स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति को बढ़ावा दिया और नवीन मानवीय मूल्यों की स्थापना पर बल दिया। सांस्कृतिक नवजागरण के प्रभावस्वरूप नारी के प्रति गतानुगतिक दृष्टिकोण में भी परिवर्तन आया। नारी के आन्तरिक सौन्दर्य का उद्घाटन होने लगा और उसे देवी, माँ, सहचरी आदि विविध रूपों में साहित्य में स्थान मिला।

भारतीय नवोत्थान की एक मुख्य विशेषता अतीत की गौरव-गाथा का अनुसंधान था। सांस्कृतिक उन्नायकों ने अतीत का शोध करके उसके उपयोगी अंशों को समाजोपयोगी बनाकर सामने रखा। छायावादी साहित्य में भी स्वर्णिम अतीत का स्मरण और गौरव-गान किया गया है। यह कार्य सर्वाधिक जयशंकर प्रसाद के नाटकों के माध्यम से सम्भव हुआ। भारतीय सांस्कृतिक नवजागरण से प्रेरणा प्राप्त कर हिन्दी साहित्य में जिस रोमांटिक चेतना का उदय हुआ उसने हिन्दी साहित्य के आधुनिककाल के तीन चरणों को प्रभावित किया। भारतेन्दु युग में इसका उदय हुआ, द्विवेदीयुग में यह प्रवृत्ति क्रमशः विकसित हुई और छायावादी काव्य में यह प्रवृत्ति अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच गई।

छायावादी काव्य की पृष्ठभूमि में सांस्कृतिक नवजागरण की विविध भंगिमाओं का विशेष योग है। इसके अतिरिक्त अंग्रेज़ी साहित्य के रोमांटिक काव्यान्दोलन का प्रभाव भी छायावादी काव्य पर पड़ा। रोमांटिसिज़्म के विविध रूप, वन्य जीवन के प्रति प्रबल आकर्षण, प्रकृति-प्रेम, देश-प्रेम, आत्मानुभूति की अविकल अभिव्यक्ति, निजता का प्रसार, रहस्य-भावना सभी कुछ छायावादी काव्य में किन्हीं बदले रूपों में परिलक्षित किए जा सकते हैं। इतना ही नहीं, अभिव्यंजना-शिल्प पर भी इस प्रभाव को लक्षित किया जा सकता है। बावजूद इसके छायावादी कवियों ने इस प्रभाव को अपनी संस्कृति के अनुरूप साहित्य में सर्जनात्मक उपयोग कर लिया। यह विशेषता उनके रचनात्मक सामर्थ्य की द्योतक है। छायावादी कवियों ने प्रकृति से जो इतना गहरा रिश्ता जोड़ा इसके पीछे भी तत्कालीन सामाजिक-सांस्कृतिक-साहित्यिक परिवर्तनकारी, प्रगतिशील एवं मानवतावादी आन्दोलनों की भूमिका रही है। प्रकृति-प्रेम एवं वन्य जीवन के प्रति आकर्षण स्वच्छन्दतावाद की मुख्य प्रवृत्ति रही है और स्वच्छन्दतावाद के उदय के पीछे तत्कालीन सांस्कृतिक नवजागरण की सशक्त भूमिका रही है। इतना ही नहीं, आत्म-उन्नयन व आत्म-प्रसार, जो भारतीय संस्कृति की मूल विशेषता रही है, की अभिव्यक्ति के लिए प्रकृति के मुक्त प्रांगण से बढ़कर और कौन-सा आश्रय होगा। यही वजह है कि छायावादी कवियों ने प्रकृति से रागात्मक सम्बन्ध जोड़ा और आदिम वन्य-सौन्दर्य के शत-सहस्त्र चित्र उकेरे।

इस तरह छायावादी काव्य पर तत्कालीन परिवेश का व्यापक प्रभाव पड़ा है। छायावादी कवियों ने इस प्रभाव को आत्मसात् किया और तत्युगीन जनमानस की आशा-आकांक्षा, हर्ष-विषाद को नूतन रूपों व भंगिमाओं में प्रस्तुत किया।

4.1.3. नामकरण

'छायावाद' शब्द सन् 1920 ई. तक प्रचलन में आ चुका था। इसका प्रयोग सर्वप्रथम मुकुटधर पाण्डेय ने किया था। मुकुटधर पाण्डेय ने सन् 1920 ई. की 'श्रीशारदा' (जबलपुर) में 'हिन्दी में छायावाद' शीर्षक से चार निबन्धों की एक लेखमाला छपवायी थी। इस निबन्ध से पहले भी छायावाद पर कुछ टिप्पणियाँ मिलती हैं। लेखमाला के प्रथम निबन्ध 'कवि स्वातन्त्र्य' में मुकुटधर जी ने रीति-ग्रन्थों की परतन्त्रता से मुक्त होकर कविता में भाव, भाषा, छन्द आदि में मौलिकता की आवश्यकता पर जोर दिया। दूसरे निबन्ध 'छायावाद क्या है ?' में छायावाद को 'मिस्टिसिज़्म' से जोड़कर देखा गया है – "छायावाद एक ऐसी मायामय सूक्ष्म वस्तु है कि शब्दों

द्वारा उसका ठीक-ठीक वर्णन करना असम्भव है। ऐसी रचनाओं में शब्द अपने स्वाभाविक मूल्य को खोकर सांकेतिक चिह्न मात्र हुआ करते हैं।" (– छायावाद, नामवर सिंह, पृ. 11)

मुकुटधर जी ने छायावाद की मूल भावना आत्मनिष्ठ अन्तर्दृष्टि को पहचान लिया था। लेखमाला के दो निबन्धों का एक ही शीर्षक है – 'हिन्दी में छायावाद'। 'सरस्वती' पत्रिका में छायावाद का सर्वप्रथम उल्लेख सन् 1921 ई. के अंक में मिलता है। सुशील कुमार ने 'हिन्दी में छायावाद' एक संवादात्मक निबन्ध लिखा था जिसमें सुशीला देवी, हरिकिशोर बाबू, रामनरेश जोशी और कवि सम्राट् पंत जी ने संवाद किया है। इसमें जोशी जी के एक छायाचित्र पर बात होती है जिसके नीचे लिखा है – 'छाया'। हरिकिशोर बाबू के अनुसार वह निर्मल ब्रह्म की विशद् छाया है। जोशी जी उसमें अनन्त की अस्पष्टता देखते हैं और पंत जी के अनुसार छायावाद का प्रधान गुण है अस्पष्टता। इस तरह एक खास भाव-भंगिमा से युक्त कविताओं के लिए हिन्दी छायावाद और अंग्रेज़ी मिस्टिसिज़्म शब्द चल पड़े। महावीरप्रसाद द्विवेदी के अनुसार अन्योक्ति पद्धति ही छायावाद है। सन् 1929 ई. में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का 'काव्य में रहस्यवाद' निबन्ध पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ। पंत का 'पल्लव' तब तक निकल चुका था। शुक्ल जी ने 'पल्लव' की उन कविताओं को केन्द्र में रखकर कहा कि अज्ञात के प्रति जिज्ञासा ही सच्ची रहस्य-भावना है। ईसाई मत में उन्हें छायावाद अर्थ देने वाला एक 'फैंटसमैटा' शब्द मिल गया। इस आधार पर शुक्ल जी ने छायावाद को नाम और भावधारा दोनों दृष्टियों से यूरोप का प्रभाव माना। जिस तरह महावीरप्रसाद द्विवेदी छायावाद को अन्योक्ति पद्धति समझते थे उसी तरह आचार्य शुक्ल उसे शैली मानते थे। बाद के आलोचकों ने स्थापित किया कि भाव के क्षेत्र में जो रहस्यवाद है वही शैली में लाक्षणिक-वक्रता, अन्योक्ति-विधान, अप्रस्तुत योजना आदि रूपों में व्यक्त होता है। इस समन्वित रूप को प्रसाद जी ने 'रहस्यवाद' नाम दिया और आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने छायावाद। 'हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी' नामक पुस्तक के 'महादेवी वर्मा' शीर्षक निबन्ध में वाजपेयी जी ने लिखा है – "मानव अथवा प्रकृति के सूक्ष्म किन्तु व्यक्त सौन्दर्य में आध्यात्मिक छाया का भान मेरे विचार से छायावाद की एक सर्वमान्य व्याख्या हो सकती है।" इस तरह वाजपेयी जी की आध्यात्मिक छाया शुक्ल जी का 'फैंटसमेटा' या छायाभास ही है – केवल इस अन्तर के साथ कि उसमें धार्मिक स्थूलता नहीं है। इस परिभाषा की वजह से वाजपेयी जी ने प्रसाद और निराला की उन छायावादी कविताओं को छोड़ दिया जिनमें स्थूल सौन्दर्य का चित्रण था।

कुल मिलाकर यह कि सुशील कुमार की 'अस्पष्टता', मुकुटधर पाण्डेय की 'आध्यात्मिकता', आचार्य द्विवेदी का 'रहस्य', शुक्ल जी का 'आध्यात्मिक छायाभास', वाजपेयी जी का 'आध्यात्मिक छाया का भान' और नगेन्द्र का 'स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह' सब एक ही चिन्तन-धारा के अलग-अलग बिन्दु हैं। छायावादी कविताओं के लिए पहले 'मिस्टिसिज़्म' शब्द आया फिर रोमैंटिसिज़्म। शुक्ल जी ने रोमेंटिसिज़्म का हिन्दी अनुवाद स्वच्छन्दतावाद किया और श्रीधर पाठक, रामनरेश त्रिपाठी आदि को स्वच्छन्दतावादी कवि कहा। इस तरह प्रसाद, निराला, पंत तथा महादेवी वर्मा की कविताओं के लिए 'रहस्यवाद', 'छायावाद' तथा 'स्वच्छन्दतावाद' शब्द आए। 'रहस्यवाद' अज्ञात की जिज्ञासा है, 'छायावाद' चित्रण की सूक्ष्मता है और 'स्वच्छन्दतावाद' प्राचीन रूढ़ियों से मुक्ति की आकांक्षा। छायावादी काव्य में ये तीनों विशेषताएँ समाहित हैं।

इसलिए प्रसाद, पंत, निराला और महादेवी की सन् 1918 ई. से सन् 1936 ई. तक के बीच लिखी गई समस्त कविताओं के लिए 'छायावाद' शब्द ही सर्वस्वीकृत है।

4.1.4. छायावाद के कवि और उनका काव्य

छायावाद का आरम्भ सन् 1918 ई. और अन्त सन् 1936 ई. में माना जाता है। सन् 1918 ई. को छायावाद की आरम्भिक सीमा मानने का कारण यह है कि छायावादी पद्धति की रचनाएँ इसके आस-पास प्रकाशित होने लगी थी। निराला की 'जूही की कली' (1916) के अतिरिक्त पंत की 'पल्लव' की कुछ कविताओं की रचना भी सन् 1920 ई. के आस-पास हो चुकी थी। सन् 1935 ई. में 'कामायनी' का प्रकाशन हुआ। पंत के 'युगान्त' (1936) और निराला की अनामिका (1938) में अनेक ऐसी रचनाएँ संकलित हैं जो छायावाद की रूमानियत से आगे बढ़कर यथार्थ के निकट आने का प्रयास कर रही थीं। सन् 1936 ई. के आस-पास छायावादी काव्यधारा क्षीण होकर एक नये प्रकार के काव्य के आगमन की सूचना दे रही थी। इसलिए सन् 1936 ई. को छायावाद युग की आखिरी सीमा माना जा सकता है।

वस्तुतः छायावादी काव्य रति भाव की विवृत्ति का काव्य है। छायावाद की प्रणय अनुभूति पर रीतिकालीन शृंगार-चित्रण का बहुत प्रभाव है किन्तु अभिव्यंजना की सूक्ष्मता, कल्पना की विराटता और अनुभूति की प्रगाढ़ता इसे रीतिकालीन शृंगारिक कविताओं से अलग एक विशिष्ट स्थान पर लाकर खड़ा कर देती है। काव्यशास्त्रीय मूल्यों की दृष्टि से छायावादी काव्य रससिद्धान्त के अनुरूप है और दार्शनिक दृष्टि से कर्मवाद, वेदान्त, शैव दर्शन, अद्वैतवाद आदि सिद्धान्तों को आधार बनाकर चलता है। द्विवेदीयुगीन काव्य विषयनिष्ठ, वर्णनप्रधान और स्थूल था। इसके विपरीत छायावादी काव्य व्यक्तिनिष्ठ और कल्पनाप्रधान है। छायावादी कवियों ने मनोजगत् की गहराई को उर्वर कल्पनाशक्ति के सहारे व्यक्त किया है इसीलिए उनके प्रतीक और बिम्ब सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होते चले गए हैं और अभिव्यंजना पद्धति विशिष्ट और सांकेतिक होती चली गई है। छायावादी कवियों ने प्रधान रूप से प्रणय की अनुभूति को व्यक्त किया है। प्रणयानुभूति की अभिव्यक्ति लोक सामान्य स्तर पर हुई है। छायावादी काव्य में अनुभूति और सौन्दर्य के स्तर पर मानव और प्रकृति के भावी और रूपों का तादात्म्य दिखाई देता है। प्रसाद की अनुभूति शैव दर्शन में परिणत होती चली जाती है। निराला अद्वैत और भक्ति के क्षेत्र में साधना करते दिखाई देते हैं। पंत सृष्टि में व्याप्त मूल अक्षर सत्य को सुन्दर रूप में उद्घाटित करते हैं और महादेवी निराकार सर्वव्यापक प्रिय की भावना को ही काव्य का प्राण मानती हैं। इस तरह आध्यात्मिकता के स्तर पर सृष्टि एवं ब्रह्म के अखण्ड सौन्दर्य, आनन्द को स्वीकार करने की वजह से कर्मवाद से जुड़ जाती है। इसलिए यह काव्य निराशा और अकर्मण्यता के स्थान पर आशा, आत्म-विश्वास और कर्मवाद से जुड़ जाता है। काव्य-रूपों की दृष्टि से भी छायावादी काव्य अत्यन्त समृद्ध है। एक तरफ अगर गीतों, प्रगीतों एवं मुक्तछन्द की कविताओं की अधिकता है तो दूसरी तरफ 'आँसू' एवं 'तुलसीदास' जैसे खण्डकाव्य भी मिलते हैं। 'कामायनी' महाकाव्य में छायावादी संवेदना अपनी समग्रता में मूर्तिमान हुई है। इसके अतिरिक्त 'प्रलय की छाया', 'राम की शक्तिपूजा' 'सरोजस्मृति' और 'परिवर्तन' जैसी लम्बी कविताएँ भी मिलती हैं। अभिव्यंजना की सांकेतिकता व वक्रता छायावादी काव्य शैली का वैशिष्ट्य है।

छायावादी काव्य प्रेम और सौन्दर्य का काव्य है । जहाँ प्रेम होगा वहाँ युद्ध भी होगा, संयोग भी होगा, वियोग भी होगा, आनन्द भी होगा, विषाद भी होगा, वैराग्य भी होगा, पौरुष भी होगा, लज्जा भी होगी । छायावादी काव्य में प्रेम कई रूपों में व्यक्त हुआ है । मानवीय प्रेम, सामाजिक-प्रेम, राष्ट्रीय प्रेम, ईश्वरीय प्रेम आदि प्रेम के सभी रूप यहाँ विद्यमान हैं । ब्रह्म का अखण्ड सौन्दर्य पूरी सृष्टि में छाया हुआ है । नारी देह का सौन्दर्य, प्रकृति का सौन्दर्य, आन्तरिक सौन्दर्य का आभास इन कवियों को बार-बार आकर्षित करता है । सौन्दर्य के प्रति इस प्रबल आकर्षण से व्युत्पन्न रतिभाव को समग्रता में उद्‌घाटित करना छायावादी काव्य की मूल प्रवृत्ति है । इसके लिए उन्होंने निम्नलिखित काव्यगत उपादानों का सहारा लिया है –

(i) कल्पना की ऊँची उड़ान
(ii) नवीन प्रतीकों व बिम्बों की सर्जना
(iii) मानवीकरण की विशेष प्रवृत्ति
(iv) संगीतात्मकता, गीतात्मकता, लय, प्रवाह, ध्वनि या नाद-सौन्दर्य का संयोजन।
(v) कोमलकान्त पदावली का प्रयोग
(vi) लाक्षणिक वक्रता
(vii) सांकेतिकता आदि।

4.1.4.1. जयशंकर प्रसाद

जयशंकर प्रसाद (सन् 1890 ई. – सन् 1937 ई.) का जन्म काशी के एक सम्पन्न घराने में हुआ जो सुँघनी साहु के नाम से प्रसिद्ध था । इन्होंने आठवीं कक्षा तक शिक्षा पाने के बाद घर पर ही संस्कृत, हिन्दी और उर्दू सीखी किन्तु बाद में खड़ीबोली में कविता करने लगे । कवि होने के साथ-साथ ये गम्भीर चिन्तक भी थे । 'कामायनी' में इन्होंने यन्त्र और तर्क पर आधारित सभ्यता के खतरों से आगाह किया है और साथ-साथ शैवदर्शन की अभिव्यक्ति भी की है । इस प्रकार प्रसाद में परम्परा और आधुनिकता का मणिकांचन संयोग दिखाई पड़ता है। इनकी काव्य-रचनाएँ हैं – 'उर्वशी' (1909) 'वन मिलन' (1909), 'प्रेमराज्य' (1909), 'अयोध्या का उद्धार' (1910), 'शोकोच्छवास' (1910), 'बभ्रुवाहन' (1911), 'कानन-कुसुम' (1913) 'प्रेमपथिक' (1913), 'करुणालय' (1913), 'महाराणा का महत्त्व' (1914), 'झरना' (1918), 'आँसू' (1925), 'लहर' (1933) और 'कामायनी' (1935)।

'प्रेमपथिक' की रचना पहले ब्रजभाषा में की गई थी कालान्तर में उसे खड़ीबोली में रूपान्तरित कर दिया गया । छायावादी प्रवृत्तियों के दर्शन सर्वप्रथम 'झरना' (1918) में होते हैं जहाँ कवि मनोजगत् की सूक्ष्म से सूक्ष्म हलचल को अपनी कल्पना के सहारे व्यक्त करता है । 'आँसू' का आरम्भ कवि की विरह-वेदना की अभिव्यक्ति से हुआ है –

इस करुणा कलित हृदय में
अब विकल रागिनी बजती
क्यों हाहाकार स्वरों में
वेदना असीम गरजती ?

बाद में यही वेदना व्यक्तिगत परिधि को पार कर विश्व-कल्याण, विश्व-करुणा में पर्यवसित हो जाती है। आँसू एक स्मृतिकाव्य है जिसके केन्द्र में है विरह-वेदना, किन्तु प्रसाद की वेदनानुभूति व्यक्तिगत नैराश्य से निकलकर विश्व-वेदना के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेती है। 'लहर' में प्रसाद की गीतकला का उत्कृष्ट रूप दिखाई पड़ता है। इन गीतों में कहीं तो प्राकृतिक सौन्दर्य है तो कहीं प्रणय की अनुभूति, कहीं करुणा की अभिव्यक्ति है तो कहीं रहस्यवादी संकेत दिखाई देते हैं। 'शेरसिंह का शस्त्र-समर्पण' 'पेशोला की प्रतिध्वनि' और 'प्रलय की छाया' में कवि ने मुक्त छन्द में ऐतिहासिक प्रसंगों की शक्तिशाली और मार्मिक अवतारणा की है। 'कामायनी' प्रसाद की अन्तिम कृति है। इसका कथानक पौराणिक आख्यान पर आधारित है जिसके अनुसार मनु और श्रद्धा के संयोग से मानव सभ्यता का प्रवर्तन होता है फिर तर्क-बुद्धि आश्रित भौतिकप्रधान सभ्यता विकसित होती है जो अपने चरम पर पहुँचकर युद्ध को अनिवार्य बना देती है। युद्ध की आग, भोग की अतिशयता, अहं और हठ के प्रलय-प्रवाह में सबकुछ विनष्ट हो जाता है। मनु की मनोदशा ऐसी होती है कि –

हिमगिरी के उत्तुंग शिखर पर
बैठ शिला की शीतल छाँह
एक पुरुष भीगे नयनों से
देख रहा था प्रलय प्रवाह

कवि ने मनु आदि के माध्यम से मानव मात्र के मनोगत के विविध पक्षों का चित्रण किया है। 'कामायनी' में प्रकृति, यन्त्र और मानव इन तीनों में सामंजस्य ज्ञान, क्रिया, इच्छा के बीच सामंजस्य स्थापित करने पर बल दिया गया है। इस सामंजस्य से ही आनन्द की सृष्टि होगी ऐसा कवि का विश्वास है।

4.1.4.2. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला

निराला का जन्म महिषादल (बंगाल) में हुआ। उनका गाँव बैसवाड़ा (अवध) उन्नाव जिले के अन्तर्गत पड़ता है। निराला ओज, औदात्य एवं विद्रोह के कवि हैं। उन पर वेदान्त और रामकृष्ण परमहंस तथा विवेकानन्द के दर्शन का प्रभाव रहा है। निराला हिन्दी में मुक्त छन्द के लिए प्रसिद्ध रहे हैं। उनमें संश्लेषण या सामासिकता की प्रवृत्ति भी है। उनकी प्रसिद्ध काव्य-कृतियाँ निम्नलिखित हैं – अनामिका (1923), परिमल (1930) गीतिका (1936) अपरा, कुकुरमुत्ता, अणिमा, बेला, नए पत्ते, परिमल आदि। 'राम की शक्तिपूजा, सरोजस्मृति और तुलसीदास लम्बी कविताएँ हैं। निराला ने 'मतवाला' और 'समन्वय' का सम्पादन भी किया। निराला के समस्त काव्य में एक विद्रोही चेतना दिखाई पड़ती है। सन् 1916 ई. में 'जूही की कली' का प्रकाशन उस युग के साहित्यिकों के लिए नयी चुनौती के रूप में सामने आया। उसमें व्यक्त प्रणय केलि के चित्र और मुक्त छन्द का

शक्तिशाली शिल्प देखने योग्य है । उनके काव्य में विविधता के दर्शन होते हैं । उनकी कविता का कलेवर देश, काल और परिस्थितियों के अनुरूप बदलता जाता है । वे एक तरफ राम की शक्तिपूजा जैसा क्लासिक रचते हैं तो दूसरी तरफ उन्होंने 'मास्को डायलाग्स', 'खजोहरा' और कुकुरमुत्ता जैसी रचनाएँ भी लिखी । उनमें एक साथ प्रगतिशीलता और प्रयोगशीलता की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है ।

4.1.4.3. सुमित्रानन्दन पंत

पंत जी का जन्म अल्मोड़ा जिले के कोसानी नामक मनोरम स्थान पर हुआ। उन्हें प्रकृति का सुकुमार कवि कहा जाता है । छायावाद को प्रतिष्ठित करने में उनकी भूमिका महत्त्वपूर्ण थी। युगबोध के अनुसार अपनी काव्यभूमि का विस्तार करते रहना पंत जी की काव्य-चेतना की विशेषता है । प्रारम्भ में वे प्रकृति-सौन्दर्य से अभिभूत थे फिर मानव-सौन्दर्य से । मानव-सौन्दर्य ने उन्हें समाजवाद की ओर आकृष्ट किया । समाजवाद से वे अरविंद दर्शन की ओर प्रवृत्त हुए । उनकी प्रमुख काव्य-कृतियाँ हैं – 'उच्छवास' (1922), 'पल्लव' (1927), 'वीणा' (1927), 'ग्रन्थि' (1939), 'गुंजन' (1932), 'युगान्त' (1937), 'युगवाणी' (1929), 'ग्राम्या' (1940), 'स्वर्णधूलि', 'स्वर्ण किरण' (1950) आदि । पंत जी की पहली कविता 'गिरजे का घण्टा' सन् 1916 ई. की रचना है । 'गुंजन' उनका अन्तिम छायावादी काव्य-संग्रह कहा जा सकता है। पंत-काव्य में प्रकृति के मनोरम रूपों का मधुर और सरस चित्रण मिलता है। 'आँसू की बालिका', 'पर्वत प्रदेश में पावस', 'नौकाविहार' आदि ऐसी ही कविताएँ हैं । पंत रचित 'पल्लव की भूमिका' का ऐतिहासिक महत्त्व है । इसे 'छायावाद का घोषणा पत्र' माना जा सकता है । पंत की शैली की प्रमुख विशेषताएँ हैं – लाक्षणिक वैचित्र्य, विशेषण विपर्यय, विरोध चमत्कार, मानवीकरण, प्रतीकविधान, अन्योक्तिविधान । मुक्तक रचनाओं के अतिरिक्त उन्होंने 'लोकायन' महाकाव्य की रचना भी की है।

4.1.4.4. महादेवी वर्मा

महादेवी जी का जन्म फर्रुखाबाद (उत्तरप्रदेश) में हुआ । उनकी कविताओं में करुणा की भावना प्रधान है । आतुरता, प्रतीक्षा, समर्पण, जिज्ञासा उनकी कविताओं की प्रमुख भावनाएँ हैं । उनकी कविताओं में व्यक्त करुणा का सम्बन्ध उनके व्यक्तिगत दुःख से है। 'मैं नीर भरी दुःख की बदली' उनकी प्रतिनिधि पंक्ति है । दीपक और बादल उनके प्रिय प्रतीक हैं । गीत रचना में उन्हें विशेष सफलता मिली है । उनकी प्रसिद्ध काव्य-रचनाएँ हैं – 'नीहार' (1930), 'नीरजा' (1935), 'सांध्य गीत' (1936), 'यामा' (1936), दीपशिखा (1954) आदि ।

छायावाद में वैयक्तिक और सामाजिक दोनों प्रवृत्तियों का समन्वय दिखाई पड़ता है । महादेवी वर्मा के गीत भावप्रधान हैं । उनके सभी गीतों में अनुभूति और विचार के धरातल पर एकान्विति दिखाई पड़ती है । उनकी कविताओं में आरम्भ से ही विस्मय, जिज्ञासा, व्यथा और आध्यात्मिकता के भाव मिलते हैं । ये भाव निरन्तर अधिक प्रौढ़ और परिमार्जित होते गए हैं । इनके अनुसार सफल गीत वही है जिसमें संयमित भावातिरेक की व्यंजना होती है। सुख-दुःख की भावावेशमयी अवस्था विशेष का गिने-चुने शब्दों में स्वर-साधना के उपयुक्त

चित्रण कर देना ही गीत है। महादेवी ने अज्ञात प्रियतम के प्रति प्रणय निवेदन किया है किन्तु उनका प्रणय वेदनाप्रधान है। उनकी वेदना लोककल्याण से सम्पृक्त है।

4.1.4.5. छायावाद के अन्य कवि

छायावादी काव्य के विकास में कुछ अन्य कवियों का योगदान भी रहा है। माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', भगवतीचरण वर्मा आदि कवि प्रधान रूप से राष्ट्रीय-सांस्कृतिक काव्यधारा या प्रेम और मस्ती की काव्यधारा के अन्तर्गत आते हैं। किन्तु उन पर छायावादी काव्यधारा का भी बहुत प्रभाव है। दूसरे प्रकार के छायावादी कवि वे हैं जिनका काव्य परिमाण में अधिक नहीं है। डॉ॰ रामकुमार वर्मा, उदयशंकर भट्ट, मोहनलाल महतो 'वियोगी', आरसी प्रसाद सिंह, केदारनाथ मिश्र 'प्रभात' आदि कवियों को इस कोटि में रखा जाता है। प्रथम वर्ग के कवियों में रामनरेश त्रिपाठी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', माखनलाल चतुर्वेदी आदि ने जिस राष्ट्र-प्रेम और सांस्कृतिक गौरव का चित्रण किया है उसकी अभिव्यंजना पद्धति पर छायावादी प्रवृत्तियों का विशेष प्रभाव है। द्वितीय वर्ग के कवियों में डॉ॰ रामकुमार वर्मा का नाम उल्लेखनीय है। उनके 'रूपराशि', 'निशीथ', 'चित्ररेखा', 'आकाशगंगा' आदि काव्य-संग्रहों में छायावादी पद्धति की रचनाएँ संकलित हैं। बालकृष्ण शर्मा नवीन, भगवतीचरण वर्मा, बच्चन, नरेन्द्र शर्मा की प्रणयमूलक वैयक्तिक कविताओं के कलेवर और अभिव्यंजना शिल्प पर छायावाद का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। प्रेम और मस्ती का यह काव्य निस्संदेह अपनी सीधी-सच्ची अनुभूति और कला के कारण जनता में विशेष ख्याति पा सका किन्तु एक ही धरातल पर संचरण के कारण यह काव्य सीमित होकर रह गया। जिस प्रकार छायावादी कवियों ने अपने निजी प्रेम का विस्तार किया उसे ईश्वरीय प्रेम तक पहुँचाया वैसा प्रयास इन कवियों में कम ही दिखाई देता है। तात्पर्य यह है कि इस कालखण्ड में एक तरफ राष्ट्रीयता से ओत-प्रोत कविताएँ लिखी गईं तो दूसरी तरफ प्रेम और मस्ती का काव्य भी लिखा गया। राष्ट्रीय काव्यधारा के प्रमुख कवियों में माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', रामधारी सिंह 'दिनकर' सुभद्रा कुमारी चौहान, रामनरेश त्रिपाठी, गोपालशरण सिंह और श्यामनारायण पाण्डेय उल्लेखनीय हैं। माखनलाल चतुर्वेदी की कविता 'पुष्प की अभिलाषा' में पुष्प के माध्यम से बलिदान एवं देश के प्रति सब कुछ समर्पित कर देने के निर्मल भाव की व्यंजना हुई है, यथा –

मुझे तोड़ लेना बनमाली
उस पथ पर तुम देना फेंक
मातृभूमि पर शीश चढ़ाने
जिस पथ जाएँ वीर अनेक।

इसी तरह रामधारी सिंह 'दिनकर' की कविता 'मेरे नगपति मेरे विशाल' और सुभद्रा कुमारी चौहान की कविता 'खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसी वाली रानी थी' भी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं।

प्रेम और मस्ती की कविताएँ लिखने वाले कवियों में हरिवंश राय बच्चन ('मधुशाला', 'मधुबाला', 'मधुकलश') बहुत लोकप्रिय हुए। उनकी 'मधुशाला' कृति युवाओं को खूब पसंद आई। इसके अलावा नरेन्द्र

शर्मा, शिवदान सिंह चौहान, रामेश्वर शुक्ल 'अंचल', भगवतीचरण वर्मा, रामनरेश त्रिपाठी आदि कवियों ने प्रणय अनुभूति को सरल शब्दों में अपनी कविताओं में व्यक्त किया। इन कवियों की प्रेमपरक कविताएँ सरस, सरल एवं मुहावरेदार होने के कारण पाठकों में लोकप्रिय होने लगीं। इन प्रेमगीतों में भावुकता और बुद्धि का अन्तर्द्वन्द्व भी दिखाई पड़ता है। छायावादी प्रेम की भावुकता यहाँ बुद्धि से टकराती है। इन कवियों के काव्य-शिल्प पर छायावादी प्रवृत्ति का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है किन्तु विषय-वस्तु सर्जना के नूतन दरवाजे खोलती चलती है। इसी परिवर्तन को ध्यान में रखते हुए आलोचकों ने इसे काव्य का विचलन भी कहा है। यह विचलन युग की, अन्तर्मन की पुकार है। यह विचलन देश, काल एवं परिस्थितियों की देन है। राष्ट्रवाद, गाँधीवाद के उपरान्त मार्क्सवाद, प्रगतिवाद के प्रभावस्वरूप काव्य की दिशा का बदल जाना सहज स्वाभाविक ही था। यह विचलन सार्थक भी था और सकारात्मक भी।

4.1.5. बोध प्रश्न

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. छायावाद का प्रारम्भ कब से माना जाता है ?

(क) सन् 1907 ई.
(ख) सन् 1918 ई.
(ग) सन् 1909 ई.
(घ) सन् 1921 ई.

2. 'छायावाद' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम किसने किया ?

(क) रामचन्द्र शुक्ल
(ख) नन्ददुलारे वाजपेयी
(ग) मुकुटधर पाण्डेय
(घ) शान्तिप्रिय द्विवेदी

3. 'पुष्प की अभिलाषा' किसकी रचना है ?

(क) सुभद्रा कुमारी चौहान
(ख) मैथिलीशरण गुप्त
(ग) महादेवी वर्मा
(घ) माखनलाल चतुर्वेदी

4. 'छायावाद' की रसवादी व्याख्या किसने की ?

(क) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

(ख) डॉ॰ नगेन्द्र

(ग) आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी

(घ) डॉ॰ रामविलास शर्मा

5. 'पल्लव' की भूमिका किसने लिखी ?

(क) सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

(ख) सुमित्रानन्दन पंत

(ग) सियाराम शरण गुप्त

(घ) रामेश्वरशुक्ल अंचल

टिप्पणी लिखिए –

1. छायावाद का शिल्प-सौन्दर्य
2. छायावाद और प्रकृति-प्रेम
3. प्रेम और मस्ती का काव्य
4. छायावाद के बारे में विभिन्न आलोचकों की आलोचना-दृष्टि

लघुत्तरीय प्रश्न

1. 'छायावाद' के नामकरण के बारे में रामचन्द्र शुक्ल के क्या विचार थे ?
2. छायावाद के प्रमुख कवियों एवं उनकी प्रमुख रचनाओं का संक्षिप्त परिचय दीजिए।
3. अन्य छायावादी कवियों की कविताओं का संक्षिप्त परिचय दीजिए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. 'छायावाद' के नामकरण का संक्षिप्त इतिहास लिखिए।
2. छायावादी काव्य की मूल प्रवृत्तियों का उल्लेख कीजिए।
3. अन्य छायावादी कवियों के काव्य की विविध प्रवृत्तियों को स्पष्ट कीजिए।
4. 'छायावाद' के उदय की पृष्ठभूमि का वर्णन कीजिए।
5. 'छायावाद' की दिशा-दृष्टि निर्धारित करने में 'पल्लव' और 'परिमल' की भूमिका का ऐतिहासिक महत्त्व क्या है ? समझाइए।

4.1.6. सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

01. राग-विराग, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
02. कामायनी, जयशंकर प्रसाद, हिन्द पॉकेट बुक्स प्रा. लि., दिल्ली
03. रश्मिबंध, सुमित्रानन्दन पंत, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, पटना
04. निराला की साहित्य साधना, भाग–1, डॉ॰ रामविलास शर्मा, राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण –1969
05. आँसू, करुणालय, कानन-कुसुम, चित्राधार, झरना, प्रेमपथिक, लहर – जयशंकर प्रसाद, भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद
06. पल्लव, सुमित्रानन्दन पंत, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
07. वीणा, ग्रन्थि – सुमित्रानन्दन पंत, भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद
08. अनामिका, अपरा, गीतिका, तुलसीदास – सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद
09. परिमल, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', गंगा पुस्तकमाला कार्यालय, लखनऊ
10. बेला, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', निरूपमा प्रकाशन, प्रयाग
11. दीपशिखा, यामा, गुंजन – महादेवी वर्मा, भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद
12. चिदम्बरा, पंत राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण – 1958
13. सुमित्रानन्दन पंत ग्रन्थावली, सम्पादक – शान्ति जोशी, राजकमल प्रकाशन, संस्करण – 1979
14. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, जयशंकर प्रसाद, सन्मार्ग प्रकाशन, दिल्ली
15. गीतांजलि, रवीन्द्रनाथ टैगोर, हिंद पॉकेट बुक्स प्रा. लि., शाहदरा, दिल्ली, चतुर्थ संस्करण– 1973
16. सुमित्रानन्दन पंत, डॉ॰ कृष्णदत्त पालीवाल, साहित्य अकादमी
17. छायावाद की प्रासंगिकता, रमेशचंद्र शाह, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण – 1973
18. छायावाद युग, शंभूनाथ सिंह, सरस्वती मन्दिर, वाराणसी, संस्करण – 1962
19. छायावाद, नामवर सिंह, सरस्वती प्रेस, बनारस, प्रथम संस्करण – 1955
20. कवि सुमित्रानन्दन : आधुनिक साहित्य, नन्ददुलारे वाजपेयी, मैकमिलन, दिल्ली, भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद
21. पंत का काव्य और युग, यशदेव शल्य, किताब महल, इलाहाबाद, संस्करण – 1951
22. सुमित्रानन्दन पंत, डॉ॰ नगेन्द्र, साहित्य रत्न भण्डार, आगरा
23. छायावाद का रचना लोक, डॉ॰ रामदरश मिश्र, दिग्दर्शन चरण जैन, दरियागंज, नयी दिल्ली
24. रोमेंटिक युगीन अंग्रेज़ी कविता और छायावाद, डॉ॰ कृष्ण मुरारी मिश्र, प्रगति प्रकाशन, आगरा
25. महादेवी की रचना-प्रक्रिया, डॉ॰ कृष्णदत्त पालीवाल, पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण –1971
26. छायावादी कविता की आलोचना : स्वरूप और मूल्यांकन (शोध प्रबन्ध), डॉ॰ ओमप्रकाश सिंह, कानपुर विश्वविद्यालय, आराधना ब्रदर्स, कानपुर
27. नवजागरण और छायावाद (शोध प्रबन्ध), राधाकृष्ण प्रकाशन, दरियागंज, दिल्ली

28. छायावाद की सही परख और पहचान, डॉ॰ सूर्यप्रकाश दीक्षित, साहित्य रत्नाकर, रामबाग, कानपुर, प्रथम संस्करण – 1991
29. छायावाद युग, शंभूनाथ सिंह, सरस्वती मन्दिर, वाराणसी
30. छायावाद : पुनर्मूल्यांकन, सुमित्रानन्दन पंत, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
31. छायावाद का पतन, देवराज, वाणी मन्दिर प्रेस, छपरा, प्रथम संस्करण – 1948
32. कामायनी का पुनर्मूल्यांकन, रामस्वरूप चतुर्वेदी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
33. जयशंकर प्रसाद का कामायनी पूर्व काव्य, शान्तिस्वरूप गुप्त, एस.ई.एस. एंड कंपनी, दिल्ली, प्रथम संस्करण – 1970
34. युगप्रवर्त्तक जयशंकर प्रसाद, प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, प्रथम संस्करण – 1966
35. पंत और पल्लव, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', गंगा पुस्तक माला कार्यालय, लखनऊ, चतुर्थ संस्करण – 1966
36. छायावाद और कामायनी, डॉ॰ तारक नाथ बाली, सार्थक प्रकाशन – 101, गौतम नगर, नयी दिल्ली
37. आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ, नामवर सिंह, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
38. हिन्दी साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल, नागरीप्रचारिणीसभा काशी
39. हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास, रामस्वरूप चतुर्वेदी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
40. हिन्दी साहित्य का इतिहास, सम्पादक – डॉ॰ नगेन्द्र, मयूर पेपर बैक्स, नोएडा

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 4 : छायावाद युग : छायावादी काव्य और उसके समानान्तर विकसित गद्य-साहित्य

इकाई – 2 : छायावादी युग की अन्य काव्य-धाराएँ, राष्ट्रीय कविता, प्रेम-व्यंजना एवं काव्य-विचलन

इकाई की रूपरेखा

4.2.0. उद्देश्य
4.2.1. प्रस्तावना
4.2.2. छायावादी युग की अन्य काव्य-धाराएँ
 4.2.2.1. राष्ट्रीय कविता
 4.2.2.2. प्रेम-व्यंजना
 4.2.2.3. काव्य-विचलन
4.2.3. बोध प्रश्न
4.2.4. सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

4.2.0. उद्देश्य

प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. छायावाद की अन्य काव्यधाराओं का परिचय प्राप्त कर सकेंगे।
ii. छायावादयुगीन राष्ट्रीय-सांस्कृतिक काव्यधारा से अवगत हो सकेंगे।
iii. छायावादयुगीन प्रेम एवं मस्ती काव्यधारा की मूल प्रवृत्तियों की चर्चा कर सकेंगे।
iv. छायावादयुगीन काव्यधाराओं के अन्तस्सम्बन्धों को जान पाएँगे।
v. छायावादी काव्य के विचलन के कारणों से परिचित हो सकेंगे।

4.2.1. प्रस्तावना

हिन्दी साहित्य इतिहास-लेखन में छायावादी काव्य के अदम्य आकर्षण के कारण उसके अन्तर्गत आने वाली राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक काव्यधारा तथा प्रेम एवं मस्ती की काव्यधारा के सम्बन्ध में हिन्दी पाठक कम ही जान पाते हैं। राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक काव्यधारा तथा प्रेम एवं मस्ती के काव्य ने न केवलअन्तर्वस्तु के स्तर पर अपितु काव्यभाषा एवं संरचना की दृष्टि से भी छायावाद को समृद्ध किया। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप इन काव्यधाराओं की इन्हीं विशिष्टताओं को जान पाएँगे।

राष्ट्रीय-सांस्कृतिक काव्यधारा में माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', सुभद्रा कुमारी चौहान व रामधारी सिंह 'दिनकर' प्रमुख कवि हैं जो अपनी लेखनी के माध्यम से तत्कालीन सामाजिक-सांस्कृतिक संकटों से जनता को आगाह कर रहे थे एवं साथ ही उन समस्याओं से लड़ने की शक्ति और प्रेरणा भी दे रहे थे। इनकी कविता तत्कालीन समाज का स्वर है, जिसमें अतीत का गुणगान भी है तो अंग्रेज़ों के प्रति रोष भी है। छायावादी

काव्य पर यह आरोप है कि वह पलायनवादी है, लेकिन इनकी कविताओं को पढ़ कर हम यह आसानी से समझ सकते हैं कि छायावाद का प्रत्येक कवि अपने स्तर से शक्ति की मौलिक कल्पना कर रहा था।

प्रेम एवं मस्ती के काव्य को 'हालावाद' भी कहा गया जिसके प्रवर्तक हरिवंश राय बच्चन माने जाते हैं। 'मधुशाला' इनकी प्रमुख पुस्तक है जिसे 'हालावाद की भूमिका' कह सकते हैं। राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक संकट के समय यह कवि सामान्य जनता को प्रेम एवं मस्ती के काव्य के माध्यम से उत्साहित एवं संचरित करने का काम कर रहे थे।

तत्कालीन राजनैतिक आन्दोलनों की विफलता ने आम जनमानस के मन में निराशा का भाव भर दिया होगा जिसके कारण धीरे-धीरे छायावादी काव्य विचलन के रास्ते पर चल पड़ा। दुनिया भर में प्रगतिशील आन्दोलन भी अपनी सामर्थ्य के साथ फैल रहा था। इन सब परिस्थितियों से छायावादी काव्य का विचलन हुआ और प्रगतिवादी काव्य की पृष्ठभूमि तैयार हुई।

हिन्दी साहित्य के इतिहास में सन् 1918 ई. से सन् 1936 ई. तक का समय छायावाद के नाम से जाना जाता है। द्विवेदीयुगीन इतिवृत्तात्मकता नैतिकता एवं स्थूल का विरोध करती हुई छायावादी काव्य की एक मजबूत वैचारिक पृष्ठभूमि है। छायावाद का नाम छायावादी कविता के चार प्रमुख स्तम्भकार जयशंकर प्रसाद, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', सुमित्रानन्दन पंत एवं महादेवी वर्मा के काव्य एवं काव्य-शैली के आधार पर पड़ा। इनकी कविताओं में वेदना के आधार पर स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति की प्रधानता है। छायावादी काव्य स्वानुभूति का काव्य है जिसमें प्रेम, मानव-सौन्दर्य एवं प्रकृति की स्वानुभूतिमयी रहस्यपरक सूक्ष्म अभिव्यंजना लाक्षणिक एवं प्रतीकात्मक शैली में होती है। इस कालखण्ड में सिर्फ छायावादी रचनाएँ ही नहीं लिखी गईं अपितु राष्ट्रीय काव्य एवं प्रेम-व्यंजना से ओत-प्रोत प्रणयमूलक काव्य-रचनाएँ भी हुईं। राष्ट्रीय काव्यधारा के प्रमुख कवियों में माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', रामधारी सिंह 'दिनकर', सुभद्रा कुमारी चौहान, रामनरेश त्रिपाठी, गोपाल शरण सिंह, गुरुभक्त सिंह 'भक्त', सियाराम शरण गुप्त, जगन्नाथ प्रसाद मिलिंद और श्यामनारायण पाण्डेय के नाम उल्लेखनीय हैं। प्रणयमूलक वैयक्तिक काव्यधारा के अन्तर्गत प्रेम और मस्ती की कविताएँ लिखने वाले कवियों में हरिवंश राय 'बच्चन, रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' एवं नरेन्द्र शर्मा प्रमुख हैं। इन गीतकारों ने प्रणय की लौकिक एवं मांसल अभिव्यक्ति इसी कालखण्ड में की। बच्चन की हालावादी रचनाएँ इनमें प्रमुख हैं।

'छायावाद' भारतीय राजनीति में होने वाली विराट् उथल-पुथल का कालखण्ड था। छायावाद से कुछ पहले भारत में स्वदेशी आन्दोलन ज़ोरों पर था। सन् 1915 ई. में गाँधी जी भारत लौटे और सन् 1917 ई. में चंपारण से 'सत्याग्रह' का शुभारम्भ किया। सन् 1915 ई. से सन् 1947 ई. के कालखण्ड को मोटे तौर पर गाँधी युग माना जाता है। 'जालियाँवाला बाग' हत्याकाण्ड में जनरल डायर की क्रूरता व बर्बरता ने देशवासियों को झकझोर कर रख दिया। गाँधी जी के आह्वान पर असहयोग आन्दोलन और खिलाफ़त आन्दोलन ने पूरे देश में ज़ोर पकड़ लिया। इन्हीं घटनाओं, आन्दोलनों से प्रेरित होकर अपने अन्तर्मन की पुकार को राष्ट्रवादी कवियों ने वाणी दी। छायावादी कवि भी भारत के गौरवशाली अतीत का गुणगान करते रहे और व्यक्ति की स्वाधीनता और प्रत्येक

प्रकार की गुलामी से मुक्ति का मार्ग अपनी कविताओं के माध्यम से तलाशते रहे । यह गुलामी जीवन के प्रत्येक स्तर पर व्याप्त थी जिससे मुक्ति के लिए छायावादी कवि छटपटा रहे थे । छायावादी कवियों में राष्ट्रीयता का जो स्वर सुनाई पड़ता है वह गाँधीवादी जीवन-मूल्यों एवं मानवतावाद पर टिका हुआ है। जो कवि प्रेम व मस्ती के गीत लिख रहे थे वे भी कहीं न कहीं देश-प्रेम की भावना से भरे हुए थे।

4.2.2. छायावादी युग की अन्य काव्य-धाराएँ

4.2.2.1. राष्ट्रीय कविता

छायावाद युग (सन् 1918 ई. से 1936 ई.) एक ऐसा कालखण्ड है जिसमें कविता विविध विषयों के साथ अवतरित हुई। जिस प्रकार रीतिकाल में रीतिबद्ध शृंगार कविता के साथ-साथ वीररस प्रधान काव्यधारा का प्रवाह होता रहा, उसी प्रकार आधुनिककाल के इस चरण में राष्ट्रीय काव्यधारा छायावादी और वैयक्तिक कविता के समानान्तर प्रवाहित रही । द्विवेदीयुग के मैथिलीशरण गुप्त, सियारामशरण गुप्त, रामनरेश त्रिपाठी आदि कवियों ने इसमें महत्त्वपूर्ण योगदान किया । साथ ही, अन्य अनेक सशक्त कवियों ने भी इसमें सक्रिय भागीदारी की । इन कवियों में माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', जगन्नाथ प्रसाद 'मिलिन्द', सुभद्रा कुमारी चौहान, सोहनलाल द्विवेदी, रामधारी सिंह 'दिनकर', उदयशंकर भट्ट, उपेन्द्रनाथ 'अश्क' आदि प्रमुख हैं । कुछ अन्य कवियों ने भी इस कालखण्ड में राष्ट्रीय-सांस्कृतिक काव्यधारा से प्रभावित होकर प्रभावपूर्ण रचनाएँ कीं जिनमें गुरुभक्त सिंह 'भक्त', श्यामनारायण पाण्डेय, विद्यावती 'कोकिल', सुमित्राकुमारी सिन्हा, आरसी प्रसाद सिंह, गोपालशरण सिंह 'नेपाली', अनूप शर्मा, हरिकृष्ण प्रेमी, पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश', बालकृष्ण राव, हंसकुमार तिवारी, रामनाथ अवस्थी आदि प्रमुख हैं। इन कवियों की रचनाओं में सांस्कृतिक चेतना का बड़ा योगदान रहा है और उनमें भाषा का परिष्कृत रूप मिलता है, जो आधुनिक हिन्दी काव्य की श्रीवृद्धि में सहायक हुआ।

भारत की यथास्थिति का वर्णन करते हुए बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' अज्ञान की नींद में सोए हुए देशवासियों को मोह, आलस्य और प्रमाद त्याग कर जाग्रत होने के लिए प्रेरित करते हैं –

ओ भिखमंगे, अरे पराजित, ओ मजलूम अरे चिर दोहिता ।
तू अखण्ड भण्डार शक्ति का, जाग अरे, निद्रा सम्मोहिता ॥

क्रान्ति और विध्वंस का स्वर राष्ट्रीय काव्य-धारा के कवि बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' की कविता में विद्यमान है –

कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ जिससे उथल-पुथल मच जाए ।
एक हिलोर इधर से आए, एक हिलोर उधर से आए ॥

देश के नवयुवकों को स्वतन्त्रता की बलि वेदी पर आहुति के लिए प्रेरित करते हुए बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' लिखते हैं –

है बलवेदी सखे प्रज्वलित माँग रही ईंधन झण-झण ।
आओ युवक लगा दो तुम अपने यौवन का ईंधन ॥

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' का सम्बन्ध असहयोग आन्दोलन से रहने के कारण इनकी कविताओं में जीवन की असफलताओं और विफलताओं का घोर क्रन्दन और विप्लव अभिव्यक्त हुआ है। इनकी शृंगारपरक रचनाओं में एक सच्चे रोमांटिक कवि के दर्शन होते हैं।

जगन्नाथ प्रसाद 'मिलिन्द' की गणना छायावादयुगीन राष्ट्रीय प्रतिनिधि कवियों में की जाती है। इनकी कला का एकमात्र उद्देश्य नव-जागरण एवं नव-निर्माण है। इसी कारण इन्होंने दलितों, शोषितों, मज़दूर-किसानों की स्थितियों का बड़ा ही मार्मिक अंकन अपनी कविताओं में किया है। कल्पना की उदात्तता, सूक्ष्मता, प्रेम, करुणा और नवनिर्माण की उत्सुकता एवं ओजस्विता आदि बातों से समन्वित इनकी कविता वास्तव में अत्यधिक प्रेरणादायक है। ये रचनाएँ अपने अन्तराल में एक समूचे युग की चेतना को समेटे हुए हैं। 'मिलिन्द' जी की कविताओं में भावों के समान ही छन्द-विधान में भी विविधता है।

सोहनलाल द्विवेदी ने इस विश्वास को लेकर काव्य-साधना के क्षेत्र में प्रवेश किया कि "उदात्त भावों को, सद्विवेक, सद्विचार, सद्भावना को जगाना ही काव्यादर्श है। जो कला-कविता हममें अच्छे संस्कारों को जाग्रत न कर सके, समझना चाहिए कि वह अपने आदर्श से च्युत है।" अपने इस आदर्श के अनुसार ही द्विवेदी जी ने जन चेतना की राष्ट्रीयता के सुघड़ सन्दर्भों को अपनी काव्य-रचनाओं में चित्रित एवं मुखरित किया है। इनके काव्य का स्वर जीवन के यथार्थ धरातल पर टिका होने पर भी अन्ततोगत्वा आदर्शवादी ही है।

उदयशंकर भट्ट की रचनाओं में जीवन की गहन अनुभूति, दार्शनिकता, वेदना, विषमता आदि का चित्रण मिलता है। प्रारम्भिक निराशा के बाद कवि को फिर मानव की आत्मशक्ति में विश्वास होने लगा। जो जीवन अध्यात्मवाद पर अवलम्बित नहीं है, उसमें भट्ट जी को विश्वास नहीं।

उपेन्द्रनाथ 'अश्क' की कविता में निराशा का भाव अधिक है। शोक और वेदना का स्वर इनके काव्य में स्पष्टतः सुना जा सकता है। इनकी काव्य-चेतना में निश्छलता एवं आडम्बरशून्यता विशेष दर्शनीय है। सीधे-सादे ढंग से सरल भाषा में ये अपनी बात कह देते हैं।

गुरुभक्त सिंह 'भक्त' की प्रसिद्ध रचना 'नूरजहाँ' है, जिसमें मानव-हृदय के अन्तर्द्वन्द्व और प्रेम की पीड़ा का सुन्दर चित्रण किया गया है। प्रकृति-वर्णन और मुहावरों के प्रयोग के लिए उनकी यह रचना अत्यन्त प्रसिद्ध है। उनकी एक अन्य प्रसिद्ध रचना 'विक्रमादित्य' है।

पण्डित श्यामनारायण पाण्डेय वीररस के राष्ट्रीय कवि हैं। उनकी कविता 'चेतक की वीरता' की पंक्तियाँ जन-जन में गौरव का भाव भरती है –

रण बीच चौकड़ी भर-भर कर
चेतक बन गया निराला था
राणाप्रताप के घोड़े से
पड़ गया हवा का पाला था

जो तनिक हवा से बाग हिली
लेकर सवार उड़ जाता था
राणा की पुतली फिरी नहीं
तब तक चेतक मुड़ जाता था

गिरता न कभी चेतक तन पर
राणाप्रताप का कोड़ा था
वह दौड़ रहा अरिमस्तक पर
वह आसमान का घोड़ा था

था यहीं रहा अब यहाँ नहीं
वह वहीं रहा था यहाँ नहीं
थी जगह न कोई जहाँ नहीं
किस अरि-मस्तक पर कहाँ नहीं

निर्भीक गया वह ढालों में
सरपट दौड़ा करबालों में
फँस गया शत्रु की चालों में

बढ़ते नद-सा वह लहर गया
फिर गया गया फिर ठहर गया
विकराल वज्रमय बादल-सा
अरि की सेना पर घहर गया

भाला गिर गया गिरा निसंग
हय टापों से खन गया अंग
बैरी समाज रह गया दंग
घोड़े का ऐसा देख रंग

श्यामनारायण पाण्डेय ने चार उत्कृष्ट महाकाव्य रचे, जिनमें 'हल्दीघाटी' सर्वाधिक लोकप्रिय और 'जौहर' विशेष रूप से चर्चित हुए। उनके द्वारा रचित अन्य काव्य-रचनाएँ है – 'तुमुल', 'रूपान्तर', 'आरती', 'जय-पराजय', 'गोरा-वध', 'जय हनुमान', 'शिवाजी' (महाकाव्य)। 'हल्दीघाटी' महाकाव्य में महाराणा प्रताप के जीवन-संघर्ष और 'जौहर' महाकाव्य में चित्तौड़ की वीरांगना रानी पद्मिनी की वीरता और त्याग का आख्यान है। वीररस शैली का एक उदाहरण श्यामनारायण पाण्डेय के प्रसिद्ध खण्डकाव्य 'जय हनुमान' से उद्धृत है –

ज्वलल्ललाट पर अदम्य तेज वर्तमान था,
प्रचण्ड मान-भंग-जन्य क्रोध वर्धमान था,
ज्वलन्त पुच्छ-बाहु व्योम में उछालते हुए,
अराति पर असह्य अग्नि-दृष्टि डालते हुए,
उठे कि दिग-दिगन्त में अवर्ण्य ज्योति छा गयी,
कपीश के शरीर में प्रभा स्वयं समा गयी।

माखनलाल चतुर्वेदी की छायावादी युग में लिखी गई राष्ट्रीयतापरक कविताएँ महत्त्वपूर्ण हैं। माखनलाल चतुर्वेदी 'एक भारतीय आत्मा' उपनाम से लिखते रहे। उनकी रचनाओं में निष्कपट देश-प्रेम व्यक्त हुआ है। 'पुष्प की अभिलाषा' इनकी बहुत ही छोटी किन्तु अत्यन्त प्रसिद्ध कविता है, जिसमें राष्ट्रीयता के लिए आत्मोत्सर्ग का अमित उत्साह प्रकट हुआ है। इस छोटी कविता को इनके समूचे व्यक्तित्व एवं कृतित्व का आदर्श भी कह सकते हैं। इनकी भाषा-शैली अत्यधिक सरल किन्तु ओजस्वी है। छन्द-विधान आदि की दृष्टि से भी इनमें नव्यता के दर्शन होते हैं। 'पुष्प की अभिलाषा' में देश के लिए आत्मबलिदान की तड़प ने देशवासियों को झकझोर कर रख दिया –

चाह नहीं, मैं सुरबाला के
गहनों में गूँथा जाऊँ,
चाह नहीं प्रेमी-माला में बिंध
प्यारी को ललचाऊँ,
चाह नहीं सम्राटों के शव पर
हे हरि डाला जाऊँ,
चाह नहीं देवों के सिर पर
चढ़ूँ भाग्य पर इठलाऊँ,
मुझे तोड़ लेना बनमाली,
उस पथ पर देना तुम फेंक !
मातृ-भूमि पर शीश- चढ़ाने,
जिस पथ पर जावें वीर अनेक !

चतुर्वेदी जी के काव्य में ओज और राष्ट्रीय चेतना के स्वर रचे-बसे हैं। नवयुवकों को प्रेरित करते हुए वे कहते हैं –

अमर राष्ट्र, उद्दण्ड राष्ट्र, उन्मुक्त राष्ट्र ! यह मेरी बोली,
यह सुधार समझौतों वाली, मुझको भाती नहीं ठिठोली।

बुंदेली लोककाव्य को अपने शब्दों और भावनाओं में पिरोकर सृजित सुभद्रा कुमारी चौहान की कविताओं में देशभक्ति और आत्मोत्सर्ग की भावना तथा मानव मात्र के सुख-दुःख की चिन्ता केन्द्रीय स्वर के रूप में उभरती है। राष्ट्रीयता की प्रखर चेतना के साथ-साथ वात्सल्य एवं स्नेह का भाव भी इनके काव्य में अनेक जगह

पर ध्वनित हुआ है। सुभद्रा कुमारी चौहान की कालजयी कविता 'झाँसी की रानी' की पंक्ति 'खूब लड़ी मर्दानी वह तो, झाँसी वाली रानी थी' आज भी श्रोताओं की नस-नस में राष्ट्रीयता का संचार कर देती है –

सिंहासन हिल उठे, राजवंशों ने भृकुटी तानी थी,
बूढ़े भारत में भी आयी, फिर से नयी जवानी थी,
गुमी हुई आज़ादी की क़ीमत, सबने पहचानी थी,
दूर फिरंगी को करने की, सबने मन में ठानी थी,
चमक उठी सन् सत्तावन में, वह तलवार पुरानी थी,
बुन्देले हरबोलों के मुँह, हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो, झाँसी वाली रानी थी॥

छायावादयुगीन कवि रामनरेश त्रिपाठी ने त्याग, समर्पण और देश-प्रेम को ही सच्चा प्रेम माना है। देशवासियों को देश-हित में अपना सर्वस्व-समर्पण करने के लिए उत्प्रेरित करते हुए वे कहते हैं –

सच्चा प्रेम वही है जिसकी
तृप्ति आत्म-बलि पर हो निर्भर।
त्याग बिना निष्प्राण प्रेम है,
करो प्रेम पर प्राण निछावर।

देश-प्रेम वह पुण्य क्षेत्र है,
अमल असीम त्याग से विलसित।
आत्मा के विकास से जिसमें,
मनुष्यता होती है विकसित।

रामधारी सिंह 'दिनकर' के तीखे स्वरों को छायावाद अपने में आत्मसात् न कर सका इसलिए ये राष्ट्रधारा के कवियों में सर्वाधिक सबल व्यक्तित्व लेकर उभरे। युगीन सीमाओं को लाँघकर इन्होंने परवर्ती युग की प्रगतिवादी चेतना को भी अपने काव्य में समाहित किया। आधुनिक काव्य की समस्त विधाओं पर इनका समान अधिकार रहा। उर्दू कवि इकबाल, बांग्ला कवीन्द्र रवीन्द्र और पाश्चात्य कवियों में मिल्टन, कीट्स तथा शेली से दिनकर जी बहुत प्रभावित रहे। समूची राष्ट्रवादी काव्यधारा में जनता का आक्रोश, इच्छा-आकांक्षाएँ, ऊर्जस्विता और भारतीय यौवन की भैरव हुँकार यदि वास्तविकता के साथ कहीं रूपायित हुई है, तो यह केवल दिनकर की रचनाओं में ही सम्भव हो पाया है। 'दिनकर' छायावाद के उत्तरार्द्ध काल के पुरोधा कवि हैं। राष्ट्र-प्रेम में निमज्जित इनकी कविता प्रखर आवेग उत्पन्न करती है। उदाहरण देखिए –

फेंकता हूँ लो तोड़-मरोड़ अरी निष्ठुरे! बीन के तार।
उठा चाँदी का उज्ज्वल शंख फूँकता हूँ भैरव-हुँकार।
नहीं जीते जी सकता देख विश्व में झुका तुम्हारा भाल।
वेदना-मधु का भी कर पान आज उगलूँगा गरल कराल॥

छायावादी युग में केवल राष्ट्रीय काव्यधारा के कवि ही राष्ट्र-प्रेमपरक रचनाएँ नहीं कर रहे थे अपितु छायावादी कवियों ने भी अपनी राष्ट्रीय-भावना को अभिव्यक्त किया है। निराला अपनी क्रान्तिकारी रचना 'ध्वंस' में लिखते हैं –

एक बार बस और नाच तू श्यामा!
सामान सभी तैयार
कितने ही असुर, चाहिए तुझको हार?

'मातृवन्दना' कविता में निराला राष्ट्र-स्वातन्त्र्य के लिए प्राण न्योछावर करने की स्पष्ट घोषणा करते हैं –

क्लेद युक्त अपना तन दूँगा,
मुक्त करूँगा तुझे अटल।
तेरे चरणों पर देकर बलि,
सकल श्रेय-श्रम संचित फल॥

छायावादी कवि 'प्रसाद' भारतीय संस्कृति के पोषकों में अग्रगण्य है। उन्होंने अपने नाटकों में पात्रों के माध्यम से संयम, त्याग, बलिदान, देशभक्ति एवं राष्ट्रीयता की प्रेरणा का प्रसार किया है। उनकी रचनाएँ युवाओं को कर्मण्यता, साहस, स्वदेशाभिमान का पाठ पढ़ाती हैं। 'चन्द्रगुप्त' नाटक का यह गीत पढ़िए –

हिमाद्रि तुंग शृंग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती
स्वयंप्रभा समुज्वला स्वतन्त्रता पुकारती–
अमर्त्त्य वीरपुत्र हो, दृढ़-प्रतिज्ञ सोच लो,
प्रशस्त पुण्य पन्थ है – बढ़े चलो – बढ़े चलो!
असंख्य कीर्त्ति-रश्मियाँ, विकीर्ण दिव्य दाह-सी।
सपूत मातृभूमि के रुको न शूर साहसी!
अराति सैन्य सिन्धु में – सुवाड़ वाग्नि-से जलो!
प्रवीर हो जयी बनो – बढ़ चलो, बढ़े चलो!

4.2.2.2. प्रेम-व्यंजना

छायावादी युग में प्रणयमूलक वैयक्तिक काव्यधारा के प्रमुख कवि हरिवंश राय बच्चन, रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' और नरेन्द्र शर्मा हैं। ये अपने धुन में मगन प्रेम और मस्ती की कविताएँ लिखने वाले कवि हैं। इन प्रेम-व्यंजना के गीतकारों ने एक नयी भावभूमि का आधार ग्रहण कर काव्य-रचना की है। इनके गीतों ने हिन्दी कविता का नया रूप-संस्कार किया। इनकी सरल मुहावरेदार भाषा व्यक्तिगत वेदना की अनुभूति से मूर्त और भावसिक्त हो उठी। प्रेम-व्यंजना के गीतकारों का काव्यवस्तु-क्षेत्र यद्यपि सीमित था लेकिन अभिव्यक्ति में अधिक मांसलता आ जाने के कारण अनुभूतियों का प्रेषण सहज हो गया। इस प्रकार सरल और मुहावरेदार अनुभूति प्रणयमूलक कविता

की जान बन गई। मधुशाला के निम्नलिखित पंक्तियों में गीत का सरल रूप सामने आता है, जिसमें कवि मदमस्त होकर डूबा हुआ लगता है –

प्यास तुझे तो, विश्व तपाकर पूर्ण निकालूँगा हाला,
एक पाँव से साकी बनकर नाचूँगा लेकर प्याला,
जीवन की मधुता तो तेरे ऊपर कब का वार चुका,
आज निछावर कर दूँगा मैं तुझ पर जग की मधुशाला॥

मस्ती के मधुशाला में डूबे कवि अपनी समकालीन समस्याओं को भी अपने गीत में इस तरह पिरोते हैं –

यह महान दृश्य है
चल रहा मनुष्य है
अश्रु-स्वेद-रक्त से
लथपथ, लथपथ, लथपथ।

इन कवियों ने अपनी रचनाओं में अपने प्रेम और अन्तर्द्वन्द्व को अभिव्यक्त कर दिया है। प्रेम-व्यंजना के कवि नरेन्द्र शर्मा के बारे में शिवदान सिंह चौहान का कथन है – "नरेन्द्र शर्मा ही पहले कवि हैं, जिन्होंने अपने मन में बुद्धि और भावुकता के बीच चलने वाले अन्तर्द्वन्द्व को निस्संकोच स्वीकार किया।"

फूला न समाता खुश होकर, या घर भर देता रो-रोकर,
या तो कहता, दुनिया मेरी, या जग से मेरा क्या नाता।
मेरे मन की दुर्बलता, सामान्य नहीं निज को गिनता,
वह अहंकार से उपजा है, इसलिए सदा रोता गाता।

प्रेमकाव्य के कवि रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' भी अपने प्रेम-गीतों के लिए बहुत चर्चित हुए। प्रेम में अनन्यता और विश्वास की पराकाष्ठा देखिए –

मैंने चाहा तुम में लय हो साँसों के स्वर-सा खो जाना,
मैं प्रतिक्षण तुममें ही बीतूँ हो पूर्ण समर्पण का बाना,
तुमने ना जाने क्या करके मुझको भँवरों से भरमाया,
मैंने अगणित मझधारों में तुमको साकार खड़ा पाया,
भयकारी लहरों में भी तो तुम तक आने का चाव चढ़ा
जितनी तुमने व्याकुलता दी उतना तुम पर विश्वास बढ़ा।

भगवतीचरण वर्मा भी इसी प्रवृत्ति के कवि माने जाते हैं। हिन्दी साहित्य में वर्मा जी की प्रसिद्धि उपन्यासकार के रूप में अधिक है तथापि उनकी प्रेम और मस्ती की कविताएँ भी पाठक-वर्ग में लोकप्रिय हुईं। उदाहरण देखिए –

हम दीवानों की क्या हस्ती, आज यहाँ कल वहाँ चले।
मस्ती का आलम साथ चला, हम धूल उड़ाते जहाँ चले॥

वस्तुतः छायावादी युग में प्रेम-व्यंजना के कवियों ने अपने प्रणयमूलक मस्ती की कविताओं द्वारा उस समय व्याप्त जटिल काव्य की नीरसता को कम करने का प्रयत्न किया। इन कवियों की कविता अपने सरस, सरल और मुहावरेदार वैशिष्ट्य के कारण बहुत प्रसिद्ध हुईं और पाठकों की ज़ुबान पर चढ़ गईं। प्रेम-व्यंजना के कवियों ने बुद्धि और भावुकता के अन्तर्द्वन्द्व को सरल शब्दों में सम्प्रेषित किया। यही कारण है कि प्रेम-व्यंजना की अनुभूति को पाठकों ने अपने हृदय से महसूस किया।

4.2.2.3. काव्य-विचलन

भारत में नवजागरण के प्रादुर्भाव से भारतीय जनमानस की चेतना में एक नयी ऊर्जा का संचार हुआ। नवजागरण एवं स्वच्छन्दतावाद के कवियों ने राष्ट्र-प्रेम, नैतिकता एवं आदर्शवाद की कविताएँ लिखी हैं। हिन्दी में स्वच्छन्दतावाद का प्रभाव छायावाद युग में रची गई कविता के रूप में सामने आया। हिन्दी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली के रचनाकार प्रो० अमरनाथ के अनुसार हिन्दी में स्वच्छन्दतावाद का उल्लेख सबसे पहले आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के ग्रन्थ 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में मिलता है जहाँ उन्होंने श्रीधर पाठक को स्वच्छन्दतावाद का प्रवर्त्तक करार दिया है। प्रो० अमरनाथ के अनुसार छायावाद और स्वच्छन्दतावाद में गहरा साम्य है। दोनों में प्रकृति-प्रेम, मानवीय दृष्टिकोण, आत्माभिव्यंजना, रहस्यभावना, वैयक्तिक प्रेमाभिव्यक्ति, प्राचीन संस्कृति के प्रति व्यामोह, प्रतीक-योजना, निराशा, पलायन, अहं के उदात्तीकरण आदि के दर्शन होते हैं। छायावाद के समानान्तर स्वछन्दतावाद का विकसित होना काव्य-विचलन का परिणाम है।

वस्तुतः कोई भी युग एक रीति या परिपाटी में बँधकर नहीं रह सकता। सामाजिक और वैचारिक धरातल पर भिन्नताएँ मुख्यधारा से मुक्ति के लिए प्रयास करती हैं। स्वयं रचनाकार भी निरन्तर एक ही विचारधारा, परिपाटी अथवा सिद्धान्त से बँधकर नहीं रह सकता फलतः विचलन की स्थिति स्वयं व्यक्ति में भी बन सकती है। छायावादी युग में भी छायावादी काव्य-शैली से काव्य-विचलन दृष्टिगोचर होने लगा। छायावादी कवियों में महादेवी वर्मा ही एकमात्र कवयित्री थीं जिन्होंने अन्त तक छायावाद की रहस्यमयी अनुभूति की छाया में रहकर ही रचना की। अन्य छायावादी कवियों में छायावादी प्रवृत्तियों से विचलन स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है, जिनमें सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' और सुमित्रानन्दन पंत प्रमुख हैं। छायावाद में काव्य-विचलन आने का प्रमुख कारण भारतीय राजनैतिक परिवेश और उसी कालखण्ड में विद्यमान अन्य काव्य-धाराएँ थीं। यह ऐसा दौर था, जब स्वतन्त्रता आन्दोलन पूरे देश में व्याप्त हो चुका था और चारों तरफ पूर्ण स्वराज की माँग उठने लगी थी। स्वतन्त्रता और समानता के लिए भारतीय जनता एकजुट होकर लड़ाई लड़ने को कटिबद्ध थी। इस युग के महान् रचनाकार प्रेमचंद की रचनाओं में भी आदर्शवाद का यथार्थवाद में विचलन होने लगा था। इस वजह से वे 'सेवासदन' जैसी रचना न कर 'गोदान' और 'कफ़न' जैसी रचनाएँ कर रहे थे।

समय और वातावरण के सापेक्ष छायावादी युग के कवियों के काव्य में विचलन का होना स्वाभाविक और उस दौर के अनुरूप था। जिसका प्रमुख कारण भारतीय पहल पर प्रगतिवाद का उदय होना था। राजनीति के क्षेत्र में जो विचारधारा मार्क्सवाद कहलायी वही साहित्यिक क्षेत्र में प्रगतिवाद के नाम से जानी गई। प्रगतिवादी विचारधारा के अनुसार समाज में मुख्यतः दो वर्ग विद्यमान थे – पहला, शोषक वर्ग जो पूँजीपति, ज़मींदार, उद्योगपति एवं मिल मालिक होते थे और निर्धन, बेबस मज़दूर और किसानों का शोषण करते थे। दूसरा, शोषित वर्ग जिसमें मज़दूर, किसान और श्रमिक आते थे जिन्हें शोषक वर्ग द्वारा शोषित किया जाता था। प्रगतिवाद ने हिन्दी साहित्य की सभी विधाओं को प्रभावित किया। इस राजनैतिक विचारधारा से प्रभावित कवियों एवं लेखकों ने देश की सामाजिक व्यवस्था पर आक्रोश व्यक्त किया। उन्होंने अपनी रचनाओं के माध्यम से शोषण का विरोध किया। निर्धन एवं असहाय व्यक्तियों की दयनीय दशा का वास्तविक मार्मिक चित्रण करते हुए उनके प्रति सहानुभूति प्रकट की। पूँजीपतियों एवं शोषक वर्ग की नीतियों का प्रबलता के साथ विरोध किया। साथ ही, रूढ़िवादिता को छोड़कर नवीनता को अपनाने पर बल दिया। निराला की प्रगतिवादी कविता 'वह तोड़ती पत्थर' कविता में शोषक वर्ग और समाज पर कटाक्ष किया गया है –

वह तोड़ती पत्थर;
देखा मैंने उसे इलाहाबाद के पथ पर –
वह तोड़ती पत्थर।

कोई न छायादार
पेड़ वह जिसके तले बैठी हुई स्वीकार;
श्याम तन, भर बँधा यौवन,
नत नयन, प्रिय-कर्म-रत मन,
गुरु हथौड़ा हाथ,
करती बार-बार प्रहार –
सामने तरु-मालिका अट्टालिका, प्राकार।

अपनी कविता 'भिक्षुक' में वे निर्धनता की दयनीय दशा का मार्मिक चित्रण करते हैं –

वह आता –
दो टूक कलेजे को करता, पछताता
पथ पर आता।

पेट पीठ दोनों मिलकर हैं एक,
चल रहा लकुटिया टेक,
मुट्ठी भर दाने को — भूख मिटाने को
मुँह फटी पुरानी झोली को फैलाता —
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता।

साथ दो बच्चे भी हैं सदा हाथ फैलाए,
बाएँ से वे मलते हुए पेट को चलते,
और दाहिना दया दृष्टि-पाने की ओर बढ़ाए।
भूख से सूख ओठ जब जाते
दाता-भाग्य विधाता से क्या पाते ?
घूँट आँसुओं के पीकर रह जाते।
चाट रहे जूठी पत्तल वे सभी सड़क पर खड़े हुए,
और झपट लेने को उनसे कुत्ते भी हैं अड़े हुए !

'कुकुरमुत्ता' कविता में 'गुलाब' को सम्बोधित करते हुए निराला पूँजीपतियों पर करारा व्यंग्य करते हैं –

अब, सुन बे, गुलाब,
भूल मत जो पायी खुशबु, रंग-ओ-आब,
खून चूसा खाद का तूने अशिष्ट,
डाल पर इतरा रहा है केपीटलिस्ट !

ऐसी मार्मिक एवं व्यंग्य भरी कविताओं को छायावादी काव्य-शैली के अन्तर्गत लिखना सम्भव नहीं था। इसलिए ऐसी कविताओं के लिए छायावाद से काव्य-विचलन होना उचित जान पड़ता है।

सुमित्रानन्दन पंत जो सुकुमार कवि कहे जाते हैं वे भी मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित हुए बिना नहीं रह पाए। असमानता और वर्ग-भेद के प्रति क्षुब्ध होकर 'ताज' में उन्होंने कहा –

हाय ! मृत्यु का ऐसा अमर, अपार्थिव पूजन ?
जब विषण्ण, निर्जीव पड़ा हो जग का जीवन !
संग-सौध में हो शृंगार मरण का शोभन,
नग्न, क्षुधातुर, वास-विहीन रहें जीवित जन ?

सुमित्रानन्दन पंत विद्रोही विचारों का समर्थन करते हुए जीर्ण पुरातन को नष्ट कर नूतनता को अपनाने का सन्देश देते हैं और कोकिल कवियों का आह्वान करते हैं –

गा, कोकिल, बरसा पावक-कण !
नष्ट-भ्रष्ट हो जीर्ण-पुरातन,
ध्वंस-भ्रंस जग के जड़ बन्धन !
पावक-पग धर आवे नूतन,
हो पल्लवित नवल मानवपन !

निष्प्राण रूढ़ियों और मृतप्राय परम्पराओं को त्याग कर नयी चेतना और संवेदना धारण करने को प्रेरित करते हुए कवि उदयशंकर भट्ट लिखते हैं –

जाग उठा हूँ, जाग उठा हूँ
एक बार फिर मरण निगल कर
साँस-साँस में –
धाराकाश में, नए प्राण भर।
जाग उठा हूँ, जाग उठा हूँ।

छायावादी शैली से विलग हो चुके इसी युग के कवियों ने धार्मिक रूढ़ियों और अन्धविश्वासों पर करारा प्रहार किया है। प्रेम-व्यंजना के कवि रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' ईश्वर के अस्तित्व पर ही प्रश्न-चिह्न लगा देते हैं –

जिसका ले ले नाम युगों से मांस लुटाते तुम रोए।
किन्तु न चेता जो निशि वासर और क्षुधातुर तुम सोए॥

राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' निर्धनों की विपन्नावस्था से विकल हो पूँजीपतियों और सत्ताधारियों को ललकारते हुए कहते हैं –

हटो व्योम के मेघ पंथ से, स्वर्ग लूटने हम आते हैं।
दूध-दूध ओ वत्स, तुम्हारा दूध खोजने हम जाते हैं॥

छायावादी काव्यधारा में काव्य-विचलन का प्रमुख कारण छायावादयुगीन कवियों पर प्रगतिवाद के प्रभाव का शनैः शनैः आरूढ़ होना था। ये कवि देश की यथार्थ स्थितियों से मुँह न मोड़ सके। देश की यथास्थिति को छायावादी काव्य-शैली में समझा पाना उनके लिए मुश्किल हो रहा था। यही कारण है कि निज कविधर्म निभाने एवं भारतीय जनता को जाग्रत करने के लिए छायावादी युग में ही ये कवि छायावादी काव्य-शैली से विचलित हो गए। इनकी यही मनःस्थिति छायावाद में काव्य-विचलन का कारण बनी, जिससे छायावाद का पतन का प्रारम्भ हो गया। तात्पर्य यह है कि छायावादी कविता अपनी समस्त संभावनाओं का उपयोग कर चुकी थी। अब कवियों ने अपनी सार्थक अभिव्यक्ति के लिए अन्य शैली की पड़ताल प्रारम्भ कर दी।

एक ओर गाँधीवाद था तो दूसरी ओर मार्क्सवाद। एक ओर पुनरुत्थानवादी चेतना थी तो दूसरी तरफ प्रगतिशील चेतना दस्तक दे रही थी। एक ओर सामन्ती मूल्यों से छूटने की व्याकुलता थी तो दूसरी ओर आधुनिकता का प्रभाव था। इन द्विधाग्रस्त परिस्थितियों में छायावाद के समापन के साथ-साथ कविता का कलेवर बदल रहा था। यह परिवर्तन अकारण नहीं था बल्कि देश, काल और परिस्थितियों के प्रभावस्वरूप ही इस विचलन का होना सम्भव हुआ। पंत की कविता 'धन्य मार्क्स तुम तमाच्छन्न पृथ्वी के उदय शिखर पर' और निराला की 'भिक्षुक', 'विधवा', 'मास्को डायलॉग्स', 'कुकुरमुत्ता' आदि कविताओं से इस विचलन का शुभारम्भ हो चुका था। माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', रामधारी सिंह दिनकर, सुभद्रा कुमारी चौहान, रामनरेश त्रिपाठी, सियाराम शरण गुप्त, श्यामनारायण पाण्डेय, नरेन्द्र शर्मा, रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' आदि कवियों ने इस विचलन को एक सर्जनात्मक धरातल प्रदान किया।

4.2.3. बोध प्रश्न

वैकल्पिक प्रश्न

1. माखनलाल चतुर्वेदी किस काव्यधारा के रचनाकार हैं –

(क) प्रेम एवं मस्ती काव्यधारा

(ख) राष्ट्रीय काव्यधारा

(ग) प्रगतिवाद

(घ) प्रयोगवाद

2. 'एक भारतीय आत्मा' के नाम से प्रसिद्ध हैं –

(क) जयशंकर प्रसाद

(ख) रामेश्वर शुक्ल 'अंचल'

(ग) माखनलाल चतुर्वेदी

(घ) नरेन्द्र शर्मा

3. 'प्रभात फेरी' के रचनाकार हैं –

(क) हरिकृष्ण प्रेमी

(ख) नरेन्द्र शर्मा

(ग) भगवती चरण वर्मा

(घ) जानकी वल्लभ शास्त्री

4. 'प्रेम एवं मस्ती काव्यधारा' के प्रवर्तक माने जाते हैं –

(क) हृदयेश

(ख) बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

(ग) हरिवंश राय बच्चन

(घ) सुभद्रा कुमारी चौहान

5. इनमें से सुभद्रा कुमारी चौहान की रचना है –

(क) कुंकुम

(ख) पलाश वन

(ग) जलियाँवाला बाग

(घ) समर्पण

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. राष्ट्रीय-सांस्कृतिक काव्यधारा का संक्षिप्त परिचय दीजिए।
2. 'प्रेम एवं मस्ती' काव्यधारा का परिचय दीजिए।
3. राष्ट्रीय-सांस्कृतिक एवं प्रेम एवं मस्ती काव्यधारा के प्रमुख कवियों एवं उनकी रचनाओं का नामोल्लेख कीजिए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. छायावादी कविता की प्रमुख धाराओं का परिचय देते हुए सोदाहरण मूल्यांकनकीजिए।
2. "राष्ट्रीय-सांस्कृतिक काव्यधारा के बिना छायावादी काव्य की प्रासंगिकता संदिग्धहै।" उक्त कथन की तार्किक विवेचना कीजिए।
3. "प्रेम एवं मस्ती के काव्य ने छायावादयुगीन काव्य को एक नया आयाम दिया है।" सोदाहरण सिद्ध कीजिए।
4. काव्य-विचलन के प्रमुख कारणों को उद्घाटित कीजिए।
5. "तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियाँ छायावाद के पतन का कारण बनीं।" उक्त कथन के सन्दर्भ में अपना मत प्रस्तुत कीजिए।

4.2.4. सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

01. हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष, शिवदान सिंह चौहान, स्वराज प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण 2007
02. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
03. हिन्दी साहित्य का सरल इतिहास, डॉ॰ विश्वनाथ त्रिपाठी
04. हिन्दी साहित्य : उद्भव और विकास, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी
05. हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास, बच्चन सिंह
06. हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास, डॉ॰ सुमन राजे
07. छायावाद का पतन, डॉ॰ देवराज
08. हिन्दी साहित्य : स्वरूप और संवेदना का विकास, आचार्य रामस्वरूप चतुर्वेदी
09. चिन्तामणि भाग – 1 व भाग – 2, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
10. छायावाद, नामवर सिंह

❖❖❖

खण्ड – 4 : छायावाद युग : छायावादी काव्य और उसके समानान्तर विकसित गद्य-साहित्य

इकाई – 3 : प्रेमचंद और हिन्दी कथा-साहित्य

इकाई की रूपरेखा

4.3.0. उद्देश्य कथन
4.3.1. प्रस्तावना
4.3.2. प्रेमचंद : व्यक्तित्व एवं कृतित्व
 4.3.2.1. व्यक्ति परिचय
 4.3.2.2. कृतियाँ
4.3.3. प्रेमचंद के उपन्यास : स्वरूप और संरचना
 4.3.3.1. युग चेतना, प्रेरणा और प्रभाव
 4.3.3.2. चरित्र-सृष्टि और संवाद
 4.3.3.3. भाषा-विधान
4.3.4. प्रेमचंद की कहानियाँ : रचना और प्रयोग
 4.3.4.1. युगीन सन्दर्भ
 4.3.4.2. आदर्श एवं जीवन-मूल्यों की स्थापना
 4.3.4.3. शिल्पगत वैशिष्ट्य
4.3.5. सारांश
4.3.6. शब्दावली
4.3.7. उपयोगी ग्रन्थ-सूची
4.3.8. सम्बन्धित प्रश्न

4.3.0. उद्देश्य कथन

छायावादी कविता के समानान्तर ही उत्कृष्ट गद्य-साहित्य की भी रचना की जा रही थी। हिन्दी गद्य विधाओं में कथा-साहित्य सर्वाधिक लोकप्रिय रहा है। हिन्दी कथा-साहित्य के क्षेत्र में मुंशी प्रेमचंद का अपना विशिष्ट स्थान है। युगप्रवर्तक मुंशी प्रेमचंद ने हिन्दी कथा-शिल्प का विकास किया। प्रस्तुत इकाई कथासम्राट् प्रेमचंद-कृत कथा-साहित्य पर केन्द्रित है। प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. प्रेमचंद के व्यक्तित्व एवं कृतित्व की जानकारीप्राप्त कर सकेंगे।
ii. प्रेमचंद के उपन्यासों के आलोक में हिन्दी उपन्यास के स्वरूप एवं संरचना पर प्रकाश डाल सकेंगे।
iii. प्रेमचंद की कहानियों का रचनात्मक अनुशीलन कर सकेंगे।

4.3.1. प्रस्तावना

केवल सतह पर दिखने वाली सच्चाई ही यथार्थ नहीं है । यथार्थ केवल चित्रण की भंगिमा को ही नहीं कहते । यथार्थ तो व्यक्ति और समाज, जीवन और सन्दर्भ के द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध का आकलन है । यह आवश्यक और अनावश्यक का प्रातिनिधिक चित्रण है । प्रेमचंद का कथा-साहित्य यथार्थवाद के क्रमिक विकास को समग्रता में रेखांकित करता है । उसमें तत्कालीन जीवन-परम्परा की विभिन्न विशेषताएँ समाहित हैं । प्रेमचंद के कथा-साहित्य में कथावस्तु, विचार और संरचना का एक सचेत विकास दिखाई पड़ता है । प्रेमचंद ने कभी भी रचना को स्वायत्त स्वीकार नहीं किया है । उनकी रचनाएँ व्यापक जीवन-सन्दर्भ एवं मूल्यों का साक्षात्कार हैं । प्रेमचंद ने जो जिया, वही रचा । जीवन और रचना का अद्वैत उनकी सबसे बड़ी उपलब्धि है । जीना, सोचना और रचना प्रेमचंद की रचना-प्रक्रिया के अभिन्न अंग हैं । प्रेमचंद का कथा-साहित्य अपनी कलात्मकता और यथार्थपरकता के समवेत स्वरूप को लेकर उपस्थित होता है ।

4.3.2. प्रेमचंद : व्यक्तित्व एवं कृतित्व

कथा-साहित्य के क्षेत्र में प्रेमचंद का आगमन एक क्रान्तिकारी परिवर्तन का सूचक है । हिन्दी कथा-साहित्य की विकास-परम्परा में जिन रचनाकारों के रचनात्मक-विधान की साहित्यिकता और अनुभूति की गहराई की चर्चा प्रायः की जाती है, सामान्यतः उनकी कथावस्तु बड़ी संकरी और वह भी कई बार दोहरायी गई प्रतीत होती है । लेकिन प्रेमचंद के व्यक्तित्व एवं कृतित्व में एक विशेष प्रकार की समरूपता के दर्शन होते हैं । उनके कथा-साहित्य की विषयवस्तु सामान्य होते हुए भी न तो कभी संकरी प्रतीत होती है और न ही कभी दोहरायी गई प्रतीत होती है ।

4.3.2.1. व्यक्ति परिचय

कथासम्राट् मुंशी प्रेमचंद का जन्म सन् 1880 ई. में बनारस से लगभग सात मील दूर लमही में एक निर्धन परिवार में हुआ । बचपन से ही वे अध्ययनशील प्रवृत्ति के बालक थे । अध्ययन-मनन-चिन्तन में उनका मन खूब रमा करता । औपचारिक शिक्षा के अनुक्रम में उन्होंने अपनी प्रारम्भिक शिक्षा गाँव में ही पूरी की । कक्षा में वे पूरी तैयारी से जाते । अनुशासन और आत्मीयता के साथ उनका व्यक्तित्व सामान्यतः अपनी कक्षा के अन्य विद्यार्थियों से अलग होता था । उनके शिक्षक उनकी रचनात्मक प्रतिभा व संयमित व्यवहार से बेहद प्रभावित थे । आरम्भ से ही संयम, अपरिग्रह और अनुशासन का जो जीवन उन्होंने चुना था, आगे चलकर उनके सम्पूर्ण व्यक्तित्व पर उसकी गहरी छाप पड़ी । प्रेमचंद ने निर्धनता को कभी अपनी कमजोरी नहीं बनने दिया ।

प्रेमचंद की रचनाओं में बीसवीं शताब्दी की सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक परिस्थितियों का यथार्थ देखा जा सकता है । आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में "प्रेमचंद शताब्दियों से पददलित, अपमानित और उपेक्षित कृषकों की आवाज थे । आप उत्तर भारत की समस्त जनता के आचार-विचार, भाषा-भाव, रहन-सहन,

आशा-आकांक्षा, दुःख-सुख और सूझ-बूझ जानना चाहते हैं तो प्रेमचंद से उत्तम परिचायक आपको नहीं मिल सकता।

4.3.2.2. कृतियाँ

आरम्भ में प्रेमचंद अपने उपन्यास पहले उर्दू में लिखते थे और फिर स्वयं उसका हिन्दी रूपान्तरण करते थे। 'सेवासदन', 'प्रेमाश्रम' और 'रंगभूमि' पहले क्रमशः 'बाज़ारे-हुस्न', 'गोशए-आफ़ियत' और 'चौगाने-हस्तीर' शीर्षक से उर्दू में लिखे गए थे, हालाँकि इनका हिन्दी संस्करण ही पहले प्रकाशित हुआ। इनके बाद के सभी उपन्यासों की रचना उन्होंने सीधे हिन्दी में ही की। प्रेमचंद-कृत उपन्यास निम्नलिखित हैं – 'सेवासदन' (1918), 'वरदान' (1921), 'प्रेमाश्रम' (1922), 'रंगभूमि' (1925), 'कायाकल्प' (1926), 'निर्मला' (1927), 'प्रतिज्ञा' (1929), 'गबन' (1931), 'कर्मभूमि' (1932), 'गोदान' (1936) और मंगलसूत्र (अपूर्ण रचना) (1936)। इन उपन्यासों के अतिरिक्त प्रेमचंद ने लगभग तीन सौ कहानियों की रचना की है जो 'मानसरोवर' के आठ खण्डों में प्रकाशित हैं। इनकी प्रमुख कहानियों में 'पंच परमेश्वर', 'बूढ़ी काकी', 'गृहदाह', 'परीक्षा', 'आपबीती', 'सवा सेर गेहूँ', 'आत्माराम', 'सुजान भगत', 'माता का हृदय', 'कजाकी', 'शतरंज के खिलाड़ी', 'बड़े भाईसाहब', 'नशा', 'ठाकुर का कुआँ', 'ईदगाह', 'पूस की रात', 'बड़े घर की बेटी', 'कफ़न' आदि उल्लेखनीय हैं।

4.3.3. प्रेमचंद के उपन्यास : स्वरूप और संरचना

प्रेमचंद के अनुसार मानव चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्त्व है। हिन्दी औपन्यासिक विधा को प्रेमचंद की देन बहुआयामी है। पहले उन्होंने हिन्दी कथा-साहित्य को 'मनोरंजन' के स्तर से उठा कर जीवन के साथ सार्थक रूप में जोड़ने का प्रयास किया। पराधीनता, निर्धनता, अशिक्षा, अन्धविश्वास, दहेज-प्रथा, नारी की स्थिति, साम्प्रदायिक वैमनस्य, अस्पृश्यता, मध्यमवर्ग की कुण्ठाएँ एवं ज़मींदारों, पूँजीपतियों और सरकारी कर्मचारियों द्वारा किसानों का शोषण आदि तत्युगीन समस्याओं ने उन्हें उपन्यास-लेखन के लिए अभिप्रेरित किया। प्रेमचंद के औपन्यासिक स्वरूप और संरचना के वैशिष्ट्य को निरूपित करते हुए प्रो॰ नित्यानन्द तिवारी का कहना है – "प्रेमचंद ने उपन्यास, साहित्य और जीवन के पारस्परिक सम्बन्ध पर इतनी बार और इतनी तरह से लिखा है कि औपन्यासिक विधान या संरचना सम्बन्धी उनके विचारों पर बहुत अधिक विवाद नहीं हो सकता। वे कला और साहित्यिक नियमों को बड़ी कड़ाई से जीवन प्रसंगों से सम्बद्ध करते हैं। यानी किसी रचना के रूपबंधात्मक नियम सिर्फ जीवन की वास्तविक सामग्री से उत्पन्न होते हैं। घटना, कार्य और चरित्र की आयोजना, अभिव्यक्ति के कलात्मक कौशल, जीवन में निहित गति व्यवस्था के ही प्रतिरूप होते हैं। प्रेमचंद का समस्त साहित्य इस बात की गवाही देता है कि विचार और भाव उन परिस्थितियों के भीतर से उत्पन्न होते हैं जिनके बीच जीवन जिया जाता है। इस प्रकार विचारों और भावों की ठोस, देशकालबद्ध और तात्कालिक सत्ता होती है। साहित्य के खरेपन की जो कसौटी प्रेमचंद ने बतायी है, वही उनके उपन्यासों की संरचना का मुख्य आधार है।"

4.3.3.1. युग चेतना, प्रेरणा और प्रभाव

प्रेमचंद के आगमन के पूर्व हिन्दी कथा-साहित्य में या तो अजीबोगरीब घटनाओं के द्वारा कौतूहल और चमत्कार की सृष्टि की जाती थी अथवा तत्युगीन सामाजिक-सांस्कृतिक आन्दोलनों से प्रभावित समाज-सुधारों का प्रचार-प्रसार ही उसकी उपलब्धि रह गई थी। कथा-साहित्य जीवन की सही अभिव्यक्ति का साधन नहीं बन पाया था। ऐसे में प्रेमचंद का अभ्युदय हिन्दी कथा-साहित्य के इतिहास में एक युगान्तकारी घटना है। उनकी औपन्यासिक कृतियाँ मानवीय व्यवहार और सामाजिक जीवन-यथार्थ से प्रत्यक्ष साक्षात्कार हैं। उनकी रचनाओं में तत्युगीन मानव जीवन की विभिन्न विशेषताएँ समग्रता में परिलक्षित होती हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में जब पूँजीवाद अपनी प्रगतिशील भूमिका छोड़कर युद्धोन्मत्त, विस्तारवादी साम्राज्य का रूप ले चुका था, उस समय भारतीय समाज ईस्ट इंडिया कंपनी के चंगुल से निकलकर सीधे ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन के अधीन आ गया था। अंग्रेज़ों ने भारतीय समाज के पूरे ढाँचे को तोड़ दिया। इस तरह पुराने के छिने जाने और नये के प्राप्त न हो पाने के कारण भारतीय समाज की औपनिवेशिक ज़िन्दगी में एक प्रकार की उदासी घिर गई थी। इस संक्रमणकालीन उदासी को प्रेमचंद अपनी औपन्यासिक कृतियों में पूरी सच्चाई के साथ अभिव्यक्त करते हैं। उनके उपन्यासों में युगीन चेतना, प्रेरणा और प्रभाव को निम्नलिखित बिन्दुओं में परिगणित किया जा सकता है –

(i) प्रेमचंद-पूर्व हिन्दी उपन्यासों की कोई सुव्यवस्थित परम्परा नहीं होने के कारण उनकी प्रारम्भिक रचनाओं में प्रौढ़ता का अभाव परिलक्षित होता है। 'सेवासदन' उनकी पहली प्रौढ़ रचना है जिसके माध्यम से प्रेमचंद के नये औपन्यासिक जीवन का ही नहीं, अपितु हिन्दी उपन्यास के भी नये युग का भी प्रवर्तन हुआ।

(ii) 'सेवासदन' में प्रेमचंद ने भारतीय समाज में विवाह से जुड़ी समस्याओं को कथानक का आधार बनाया है। अपनी इस बहुचर्चित कृति में उन्होंने दहेजप्रथा, कुलीनता का प्रश्न, विवाह के उपरान्त घर में नारी की स्थिति और समाज में वेश्याओं की स्थिति जैसी सामाजिक समस्याओं को गहाराई से स्पर्श किया है।

(iii) केवल महात्मा गाँधी से प्रभावित होने के कारण ही नहीं, अपितु मानवतावादी दृष्टि के कारण भी देश की सामाजिक-राजनैतिक समस्या प्रेमचंद के चिन्तन का मुख्य विषय थी। देश की पराधीनता के एहसास से उत्पन्न पीड़ा उनके 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि', 'कायाकल्प', 'गबन' और 'कर्मभूमि' उपन्यासों में स्थान-स्थान पर अभिव्यक्त हुई है।

(iv) तत्युगीन साम्प्रदायिक समस्याओं से प्रेमचंद बेखबर नहीं थे। इस समस्या को उन्होंने 'सेवासदन' और विशेष रूप से 'कायाकल्प' में अत्यन्त ही प्रभावी तरीके से प्रस्तुत किया है।

(v) तत्युगीन उच्चवर्गीय और मध्यमवर्गीय समाज में नारी की स्थिति तथा अपने अधिकारों के प्रति उसकी उभरती हुई जागरूकता का चित्रण उन्होंने अपने सभी उपन्यासों में किया है।

(vi) प्रेमचंद की औपन्यासिक कृतियों में तत्युगीन सामाजिक समस्याओं का जीवन्त चित्रण मिलता है। उदाहरण के लिए 'सेवासदन', 'कर्मभूमि' और 'गोदान' में अन्तर्जातीय विवाह के मसले को उठाया गया है। 'प्रतिज्ञा' में विधवा-विवाह के मुद्दे को उठाया गया है। समाज में दलितों की स्थिति और उनकी समस्याओं का चित्रण 'कर्मभूमि' में मिलता है। 'रंगभूमि' में प्राचीन मूल्यों के विघटन तथा पूँजीवाद के बढ़ते प्रभाव का अंकन किया गया है।

(vii) मध्यम वर्ग की कुण्ठाओं का सबसे सटीक चित्रण 'गबन' और 'निर्मला' में परिलक्षित होता है। 'सेवासदन' और 'कर्मभूमि' में भी इसका वास्तविक वर्णन हुआ है।

(viii) प्रेमचंद के उपन्यासों में समस्याओं और उनके आदर्शवादी समाधानों का महत्त्व उत्तरोत्तर कम होता गया है जबकि मानव जीवन-व्यवहार की ताज़गी और यथार्थ-निरूपण व्यापक होता गया है। उदाहरण के तौर पर उनकी अन्तिम कृति 'गोदान' में सामान्य जीवन की सशक्त अभिव्यक्ति हुई है।

प्रेमचंद की औपन्यासिक कृतियों में विकासमान रचनात्मक विन्यास और आशय अपनी पूरी समग्रता में निहित हैं। उनके उपन्यास जीवन की विविधता और महानता से परिचित कराते हैं। उनके उपन्यासों की बुनावट और संरचना में आदर्शवादी ढाँचे की भूमिका महत्त्वपूर्ण है तथापि उनकी रचनात्मक शक्ति आदर्शवादी ढाँचे को धीरे-धीरे तोड़ डालती है। उनके उपन्यासों में आदर्शवादी और यथार्थवादी शक्तियों का तनाव या अन्तर्विरोध विद्यमान है।

4.3.3.2. चरित्र-सृष्टि और संवाद

प्रेमचंद के अनुसार चरित्र को उत्कृष्ट और आदर्श बनाने के लिए यह जरूरी नहीं है कि वह निर्दोष हो। वे मानते हैं कि महान् से महान् पुरुषों में भी कुछ कमजोरियाँ होती हैं। चरित्र को सजीव बनाने के लिए उसकी कमजोरियों का दिग्दर्शन कराने से कोई हानि नहीं होगी बल्कि यही कमजोरियाँ चरित्र को मनुष्य बना देंगी। निर्दोष चरित्र तो देवता हो जाएगा और हम उसे समझ ही नहीं सकेंगे। ऐसे चरित्र का हमारे उपर कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता। यही कारण है कि उनके समस्त पात्र हमें अपने बीच के से लगते हैं। उनकी कथा हमारे अपने आस-पास घटित हो चुकी घटना जैसी प्रतीत होती है।

प्रेमचंद के उपन्यासों में पात्र कठपुतली मात्र नहीं हैं। उनकी चरित्र-सृष्टि में उपयोगितावादी दृष्टिकोण अन्तर्निहित है। डॉ॰ नगेन्द्र के अनुसार प्रेमचंद के साहित्य पर सर्वत्र शिव का शासन है, सत्य और सुन्दर शिव के अनुचर होकर आते हैं। उनकी कला स्वीकृत रूप में जीवन के लिए थी और जीवन का अर्थ उनके लिए वर्तमान सामाजिक जीवन ही था।" प्रेमचंद ने पात्रों की संयोजना करते समय मानव-मूल्यों को हमेशा स्मरण रखा है। वे अपने पात्रों को एक मनुष्य के रूप में देखते हैं, इसलिए उसमें गुणों के साथ-साथ दोषों का भी समावेश दिखाते हैं। उनके औपन्यासिक पात्र 'व्यक्ति चरित्र' होते हुए भी 'समूह चरित्र' प्रतीत होते हैं। 'गोदान' में होरी का चरित्र एक कृषक का चरित्र है। एक सामान्य किसान में जो गुण-दोष होते हैं, वे सब होरी के चरित्र में देखे जा सकते हैं। रायसाहब ज़मींदार वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं। मेहता बुद्धिजीवी वर्ग के प्रतिनिधि हैं। गोबर प्रगतिशील चेतना

से युक्त नवयुवक वर्ग का प्रतिनिधि है। इन सबके चरित्र-चित्रण में उपन्यासकार ने उनके दोषों को यथावत रहने दिया है।

प्रेमचंद अपनी रचनाओं में छोटे-से-छोटे पात्र की भी अवहेलना नहीं करते हैं। उनकी दृष्टि में प्रत्येक पात्र का अपना महत्त्व है इसलिए सभी पात्र चाहे वे बड़े हों या छोटे, अपनी सम्पूर्ण विशिष्टताओं के साथ प्रस्तुत होते हैं। प्रेमचंद ने पात्रों का चयन प्रत्येक क्षेत्र से किया है। वे अपनी चरित्र-योजना में खलनायक की नयी परिकल्पना प्रस्तुत करते हैं। वे वास्तव में किसी व्यक्ति को नहीं, अपितु समाज, समूह, वर्ग, व्यवस्था, परम्परा, रूढ़ियों आदि को खलनायक बनाते हैं। प्रेमचंद के उपन्यासों में चरित्र-सृष्टि के वैशिष्ट्य को निम्नलिखित बिन्दुओं के अन्तर्गत परिगणित किया जा सकता है –

(i) प्रेमचंद के उपन्यासों में पात्र-योजना सजीव एवं स्वाभाविक है।
(ii) किसी पात्र विशेष के प्रति अनुचित मोह अथवा पक्षपात प्रेमचंद के उपन्यासों में नहीं मिलता है।
(iii) प्रेमचंद के पात्र अतिमानवीय न होकर मानवीय हैं। उनके पात्र वास्तविक जीवन से सम्बन्धित हैं।
(iv) प्रेमचंद अपनी रचनाओं का चारित्रिक विधान मनोवैज्ञानिक दृष्टि करते हैं।
(v) प्रेमचंद के पात्रों में गतिशीलता है। उनका मानसिक अन्तर्द्वन्द्व कथा-विकास में सहायक बनता है।
(vi) चरित्र-चित्रण में प्रेमचंद पात्र की वैयक्तिक विशेषताओं में पैठते हुए भी देशकाल व वातावरण के अनुसार उसका उत्थान और पतन होता दिखाते हैं। इस प्रक्रिया में सारा व्यापार अत्यन्त स्वाभाविक एवं सुलभ हो उठता है। उदाहरण के तौर पर 'कायाकल्प' में चक्रधर और 'रंगभूमि' में विनय सिंह का पतन उल्लेखनीय है।
(vii) मानवीय व्यवहारों के आलोक में भावों व विचारों की गुत्थियों की उलझन व्युत्पन्न करने और फिर उन्हें सुलझाने में प्रेमचंदनिपुण हैं।
(viii) प्रेमचंद भाव और आदर्श के बीच नहीं अपितु परिस्थितियों के बीच अपने पात्र-विन्यास को धारण करते हैं।
(ix) प्रेमचंद के प्रायः सभी औपन्यासिक पात्र प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष ढंग से विभिन्न सामाजिक सम्बन्धों को अभिव्यक्त करते हैं।
(x) घटनापरक चारित्रिक विकास प्रेमचंद के उपन्यासों में प्रतिफलित है। वे अपने पात्रों का कलात्मक सामग्री के रूप उपयोग करते हैं।

चरित्र-चित्रण के लिए शब्दचित्र ही एकमात्र साधन नहीं है, प्रभावी संवाद-योजना के सहारे इस कार्य को और भी कुशलतापूर्वक निष्पादित किया जा सकता है। पात्रों की बातचीत से उनके चरित्र की विशेषता दिखाने में प्रेमचंद कुशल हैं। उदाहरण के लिए 'गोदान' की धनिया धाराप्रवाह बोलने वाली बातूनी स्त्रियों का प्रतिनिधित्व करती है जो अपनी अकाट्य तर्कपूर्ण बातों से बड़े-बड़ों को अवाक् कर देती है।

अपनी औपन्यासिक कृतियों में प्रेमचंद संवादों की स्वाभाविकता, पात्रानुकूलता, मर्मस्पर्शिता, नाटकीयता एवं भावात्मकता पर विशेष बल देते हैं। वैसे तो कहीं-कहीं संवाद लम्बे हो गए हैं, लेकिन ऐसा प्रायः तभी हुआ है जब प्रेमचंद अपने पात्रों से दार्शनिक विवेचन कराते हैं। प्रेमचंद के पात्र ऐसी तार्किकता दिखाते हैं कि वह बड़े से बड़े बुद्धिजीवी को निरुत्तर कर दे। उदाहरण के तौर पर 'रंगभूमि' का सूरदास का कहता है – "आप लोग वास्तव में मेरी सहायता करने नहीं आए, मुझसे दुसमनी करने आये हैं। हाकिमों के मन में, फौज के मन में, पुलिस के मन में जो दया और धरम का ख्याल आता, उसे आप लोगों ने जमा होकर क्रोध बना दिया है। मैं हाकिमों को दिखा देता कि एक दीन, अन्धा आदमी एक फौज को कैसे पीछे हटा देता है, तोप का मुँह कैसे बंद कर देता है, तलवार की धार कैसे मोड़ देता है। मैं धरम के बल से लड़ना चाहता था।"

अपने कथा-साहित्य के माध्यम से प्रेमचंद अपने पाठकों का जीवन-संघर्ष के विविध आयामों से व्यावहारिक परिचय कराते हैं। वे दिखलाना चाहते हैं कि इंसान जब सबकुछ से वंचित हो जाए, तब भी उसमें एक ऐसी ताकत होती है जिसके बल पर वह फिर से खड़ा हो सकता है। इस सन्दर्भ में उनके बहुचर्चित उपन्यास 'रंगभूमि' की संवाद-योजना सर्वहारा वर्ग की आस्था का एक महान् प्रतीक बन पड़ी है –

मिठुआ ने पूछा : दादा, अब हम रहेंगे कहाँ ?

सूरदास : दूसरा घर बनाएँगे।

मिठुआ : और जो कोई फिर आग लगा दे ?

सूरदास : तो हम फिर बनाएँगे।

मिठुआ : और फिर आग लगा दे ?

सूरदास : तो हम भी फिर बनाएँगे।

मिठुआ : और जो कोई हजार बार लगा दे ?

सूरदास : तो हम हजार बार बनाएँगे।

प्रेमचंद लोगों के मध्य की फूट, वैमनस्य और साम्प्रदायिकता की खाई को पाटना चाहते हैं। वे एक ऐसे समाज की संकल्पना करते हैं जिसमें प्रत्येक व्यक्ति केवल अपने लिए ही नहीं, दूसरों के लिए भी जिये। प्रेमचंद के उपन्यासों में संवाद-योजना के वैशिष्ट्य को निम्नलिखित बिन्दुओं के अन्तर्गत परिगणित किया जा सकता है –

(i) प्रेमचंद ने अपनी औपन्यासिक कृतियों में संवादों का उपयोग कथावस्तु को आगे बढ़ाने में तथा पात्रों के चरित्र-उद्घाटन में विशेष रूप से किया है।

(ii) पात्रों के द्वन्द्व और उनके चरित्र की मनोदशाओं के उद्घाटन में संवाद-योजना सहायक सिद्ध हुई है।

(iii) सूच्य और स्थितिमूलक भावात्मक संवादों के मिश्रित तत्त्वों का उपयोग कर प्रेमचंद ने संवाद-संयोजना का अद्भुत संस्कार किया है। चारित्रिक क्रिया-कलापों, अवसादपूर्ण क्षणों और गम्भीर उत्तरदायित्वपूर्ण कर्मों के प्रसंगों में संयोजितसंवाद बेजोड़ हैं।

(iv) प्रेमचंद की संवाद-योजना का यह वैशिष्ट्य है कि उनके पात्र जो बात या कथन अन्य व्यक्तियों की उपस्थिति में प्रकट नहीं कर पाते, वह बात या कथन वे लोग 'एकान्त भाषण' द्वारा सहजतापूर्वक अभिव्यक्त कर देते हैं।

(v) प्रेमचंद की संवाद-योजना में सरलता, संक्षिप्तता, सजीवता और प्रवाहमयता आदि गुण सर्वत्र परिलक्षित होते हैं।

4.3.3.3. भाषा-विधान

प्रेमचंद के भाषिक-विधान ने हिन्दी उपन्यास को विशिष्ट स्तर प्रदान किया है। शब्द-चयन तथा वाक्य-योजना की दृष्टि से उनके उपन्यासों की भाषा सरल, सहज और बोलचाल की भाषा के बहुत निकट है। भाषा की इस सरलता को निर्जीवता, एकरसता और अकाव्यात्मकता का पर्याय नहीं कहा जा सकता है। उनके उपन्यासों में भाषा का वैविध्य जितने स्तरों पर दिखाई देता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। भाषा के सटीक, सार्थक और व्यंजनापूर्ण प्रयोग में वे अपने समकालीन ही नहीं, अपितु परवर्ती उपन्यासकारों को भी पीछे छोड़ देते हैं।

प्रेमचंद का भाषा पर जबरदस्त अधिकार था। अपने आदर्श भाषिक-विधान द्वारा उन्होंने हिन्दी उपन्यास को सम्प्रेषणीयता का एक सशक्त माध्यम प्रदान किया है। वे भाषा को साधन मानते हैं, साध्य नहीं। उनके अनुसार साहित्य केवल उसी रचना को कहा जा सकता है जिसमें कोई सच्चाई हो, जिसकी भाषा प्रौढ़ एवं परिमार्जित हो, जिसमें दिल और दिमाग पर असर डालने की क्षमता हो। प्रेमचंद के उपन्यासों में भाषिक-विधान के वैशिष्ट्य को इस प्रकार परिगणित किया जा सकता है –

(i) प्रेमचंद के उपन्यासों की भाषा पात्रानुकूल है। गाँव के पात्र ग्रामीण भाषा एवं ग्राम्य शब्दों का प्रयोग करते हैं, जबकि शहरी पात्र अपनी बोलचाल में अंग्रेज़ी भाषा के शब्दों का प्रयोग करते हैं।

(ii) प्रेमचंद के पात्रों की भाषा-शैली मनोभाव एवं व्यवहार के अनुरूप प्रायः बदलती रहती है।

(iii) प्रसंगानुकूल मुहावरों, लोकोक्तियों, उपमाओं और हास्य-व्यंग्य के पुट भी उनके उपन्यासों में उल्लेखनीय हैं। हालाँकि, उन्होंने अपनी अधिकांश उपमाएँ ग्रामीण जीवन से ग्रहण की हैं; यथा – "गाय मन मारे उदास बैठी थी, जैसे कोई वधू ससूराल आयी हो।" (– गोदान)

(iv) भाषा को सक्षम बनाने के लिए प्रेमचंद ने प्रसंगानुकूल अप्रस्तुतों, दृष्टान्तों, प्रतीकों एवं बिम्बों का आश्रय ग्रहण किया है।

(v) प्रेमचंद के उपन्यासों की भाषा प्रायः घटना से अर्थ ग्रहण करती है। वे भाषा की गूढ़ता और सरलता के प्रति अपेक्षाकृत अधिक सचेत हैं। यही वजह है कि उनकी भाषा स्वायत्त नहीं है।

प्रेमचंद का औपन्यासिक विधान साहित्यिक आस्वाद की क्रान्तिकारी व्याख्या है । उसमें जीवन की परिस्थितियों में अन्तर्विरोधी टकराव और उसके परिणामस्वरूप गति में परिवर्तन यानी यथार्थ जीवन की गति व्यवस्था की ओर रुचि की अभिमुखता है । उनके उपन्यासों की अन्तर्वस्तु घटना में नहीं है, अपितु घटनाओं में अन्तर्वस्तु का विस्तार है। प्रेमचंद का औपन्यासिक विधान अन्तर्वस्तु प्रधान है ।

4.3.4. प्रेमचंद की कहानियाँ : रचना और प्रयोग

हिन्दी साहित्य में आधुनिक चेतना का प्रवेश भारतेन्दुयुग से हुआ । भारतेन्दुयुग में यह चेतना गद्य के माध्यम से अभिव्यक्त हुई । यह हिन्दी गद्य तत्कालीन जनजागरण का हेतु और औपनिवेशिक सत्ता के विरोध का माध्यम बना। हिन्दी गद्य के विकास का दूसरा चरण द्विवेदीयुग है और मुंशी प्रेमचंद हिन्दी गद्य के विकास के तीसरे चरण के केन्द्रीय रचनाकार हैं। उनकी कहानियाँ मानव जीवन-संग्राम की गद्यात्मक अभिव्यक्ति का सशक्त रूप हैं। मुंशी प्रेमचंद हिन्दी के युगप्रवर्तक कहानीकार के रूप में प्रतिष्ठित हैं। पहले वे 'नवाबराय' के नाम से उर्दू में लिखते थे । उर्दू में लिखा हुआ उनका कहानी-संग्रह 'सोजे वतन' (1907) में प्रकाशित हुआ था। स्वातन्त्र्य-भावना से ओत-प्रोत होने के कारण इस कहानी-संकलन को विदेशी हुकूमत ने ज़ब्त कर लिया। बाद में वे हिन्दी में 'प्रेमचंद' के नाम लिखने लगे और उनका यही नाम हिन्दी कथा-साहित्य में प्रतिष्ठित हो गया। उनकी पहली हिन्दी कहानी 'पंच परमेश्वर' सन् 1916 ई. में प्रकाशित हुई थी। प्रेमचंद ने अपने जीवनकाल में लगभग तीन सौ कहानियों की रचना की है जो 'मानसरोवर' के आठ खण्डों में संकलित हैं।

4.3.4.1. युगीन सन्दर्भ

परिमाण में अत्यधिक होने पर भी प्रेमचंद की कहानियों में विषय-वैविध्य परिलक्षित होता है । किसी अन्य कथाकार ने उनकी भाँति जीवन के इतने व्यापक एवं विस्तृत फलक को अपनी कहानियों में नहीं समेटा है। उनकी कहानियाँ अपने परिवेश से, अपने आस-पास के जीवन से जुड़ी हैं। उनकी अधिकांश कहानियों का विषय ग्रामीण जीवन से गृहीत है। कहानियों के पात्र विभिन्न वर्ग, धर्म और जाति के हैं। तत्युगीन समस्याओं के सन्दर्भ में उन्होंने ज़मींदारों द्वारा किसानों के शोषण की समस्या, सूदखोरों के शोषण से पिसते ग्रामीणों की समस्या, रूढ़ियों और अन्धविश्वासों में उलझे लोगों की समस्या, संयुक्त परिवार की समस्या, भ्रष्टाचार एवं व्यक्तिगत जीवन की समस्या आदि को अपनी कहानियों में प्रमुखता से उजागर किया है। इस प्रकार उनका रुझान जीवन के चारों ओर व्याप्त यथार्थ में था।

यद्यपि कलात्मक विकास की दृष्टि से प्रेमचंद की कहानियों को उपखण्डों में विभाजित करना तर्कसंगत नहीं है तथापि सन् 1930 ई. को एक अस्पष्ट विभाजक रेखा के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। जिन विषम और संघर्षपूर्ण स्थितियों में प्रेमचंद की कहानी सृजन-यात्रा आरम्भ होती है, उनमें विभिन्न आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक दबावों का कहानी में ध्वनित होना स्वाभाविक प्रक्रिया है । ये विभिन्न दबाव एक मायने में प्रेमचंद के मूल स्वरों को भी परिवर्तित करते हैं । हालाँकि, इसके पीछे समसामयिक समस्याएँ, आर्थिक

प्रताड़नाएँ, कुण्ठाएँ, विसंगतियाँ और युग की अविश्वसनीयता भी हैं। प्रेमचंद विडम्बनाओं और विसंगतियों के साथ जीवन-निर्वाह करने वाले मनुष्य के जीवन की क्रूर सच्चाइयों को चुनौती के रूप में स्वीकार करते हुए मनुष्य और सम्पूर्ण समाज के विरुद्ध रची गई साजिशों का रचना एवं कर्म दोनों स्तरों पर प्रतिरोध करना चाहते हैं। प्रेमचंद विभिन्न सामाजिक स्तरों पर छाये हुए निराश मानसिकता के वातावरण को निष्प्रभ करते हुए सामाजिक एवं मानवीय सन्दर्भों को अपनी कहानियों के माध्यम से प्रस्तुत करते हैं और नव-निर्माण पर बल देते हैं। वे संवेदनाओं और भावनाओं को आधुनिकता से जोड़कर मनुष्य और युगीन परिस्थितियों के मध्य तादात्म्य स्थापित करने का प्रयास करते हैं।

4.3.4.2. आदर्श एवं जीवन-मूल्यों की स्थापना

अपनी समकालीन चेतना के प्रति प्रेमचंद बेहद सतर्क और जागरूक हैं। उनका लेखन न केवल एक सचेत प्रक्रिया है, अपितु उसमें एक गहन संवेदनात्मक मानवीय सक्रियता भी है। उनकी 'पूस की रात', 'तावान', 'बड़े भाईसाहब', 'ठाकुर का कुआँ', 'ईदगाह' आदि कहानियाँ आन्तरिक माँग का सहज प्रतिफलन हैं। यह वह समय था जब अंग्रेज़ी शिक्षा-प्राप्त भारतीयों के समुदाय काले अंग्रेज़ में बदल रहे थे। प्रेमचंद भारतीय संस्कृति के अध्येता हैं। वे यह भली-भाँति जानते हैं कि भोग-विलास भारतीय संस्कृति में हेय हैं। यहाँ त्याग और परमार्थ मानव जीवन के परम लक्ष्य हैं। पश्चिम के वैभव और विलास की चकाचौंध एक सच्चे भारतीय को कदापि प्रभावित नहीं कर सकती। बुद्धिजीवी वर्ग की द्विधाग्रस्त स्थिति को भाँपकर प्रेमचंद ने अपनी कहानियों के माध्यम से आदर्श एवं जीवन-मूल्यों की पुनर्स्थापना करते हुए भारतीय जनता को भौतिकवादी चमक-दमक और ऐश्वर्य के प्रलोभन से अप्रभावित रखने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी है।

अपनी संवेदनशील लेखनी के माध्यम से जीवन की मार्मिक कथा को वहन करते प्रेमचंद जीवन-मूल्यों एवं आदर्शों के प्रति बेहद सचेत हैं। इसलिए मोह और मोहभंग की उनकी अतिपरिचित मुद्राएँ उनके आन्तरिक एकालाप को मानवीय संलाप से सीधा जोड़ देती है। जन सामान्य के जीवन में भरी दहशत, आम आदमी का संवेदनाओं से छिन्न होने का अनुभव, मानवीय ऊष्मा की पतली होती जाती धार – प्रेमचंद बिना किसी बौखलाहट के इन सभी विकट स्थितियों से कुशलतापूर्वक निबटते हैं। प्रेमचंद की कहानियों में आदर्श एवं जीवन-मूल्यों की स्थापनार्थ किये गए उद्यमों को निम्नलिखित बिन्दुओं के अन्तर्गत परिगणित किया जा सकता है –

(i) मानव चरित्र के सूक्ष्म उद्घाटन के साथ व्यावहारिक मनोविज्ञान का पुट देकर प्रेमचंद ने अपनी कहानियों को नीतिपरक बना दिया है।

(ii) प्रेमचंद का आदर्शवादी दृष्टिकोण, परम्परागत मूल्यों में उनकी आस्था और उनका इच्छित विश्वास उनकी प्रारम्भिक कहानियों पर हावी रहे हैं। इस परिप्रेक्ष्य में 'पंच परमेश्वर', 'आत्माराम', 'नमक का दारोगा' आदि कहानियाँ उल्लेखनीय हैं।

(iii) अपनी 'बूढ़ी काकी', 'शतरंज के खिलाड़ी', 'कजाकी', 'इस्तीफ़ा', 'पूस की रात', 'ईदगाह', 'बड़े भाईसाहब' आदि परवर्ती कहानियों में प्रेमचंद जीवन की सच्चाई को उसके नग्नतम रूप में ही देखने का प्रयास करते हैं और साथ ही, उसके वास्तविक कारणों की पड़ताल भी करते हैं।

(iv) यद्यपि प्रेमचंद का रुझान जीवन के चारों ओर व्याप्त यथार्थ की ओर है तथापि उनका आदर्शवादी दृष्टिकोण ही उनकी कहानियों में पूरी तरह से घुला हुआ है।

(v) प्रेमचंद की कहानियाँ किसी काल्पनिक संसार की उपज नहीं है, बल्कि वह एक ठोस ज़मीन से उठाए गए दृश्यों का संकलन है। प्रेमचंद एक ऐसे लोक-रचनाकार हैं जो तत्युगीन समाज की मनोदशा को सूत्रधार की तरह अपने इशारों पर उपस्थित एवं अदृश्य करना चाहते हैं और कहीं भी मानवीय आदर्श एवं जीवन-मूल्यों से विचलित नहीं होते।

4.3.4.3. शिल्पगत वैशिष्ट्य

प्रेमचंद की कहानियों का शिल्प-विधान उत्तरोत्तर विकास-पथ पर अग्रसर रहा है। उनकी प्रारम्भिक कहानियों में इतिवृत्तात्मकता अधिक है तथा चरित्र-चित्रण की मनोवैज्ञानिकता के स्थान पर व्यक्ति के आचरण का वर्णन अधिक किया गया है। 'पंच परमेश्वर', 'आत्माराम' आदि कहानियाँ इसी श्रेणी की रचनाएँ हैं। उनकी परवर्ती कहानियों में कथानक प्रायः छोटे एवं संश्लिष्टहोते गए हैं तथा कहानी की मूल संवेदना को उभारने वाली दो-तीन घटनाओं पर ही पूरा जोर है। अपनी बाद की कहानियों में वे पात्रों का चरित्रांकन मनोवैज्ञानिक आधार पर करते हैं तथा द्वन्द्व एवं समस्या के माध्यम से रचना को चरमसीमा तक पहुँचाने का सार्थक प्रयास करते हैं। प्रेमचंद की कथा-शैली मनोभाव के अनुरूप प्रायः बदलती रहती है। प्रायः वे पात्रों का विवरण देते समय रेखाचित्र शैली का प्रयोग करते हैं तो विषयवस्तु का विवेचन करते समय विवरणात्मक शैली का प्रयोग करते हैं। इसी प्रकार प्रसंगानुकूल कहीं वे भावात्मक शैली का प्रयोग करते हैं तो कहीं आलंकारिक शैली का उपयोग करते दिखाई देते हैं।

4.3.5. सारांश

मानवीय चेतना प्रेमचंद के कथा-साहित्य की अर्जित सम्पत्ति है। मानव उनकी रचनाओं में आधारभूत इकाई बनकर उपस्थित हुआ है। वे मनुजता के नष्ट होने से दुःखी होते हैं। उन्होंने गाँधीवादी और मार्क्सवादी विचारधारा के उन्हीं सारभूत तत्त्वों को जीवन में अन्तर्भुक्त किया है जिससे मनुष्य और मनुष्यता का विकास होता है। वे कला को एक सामाजिक वस्तु मानते हैं। वे रचना को केवल मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया ही नहीं, सांस्कृतिक प्रक्रिया भी मानते हैं। कथा-साहित्य प्रेमचंद के लिए जीवन की पुनर्रचना है।

4.3.6. शब्दावली

कथावस्तु	:	कथानक
सृजन	:	निर्माण

पददलित	:	शोषित
आधारभूत	:	केन्द्रीय
मनुजता	:	मनुष्यता

4.3.7. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

1. शर्मा, मोहिनी, हिन्दी उपन्यास और जीवन-मूल्य, साहित्यागार, जयपुर.
2. ठाकुर, देवेश, साहित्य की सामाजिक भूमिका, संकल्प प्रकाशन, मेरठ.
3. टंडन, डॉ० प्रताप नारायण, हिन्दी उपन्यास कला, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, लखनऊ.
4. मिश्र, आचार्य भगीरथ, कला, साहित्य और समीक्षा, भारतीय साहित्य मन्दिर, दिल्ली.
5. चतुर्वेदी, रामस्वरूप, हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद.
6. वर्मा, धीरेन्द्र, हिन्दी साहित्य, भारतीय हिन्दी परिषद्, प्रयाग.

4.3.8. सम्बन्धित प्रश्न

टिप्पणी लिखिए –

1. प्रेमचंद की कहानी-कला
2. प्रेमचंद की आदर्शवादी कहानियाँ
3. कथासम्राट् मुंशी प्रेमचंद
4. प्रेमचंद के उपन्यासों का शिल्पगत वैशिष्ट्य
5. प्रेमचंद के कथा-साहित्य में जीवन-यथार्थ

दीर्घ उत्त्रीय प्रश्न

1. "जीवन के प्रत्येक पक्ष की गुत्थियों को सुलझाने का प्रयत्न प्रेमचंद ने अपने कथा-साहित्य में किया है।" उक्त कथन की विवेचना कीजिए।
2. प्रेमचंद के उपन्यासों की संरचना पर प्रकाश डालिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. 'सोजे वतन' का प्रकाशन किस वर्ष हुआ ?

(क) सन् 1907 ई. में

(ख) सन् 1908 ई. में

(ग) सन् 1909 ई. में

(घ) सन् 1910 ई. में

2. प्रेमचंद की पहली कहानी है –

(क) पंच परमेश्वर

(ख) बूढ़ी काकी

(ग) बड़े घर की बेटी

(घ) पूस की रात

3. प्रेमचंद की कहानियाँ 'मानसरोवर' के कितने खण्डों में संकलित हैं ?

(क) पाँच

(ख) सात

(ग) आठ

(घ) दस

4. प्रेमचंद की दृष्टि में उपन्यास है –

(क) मानव चरित्र का चित्र

(ख) मानव समाज का चित्र

(ग) मानवीय आदर्शों का चित्र

(घ) उपर्युक्त सभी

5. प्रेमचंद का अन्तिम उपन्यास है –

(क) गोदान

(ख) सेवासदन

(ग) रंगभूमि

(घ) इनमें से कोई नहीं

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 4 : छायावाद युग : छायावादी काव्य और उसके समानान्तर विकसित गद्य-साहित्य

इकाई – 4 : प्रसाद और उनके समकालीन नाटककार

इकाई की रूपरेखा

4.4.0. उद्देश्य कथन
4.4.1. प्रस्तावना
4.4.2. प्रसाद के नाटक : स्वरूप और प्रयोग
4.4.2.1. प्रसाद के नाटक
4.4.2.2. नाट्य-साहित्य की अन्तश्चेतना
4.4.2.3. युग परिवेश
4.4.2.4. चारित्रिक वैशिष्ट्य
4.4.2.5. शिल्प-विधान
4.4.3. प्रसाद के समकालीन नाटककार
4.4.3.1. हरिकृष्ण प्रेमी
4.4.3.2. लक्ष्मीनारायण मिश्र
4.4.3.3. सेठ गोविन्ददास
4.4.3.4. गोविन्द बल्लभ पंत
4.4.3.5. उपेन्द्रनाथ 'अश्क'
4.4.3.6. उदयशंकर भट्ट
4.4.3.7. वृन्दावनलाल वर्मा
4.4.4. सारांश
4.4.5. शब्दावली
4.4.6. उपयोगी ग्रन्थ-सूची
4.4.7. सम्बन्धित प्रश्न

4.4.0. उद्देश्य कथन

हिन्दी-नाट्य साहित्य के विकास में जयशंकर प्रसाद और उनके समकालीन नाटककारों का अप्रतिम योगदान है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने हिन्दी नाट्य-साहित्य को जो साहित्यिक भूमिका प्रदान की थी, कालान्तर में उसे प्रसाद एवं प्रसादयुगीन नाटककारों ने पूरी ईमानदारी व निष्ठा के साथ विकसित किया। प्रस्तुत इकाई जयशंकर प्रसाद और उनके समकालीन नाटककारों पर केन्द्रित है। प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. प्रसाद की नाट्य-प्रतिभा से परिचित हो सकेंगे।
ii. स्वरूप और प्रयोग के आलोक में प्रसाद के नाटकों का विवेचन कर सकेंगे।
iii. प्रसाद के समकालीन नाटककारों के रचनात्मक अवदान से परिचित हो सकेंगे।

4.4.1. प्रस्तावना

हिन्दी नाट्य-साहित्य के क्षेत्र में जयशंकर प्रसाद का आगमन एक युगान्तर प्रस्तुत करता है। प्रसाद के समय तक हिन्दी रंगमंच का पूर्ण विकास नहीं हो पाया था। प्रसाद ने अपने ढंग से साहित्यिक रंगमंच की परिकल्पना की और उसी के अनुरूप नाटक लिखे। इस तरह उन्होंने रचनात्मकता की नयी दिशाएँ उद्घाटित कीं। अतः प्रसाद का आविर्भाव हिन्दी नाट्य-साहित्य के क्षेत्र में एक नयी दिशा का संकेत है। डॉ॰ गोपाल राय के शब्दों में – "प्रसाद की कठिनाई यह थी कि वे जिस प्रकार के नाटक लिखना चाहते थे, उनके अनुरूप हिन्दी में रंगमंच नहीं था। हिन्दी का शौकिया रंगमंच नितान्त अविकसित था, फलतः प्रसाद ने साहित्यिक रंगमंच की स्वयं परिकल्पना की और इस मानसिक रंगमंच की पृष्ठभूमि में ही अपने नाटक लिखे।" उनका सम्पूर्ण नाट्य-साहित्य अपनी गम्भीरता, प्राञ्जलता, कलात्मकता, भाषा-शैली, वैचारिक क्षमता आदि से परिपूर्ण है। अपने रचनात्मक वैशिष्ट्य के कारण वह हिन्दी साहित्य की स्थायी निधि बना हुआ है। तत्युगीन अन्य महत्त्वपूर्ण नाटककारों ने भी प्रसाद की नाट्य-परम्परा, मौलिकता और आधुनिक सृजनशील चेतना को अपनाकर हिन्दी नाट्य-विधा का नया विन्यास किया है।

4.4.2. प्रसाद के नाटक : स्वरूप और प्रयोग

जयशंकर प्रसाद ने कुल तेरह नाटकों की सर्जना की जिनमें से आठ नाटक ऐतिहासिक हैं, तीन नाटक पौराणिक हैं जबकि दो नाटक भावात्मक श्रेणी में रखे जा सकते हैं। जयशंकर प्रसाद एक प्रयोगधर्मी रचनाकार हैं। उनकी रचनाओं में दोहराव नहीं है। अपने नाटकों में विषय और शिल्प दोनों ही दृष्टियों से उन्होंने निरन्तर नूतन प्रयोग किये हैं। यद्यपि विकसित रंगमंच नहीं मिलने के कारण उनके नाटकों में शिल्पगत प्रयोग व्यावहारिक नहीं बन पाए।

4.4.2.1. प्रसाद के नाटक

हिन्दी कथा-साहित्य में जो स्थान प्रेमचंद का है, नाटक के क्षेत्र में वही महत्त्व जयशंकर प्रसाद का है। जयशंकर प्रसाद के नाटकों में भी मानवतावाद का स्वर प्रधान है। उनके प्रारम्भिक नाटकों 'विशाख' और 'अजातशत्रु' में इसका समारम्भ होता है तथा 'चन्द्रगुप्त' और 'ध्रुवस्वामिनी' में यह अपने चरम पर पहुँच जाता है। उनकी नाट्य-संरचना रूढ़ शास्त्र की अपेक्षा प्रयोग पर आधारित है। प्रसाद के नाट्य-विधान की सर्वाधिक प्रभावशाली अभिव्यंजना 'स्वगत कथनों' के माध्यम से स्फुरित हुई है। उनके नाटकों में प्रयुक्त स्वगत कथनों द्वारा राष्ट्रीयता की भावना, युगीन चिन्तन, नैराश्य और आत्मोसर्ग की अभिव्यक्ति हुई है। साथ ही, इनके माध्यम से रचनाकार के निज भाव और विचार भी सम्प्रेषित हुए हैं। प्रसाद ने मुख्यतः ऐतिहासिक नाटकों की रचना की है। इस दृष्टि से 'विशाख', 'अजातशत्रु', 'राज्यश्री', 'स्कन्दगुप्त', 'चन्द्रगुप्त', 'ध्रुवस्वामिनी', 'जनमेजय का नागयज्ञ' आदि उनकी उल्लेखनीय नाट्य-कृतियाँ हैं। उनके नाटकों में दर्शन और कवित्व दोनों का सामंजस्य है। दर्शन और काव्य का सामंजस्य होने पर बुद्धि में हृदय का पक्ष भी मिल जाता है। हृदय और बुद्धि के समन्वय से एक अनोखे

और सरस दर्शन की प्रतिष्ठा होती है। प्रसाद का साहित्य इसी सरस दर्शन से अनुप्राणित है। प्रसाद ने अपने नाटकों में अतीत के पट पर वर्तमान का चित्रण किया है। इस प्रकार इतिहास एवं कल्पना का सन्तुलित समन्वय करने में भी उन्हें अपार सफलता प्राप्त हुई है।

4.4.2.2. नाट्य-साहित्य की अन्तश्चेतना

जयशंकर प्रसाद हिन्दी के मूर्धन्य नाटककार हैं। सामाजिक एवं निजी जीवन में अनेक विषमताओं के विरुद्ध संघर्ष करते हुए भी वे निरन्तर साहित्य-सृजन करते रहे। आलोचकों की दृष्टि में प्रसाद के नाटकों पर पाश्चात्य नाटक, संस्कृत नाटक एवं बांग्ला नाटक का प्रभाव पड़ा है। उन्होंने संस्कृत के नाटकों के रस सिद्धान्त, पाश्चात्य नाटकों के संघर्ष तत्त्व तथा बांग्ला नाटकों के भाव-संवेदन को अपनाकर अपनी प्रतिभा के समन्वय से हिन्दी नाटकों के क्षेत्र में स्वच्छन्दतावादी अभिनव नाट्यकला का सूत्रपात किया। इस प्रकार उन्होंने वस्तु, चरित्र, रस, तकनीकी तथा वातावरण में युगान्तकारी परिवर्तन उपस्थित किया है। प्रसाद के नाट्य-साहित्य की अन्तश्चेतना के वैशिष्ट्य का उद्घाटन निम्नलिखित बिन्दुओं के अन्तर्गत किया जा सकता है –

(i) नाट्य-रचना में परम्परा, मौलिकता और आधुनिक रचनाशील चेतना को अपनाकर जयशंकर प्रसाद ने हिन्दी नाट्य-साहित्य का नूतन विन्यास किया है।

(ii) जयशंकर प्रसाद करुणा को विश्व के कल्याण में अग्रसर होने की सर्वश्रेष्ठ साधना मानते हैं। करुणा की भावना को अपनाने से ही मनुष्य हिंसा, द्वेष, कलह आदि से मुक्त होकर शाश्वत आनन्द की प्राप्ति करने में सफल हो सकता है। प्रसाद कर्मण्य भाग्यवाद से करुणा की ओर तथा करुणा से 'आनन्दवाद' की ओर अग्रसर होते हैं। इसे प्रसाद-साहित्य की अन्तश्चेतना का, उनकी विचारधारा का क्रमिक विकास माना जा सकता है।

(iii) प्रसाद की नाट्य-कृतियों को उनके निजी जीवन से सम्बन्धित कर देखा जा सकता है। जीवन के बाह्य प्रसंगों की अपेक्षा आन्तरिक पक्ष ही उनके साहित्य में अधिक प्रकट हुआ है।

(iv) दृश्य जीवन की जटिलतम समस्याओं में भावों का संवेग भरने में प्रसाद सिद्धहस्त हैं।

(v) पुष्पवृन्त से भी कोमल एवं वज्र से भी कठोर भाव वाले पात्रों की सर्जना प्रसाद का सामर्थ्य है।

(vi) जयशंकर प्रसाद के साहित्य में भारतीय संस्कृति व राष्ट्र की गरिमा का अनुभूतिप्रवण आवेग सहज ही अनुभूत है। उनके नाटकों में राष्ट्रीयता, स्वतन्त्रता, विश्व-मैत्री, जन-कल्याण और जनजागरण की भावात्मक अभिव्यक्त हुई है।

(vii) प्रारम्भ में प्रसाद के प्रायः सभी पात्र मानवीय दुर्बलताओं के घेरे में बद्ध दिखाई देते हैं, लेकिन ज्यों-ज्यों नाटक की कथावस्तु का विकास होता है, उनके संकल्पवान् स्वरूप का विकास होता है।

(viii) प्रसाद ने अपने नाटकों में स्थूल तत्त्वों की अवहेलना की है और जीवन को यथार्थवादी वस्तुपरकता से न जोड़कर नैतिक मूल्यों और दार्शनिक चिन्तन के साथ जोड़ने का प्रयास किया है।

4.4.2.3. युग परिवेश

युग विशेष का साहित्य जहाँ एक ओर पूर्ववर्ती साहित्य से जुड़ा होता है, वहीं समसामयिक वातावरण और रचनात्मक प्रवृत्तियों का भी उस पर पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। जयशंकर प्रसाद का नाट्य रचनाकाल सन् 1907 ई. से सन् 1933 ई. तक माना गया है। इस लघु अवधि में उनके द्वारा आठ ऐतिहासिक, तीन पौराणिक एवं दो भावात्मक – कुल तेरह नाटकों की सर्जना की गई।

जयशंकर प्रसाद का युग सामाजिक, राजनैतिक और साहित्यिक उथल-पुथल का युग था। उनके लगभग सभी नाटक प्रथम विश्वयुद्ध और द्वितीय विश्वयुद्ध के मध्य लिखे गए हैं। अतः विश्व की राजनैतिक, वैचारिक तथा सांस्कृतिक टकराहट के सन्दर्भ में भारत को देखने का उनके नाटकों में पूर्ण अवसर मिलता है। उस समय भारतीय जनजागरण स्वतन्त्रता-आन्दोलनों के रूप में अपने लक्ष्य की ओर बढ़ रहा था और देश में प्राचीन सांस्कृतिक और ऐतिहासिक परम्परा से अभिप्रेरित राष्ट्रीय गौरव की भावना का प्रचार-प्रसार हो रहा था। जयशंकर प्रसाद ने अपने नाटकों में समकालीन समस्याओं का समाधान खोजने के लिए प्राचीन इतिहास का सहारा लिया है। उन्होंने भारतीय इतिहास के ऐसे अंशों को प्रस्तुत किया है जो कि सांस्कृतिक और राष्ट्रीय दृष्टि से गौरवशाली हैं।

जयशंकर प्रसाद के युग में गाँधीजी का सत्याग्रह आन्दोलन देशव्यापी था। शासक वर्ग भक्षक हो चला था। जनता में उत्तेजना फैल रही थी और 'स्वराज्य-प्राप्ति' का जुनून जनता के सिर चढ़कर बोल रहा था। स्वतन्त्रता प्रत्येक मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार है और उसके लिए आन्दोलन करना न्यायसंगत माना जाता है। प्रसाद 'विशाख' नाटक की रचना करते हैं जिसके अन्तर्गत महात्मा गाँधी ही 'प्रेमानन्द' के रूप में इस सन्देश को सुना रहे हैं –

निर्बल भी हो, सत्य-पक्ष मत छोड़ना,
शुचिता के इस कुहक-जाल को तोड़ना॥

इस उपदेश से नरदेव का हृदय बदल जाता है और वह अपने दुष्कर्मों का प्रायश्चित करता है। यह वास्तव में आशा का एक सन्देश है जिसे प्रसाद अवसाद के उस दौर में दुःखी भारतीय जनता को प्रेमानन्द द्वारा समझा रहे हैं।

प्रसाद युग के राष्ट्रीय आन्दोलनों में नारी जागरण का स्वर भी मुखर था। नारी की महत्ता और गरिमा में वृद्धि हुई थी एवं उसका कार्य-क्षेत्र और कार्य-प्रणाली भी परिवर्तित हो रही थी। राष्ट्रीय आन्दोलनों में वह पुरुषों के साथ कन्धे-से-कन्धा मिलाकर आगे बढ़ रही थी। सदियों से पराधीनता के बन्धनों में जकड़ी हुई नारी में अब आत्मविश्वास का भाव जाग्रत हो चुका था। सरोजिनी नायडू, कस्तूरबा गाँधी, कमला नेहरू, विजयलक्ष्मी पण्डित आदि अनेक नारियाँ राष्ट्रीय आन्दोलनों में प्रत्यक्षतः सक्रिय थीं। जयशंकर प्रसाद ने भी अपने नाटकों में उदात्त नारी पात्रों का निर्माण किया है जिनमें राष्ट्रीय-भावना कूट-कूट कर भरी हुई है और जो राष्ट्र-यज्ञ में अपने प्राणों की आहुति देने के लिए सदैव तत्पर रहती हैं। उदाहरण के तौर पर प्रसाद के नाटक 'चन्द्रगुप्त' की अलका एक ऐसी ही

नारी पात्र है जो धनुष धारण कर विदेशी यवन सैनिकों का सामना करती है और तक्षशिला के नागरिकों में राष्ट्रीयता का मन्त्र फूँकती है।

अंग्रेज़ों की विभाजन-नीति के कारण हिन्दू-मुसलमानों में संघर्ष प्रारम्भ हो चुका था और हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष के कारण सम्पूर्ण राष्ट्र को एकसूत्र में संगठित करने की आवश्यकता महसूस की जाने लगी थी। इसी आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए प्रसाद ने 'चन्द्रगुप्त' नाटक में प्रादेशिकता की भावना से दूर रहने का स्वर उद्घोषित किया है एवं आपसी भेदभाव भुलाकर आन्तरिक संगठन द्वारा विदेशी आक्रान्ता को बाहर निकाल फेंकने का सन्देश दिया है। इसी प्रकार अपने अन्य महत्त्वपूर्ण नाटक 'स्कन्दगुप्त' में प्रसाद जी ने भटार्क और अनन्तदेवी के माध्यम से उन लोगों की तीव्र भर्त्सना की है जो निजी स्वार्थ, पदलोलुपता अथवा अन्य किसी प्रकार के प्रलोभन में आकर अपने देश के साथ विश्वासघात करते हैं और देशद्रोह का जघन्य अपराध करते हैं।

प्रसाद ने नवीन युग की नवीन परिस्थितियों के सर्वथा अनुपयुक्त प्राचीन नाट्य शैली के प्रति जन सामान्य का मोहभंग कर नये युग की नयी गति के साथ कदम-से-कदम मिलाकर अग्रसर होने की अभिप्रेरणा दी है। उन्होंने अपनी नाट्यकृतियों में अन्तर्द्वन्द्व के चित्रण को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। उनकी दृढ़ धारणा है कि प्राचीन घिसी-पिटी शैली द्वारा राष्ट्रीय भावना से उद्वेलित नये युग की सार्थक अभिव्यक्ति सम्भव नहीं है। जयशंकर प्रसाद मूलतः एक कवि थे। उनके नाटकों में भी उनके भावुक कवि रूप की झलक मिलती है। उनकी व्यक्तिगत भावुकता ने ही उनके रचनात्मक व्यक्तित्व को अभिप्रेरित किया है।

4.4.2.4. चारित्रिक वैशिष्ट्य

जयशंकर प्रसाद की चरित्र-सृष्टि का मूल आधार इतिहास है। उनके इतिहास की ओर अभिमुख होने में भारत का गौरवशाली इतिहास और अतीत के महानायकों का उदात्त चरित्र ही प्रेरणास्पद है। उनका अपना युग समसामयिक राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना से सम्पन्न; पुनरुत्थान, अतीत-गौरव तथा जातीय जागरण का युग था। उन्होंने भारतीय ऐतिहासिक नायकों के जीवन-चरित्र में युगीन समस्याओं की खोज की तथा स्वातन्त्र्य-चेतना, सांस्कृतिक जीवन-मूल्यों तथा अपेक्षाओं का उभारने का प्रयास किया।

जयशंकर प्रसाद के नाटकों के पात्रों का चरित्र-विकास बनावटी न होकर मनोवैज्ञानिक आधार पर विकसित हुआ है। उनके नाटकों के पात्रों के स्वगत कथनों द्वारा उनका चारित्रिक वैशिष्ट्य प्रकट होता है और उनका जीवन विषयक दृष्टिकोण एवं विविध जीवन-मूल्यों के प्रति आस्था का ज्ञान सरलता से हो जाता है। पात्रों के चारित्रिक वैशिष्ट्य को उजागर करने के लिए नाटककार प्रसाद ने उनके अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण किया है। यह अन्तर्द्वन्द्व पात्रों के स्वगत कथनों में अभिव्यक्त हुआ है। उदाहरण के तौर पर भटार्क, शर्वनाग, आम्भीक, शान्तिदेव, जनमेजय आदि पात्र सत्-असत् प्रवृत्तियों से अन्तर्द्वन्द्व करते हुए जीवन में आगे बढ़ते हैं और अन्ततः सत् को ग्रहण करते हैं। जयशंकर प्रसाद के नाटकों के पात्रों के चारित्रिक वैशिष्ट्य का उल्लेख इस प्रकार किया जा सकता है –

(i) जयशंकर प्रसाद के नाटकों में भिन्न-भिन्न चरित्र वाले विविध पात्र हैं। चन्द्रगुप्त, स्कन्दगुप्त जैसे पात्र वीरता और देश-प्रेम की साक्षात् प्रतिमूर्ति हैं तो राजा नरदेव, महापिंगल जैसे पात्र विलासी एवं कामुक प्रवृत्ति वाले चरित्रों का प्रतिनिधित्व करते हैं। एक ओर आम्भीक जैसे विश्वासघाती एवं देशद्रोही पात्र हैं तो दूसरी ओर अलका जैसे देशभक्त पात्र भी उनके नाटकों में मिलते हैं। इन पात्रों की चरित्रगत विशेषताएँ प्रायः इनके कार्यों एवं संवादों से स्पष्ट हो जाती हैं, परन्तु कुछ ऐसी चारित्रिक विशेषताएँ भी हैं जो कि उनके कार्यों एवं संवादों से स्पष्ट नहीं हो पाती। नाटककार प्रसाद ने 'स्वगत कथन' के माध्यम से उन चारित्रिक विशिष्टताओं को उद्घाटित किया है। उदाहरणार्थ, 'विशाख' नाटक में राजा नरदेव और उसके सहचर महापिंगल का विलासी और कामुक रूप उनके स्वगत कथनों द्वारा ही अभिव्यक्त हो पाया है।

(ii) जयशंकर प्रसाद के नाटकों के पात्र एकान्त में कहे गए 'स्वगत कथनों' द्वारा अपनी चरित्रगत विशेषताओं को स्पष्ट कर देते हैं। पाठक अथवा दर्शकगण 'स्वगत कथनों' की सहायता से नाटक के पात्रों के चरित्र से भली-भाँति अवगत होकर उनसे आत्मीय सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं।

(iii) नाटक के पात्र 'स्वगत कथन' द्वारा स्वयं अपने चरित्र को तो उद्घाटित करते ही हैं, साथ ही कुछ स्थलों पर नाटक के अन्य पात्रों के चरित्र को भी उद्घाटित करते हैं। उदाहरण के तौर पर 'स्कन्दगुप्त' नाटक में बन्धुवर्मा के 'स्वगत कथनों' में स्कन्दगुप्त के शील-स्वभाव की अभिव्यंजना हुई है।

(iv) प्रतिशोध और प्रतिहिंसा की भावना का सुन्दर एवं प्रभावी उदाहरण 'स्कन्दगुप्त' नाटक में विजया के 'स्वगत कथन' में मिलता है। विजया अपने स्वार्थ से देवसेना की हत्या करना चाहती है और उसकी इस इच्छा को प्रपंचबुद्धि यह कहकर और अधिक बलवती बनाता है कि उसे भी उग्रतारा की साधना के लिए महाश्मशान में एक राजबलि चाहिए। विजया को देवसेना को श्मशान तक लाने का कार्य सौंपा जाता है और उसकी हत्या का कार्य भटार्क को। विजया अपना कार्य कर देती है, परन्तु उसकी अन्तरात्मा उसे बार-बार कचोटती है। उसके हृदय में उठने वाले विभिन्न भाव उसे प्रतिहिंसा से रोकना चाहते हैं। उसकी अन्तरात्मा व स्वार्थ-भावना में संघर्ष होता है और अन्ततः उसकी स्वार्थ भावना की विजय होती है। विजया के इस 'स्वगत कथन' में उसका चरित्र और अन्तर्द्वन्द्व प्रकट हुआ है तथा आवेगों के अनुसार आरोह-अवरोह भी द्रष्टव्य है – "भाव-विभोर दूर की रागिनी सुनती हुई यह कुरंगी-सी कुमारी ... आह, कैसा भोला मुखड़ा है। ... नहीं, नहीं, विजया, सावधान। प्रतिहिंसा ...।

(v) प्रसाद के नाटकों के अधिकांश पात्र किसी-न-किसी आन्तरिक द्वन्द्व में उलझे हुए हैं। ऐसी स्थिति में उनके आन्तरिक विचारों अथवा मनोभावों का उद्घाटन अनिवार्य हो जाता है। नाटक के पात्र अपने व्यवहार द्वारा अपनी चारित्रिक विशेषताओं अथवा दुर्बलताओं को कितना ही छिपा लें, लेकिन 'स्वगत कथनों' द्वारा उनका चरित्र प्रकट हो ही जाता है। बिम्बसार, स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त, ध्रुवस्वामिनी आदि पात्रों की द्विविधाग्रस्त मनःस्थिति का सफल चित्रण इसी माध्यम से हो सका है।

(vi) 'जनमेजय का नागयज्ञ' में जयशंकर प्रसाद ने आर्यों और नागजाति के संघर्ष को अत्यन्त ही प्रभावी ढंग से प्रस्तुत किया है।

(vii) 'कामना' प्रसाद द्वारा लिखित एक प्रतीक नाटक है जिसमें विभिन्न भावों को पात्रों के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

(viii) 'ध्रुवस्वामिनी' जयशंकर प्रसाद की अन्तिम नाट्य-कृति है जिसकी विषयवस्तु नारी-जीवन की समस्याएँ हैं। नारी के पुनर्विवाह की समस्या को धर्म की पीठिका पर स्थित करके कुछ उलझे हुए प्रश्नों के उत्तर देने का प्रयास इस नाटक में किया गया है।

जयशंकर प्रसाद की चरित्र-चित्रण शैली हिन्दी नाट्य-शैली में अपने ढंग की है। उनके नाटकों के पात्र प्रायः अन्तर्द्वन्द्व से युक्त हैं तथापि उन पात्रों का व्यक्तित्व स्पष्ट और प्रभावशाली है। प्रसाद के नाटकों के पात्रों में मानव-अन्तःकरण की विभिन्न मनोवृत्तियों का प्रभावी विश्लेषण हुआ है। जीवन की यथार्थ स्थिति के साथ-साथ उस यथार्थता का मनोहर रूप भी मनोवैज्ञानिक रूप में वहाँ उपस्थित है।

4.4.2.5. शिल्प-विधान

जयशंकर प्रसाद के नाटक उद्देश्यपूर्ण हैं। उनके नाटकों, विशेषकर ऐतिहासिक नाटकों का मूल उद्देश्य भारत के गौरवशाली अतीत का गान करते हुए देश-प्रेम, राष्ट्रीयता की भावना एवं देश की सामाजिक-सांस्कृतिक एकता को बढ़ावा देना है। इतिहास के परिप्रेक्ष्य में वर्तमान की समस्याओं को उकेरने का प्रयास प्रसाद के नाटक 'प्रायश्चित' से प्रारम्भ हुआ है। इस नाटक को हिन्दी का प्रथम दुःखान्त नाटक माना जा सकता है। 'प्रायश्चित' नाटक की भूमिका में जयशंकर प्रसाद ने लिखा है – "मेरी इच्छा भारतीय इतिहास के अप्रकाशित अंश में से उन घटनाओं का दिग्दर्शन कराने की है, जिन्होंने हमारी वर्तमान स्थिति को बनाने में बहुत प्रयास किया है।" मानवीय चिन्तन और संवेदना को स्वगत कथनों के माध्यम से सम्प्रेषित करने में समर्थवान् जयशंकर प्रसाद का प्रयोगधर्मी शिल्पगत वैशिष्ट्य भी प्रभावकारी है। संस्कृत के रंग-शिल्प की परम्परा का निर्वाह करते हुए नवीन प्रयोगों के सम्मिश्रण द्वारा प्रसाद ने हिन्दी रंगमंच केसमक्ष उपस्थित चुनौतियों का सम्यक् निदान अपनी विशिष्ट रचनात्मकता द्वारा किया है। हिन्दी नाट्य-साहित्य में जयशंकर प्रसाद के नाटकों के शिल्पगत वैशिष्ट्य की उपादेयता का उल्लेख निम्नलिखित बिन्दुओं के अन्तर्गत किया जा सकता है –

(i) सम्प्रेषणीयता नाट्यभाषा की सबसे बड़ी कसौटी है। अपने नाटकों में पात्रों की दार्शनिक स्थिति, स्वभाव और उनके द्वन्द्वजन्य उतराव-चढ़ाव को अभिव्यक्त करने हेतु प्रयुक्त भाषा की सम्प्रेषणीयता में प्रसाद सफल हुए हैं।

(ii) 'स्वगत कथन' के माध्यम से पात्रों के मनोभावों एवं चारित्रिक वैशिष्ट्य को उद्घाटित करना प्रसाद की नाट्यकला का विशिष्ट गुण है। प्रयुक्त 'स्वगत कथन' कृत्रिम न होकर नैसर्गिक हैं। ये 'स्वगत कथन' उनकी स्वच्छन्दतावादी नाट्यभाषा के प्रमाण हैं।

(iii) नाटकीय शिल्प का प्रमुख सम्बन्ध अभिव्यक्ति से है। यह अभिनय का आधार है। प्रसाद की नाट्यभाषा कलात्मक है और उसमें भावाभिव्यक्ति की रागात्मक क्षमता है।

(iv) प्रसाद के पात्र भावपूर्ण जीवन जीते हैं और यथार्थ की अपेक्षा असाधारण क्षणों को महत्त्व देते हैं। सूच्य और स्थितिमूलक भावात्मक संवादों के मिले-जुले तत्त्वों का उपयोग कर उन्होंने अपने नाटकों में स्वगत संवादों का अद्भुत संस्कार किया है।

(v) प्रसाद नाटककार होने के साथ-साथ कवि और दार्शनिक भी हैं। उनका यह प्रभाव उनकी रचनाओं पर भी देखा जा सकता है। उनके नाटकों के पात्र प्रायः काव्यात्मक और दार्शनिक भाषा का प्रयोग करते हैं।

(vi) प्रसाद ने पात्रों के क्रिया-व्यापार को मनोवैज्ञानिक व्याख्या न देकर औचित्य और स्वाभाविकता को सिद्ध किया है।

(vii) प्रसाद के नाटकों में भारतीय एवं पाश्चात्य नाट्य-शिल्प का सुन्दर समन्वय हुआ है। उनके नाटक न सुखान्त हैं और न ही दुःखान्त, प्रत्युत वे प्रसादान्त हैं। रचना के नायक / नायिका को अन्तिम फल मिलने के उपरान्त भी वहाँ विषाद की एक हल्की छाया उपस्थित रहती है।

(viii) प्रसाद के नाटकों पर प्रायः यह आरोप लगाया जाता है कि "उनके अधिकांश नाटक रंगमंच के अनुकूल नहीं हैं, उनके नाटकों में पात्रों की संख्या अधिक होती है, दृश्यों की संख्या भी अधिक होती है, संवाद लम्बे-लम्बे होते हैं अतः उनके नाटक जनसाधारण के लिए उपयुक्त नहीं हैं।" वस्तुतः प्रसाद के समय में हिन्दी रंगमंच की स्थिति बहुत अच्छी नहीं थी, इसलिए उनके नाटकों में अभिनेयता का अभाव उनकी रचनात्मक सीमा एवं स्वाभाविक प्रक्रिया मानी जा सकती है। 'ध्रुवस्वामिनी' उनकी अन्तिम नाट्य-कृति है जिसे उन्होंने रंगमंच की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर ही लिखा है। इसका आकार अपेक्षाकृत छोटा है, यहाँ पात्रों की संख्या कम है तथा भाषा भी सरल है। इसे रंगमंच पर सफलतापूर्वक प्रस्तुत किया जा सकता है। समकालीन समय में रंगमंच तकनीकी दृष्टि से सम्पन्न हुआ है, पहले की अपेक्षा रंगकर्मियों को अनेक सुविधाएँ उपलब्ध हैं, अतः वर्तमान परिप्रेक्ष्य में प्रसाद के नाटक भी कुशल सम्पादन के उपरान्त अभिनेय हैं।

जयशंकर प्रसाद के नाटकों में दार्शनिक विवेचनों की प्रचुरता है, चरित्र-चित्रण में वैशिष्ट्य है, भारतीय एवं पाश्चात्य नाट्यकला का समन्वय है। अपने शिल्पगत वैशिष्ट्य के कारण प्रसाद हिन्दी नाट्य-साहित्य को एक स्वतन्त्र दृष्टि प्रदान करते हैं और उनकी नाट्य-रचनाएँ उनकी विलक्षण रचनात्मकता की परिचायक हैं।

4.4.3. प्रसाद के समकालीन नाटककार

जयशंकर प्रसाद का युग सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनैतिक क्षेत्र में कई दृष्टियों से परिवर्तन का युग था। प्रसाद और उनके समकालीन साहित्यकारों की रचनाओं में राष्ट्र का गुरुत्व, तारुण्य और उसका रागात्मक स्वर मुखरित हुआ है। बाल-विवाह, अनमेल-विवाह, छूआछूत, वर्ण-व्यवस्था, धार्मिक अन्धविश्वास जैसी समस्याओं को भी तत्कालीन कृतिकारों ने प्रमुखता से उजागर किया है। समस्यामूलक नाटकों की रचना में प्रसादयुगीन नाटककारों ने विशेष ख्याति अर्जित की है। प्रसादयुगीन नाटकों में भारतीय संस्कृति, जातीय पहचान और राष्ट्रीयता के गौरवपूर्ण चित्र अंकित हुए हैं। उनके नारी पात्र आदर्श भारतीय नारी का गरिमामय स्वरूप प्रस्तुत

करते हैं। प्रसादयुगीन नाटककारों में हरिकृष्ण प्रेमी, लक्ष्मीनारायण मिश्र, सेठ गोविन्ददास, गोविन्द बल्लभ पंत, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', उदयशंकर भट्ट, वृन्दावनलाल वर्मा, किशोरीदास वाजपेयी, वियोगी हरि, चतुरसेन शास्त्री, पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' आदि के नाम आदरपूर्वक लिए जाते हैं।

4.4.3.1. हरिकृष्ण प्रेमी

हरिकृष्ण प्रेमी प्रसाद युग के मूर्धन्य नाटककार हैं। उन्होंने मध्यकालीन इतिहास से विषयवस्तु का चयन करते हुए भव्य ऐतिहासिक नाटकों की रचना की है। 'रक्षाबन्धन', 'शिवा साधना', 'प्रतिशोध', 'स्वप्नभंग', 'आहुति', 'विषपान', 'उद्धार', 'शपथ', 'विजयस्तम्भ', 'कीर्तिस्तम्भ', 'संरक्षक', 'विदा', 'आन का मान', 'संवत प्रवर्तन', 'अमृत पुत्री', 'छाया बन्धन' आदि उनकी प्रमुख नाट्य-रचनाएँ हैं। अपनी बहुचर्चित नाट्य-कृति 'रक्षाबन्धन' में उन्होंने हिन्दू-मुस्लिम एकता को स्थापित करने का प्रयास किया है। उनके 'प्रतिशोध' नाटक में बुंदेलखण्ड के वीर योद्धा चम्पतराय एवं उसके पुत्र छत्रसाल के जीवनचरित्र द्वारा राष्ट्रीयता की प्रबल भावना मुखरित हुई है। उनके 'स्वप्नभंग' नाटक में शाहजहाँ के पुत्र द्वारा हिन्दू-मुस्लिम एकता के निहितार्थ अपना बलिदान देने की कथा विशेष रूप से उल्लेखनीय है। शिल्प-विधान के परिप्रेक्ष्य में उनके नाटक रंगमंचीयता और अभिनेयता की दृष्टि से भी सफल हैं।

4.4.3.2. लक्ष्मीनारायण मिश्र

हिन्दी नाटकों के विकास में लक्ष्मीनारायण मिश्र का महत्त्वपूर्ण योगदान है। उनके नाटकों में विषयवस्तु का प्रतिपादन भारतीय ढंग का है तथापि उनके नाटकों का शिल्प पश्चिमी प्रभाव से पूरी तरह मुक्त नहीं है। उनके नाटकों में वैसे तो नगरीय जीवन का निरूपण प्रमुख है लेकिन उनमें बौद्धिकता का समावेश तुलनात्मक रूप से अधिक है। 'संन्यासी', 'राक्षस का मन्दिर', 'मुक्ति का रहस्य', 'राजयोग', 'सिन्दूर की होली', 'आधी रात', 'गरुड़ध्वज', 'वत्सराज', 'दशाश्वमेध', 'वितस्ता की लहरें' आदि उनकी प्रमुख नाट्य-कृतियाँ हैं। 'संन्यासी' नाटक में उन्होंने विदेशी शासकों की छल-कपटपूर्ण नीति, गाँधीजी के असहयोग आन्दोलन एवं रॉलेट एक्ट को विषयवस्तु के रूप में अपनाया है। 'सिन्दूर की होली' नाटक में उन्होंने विधवा-विवाह एवं नारी-उद्धार जैसे सामाजिक-समस्यापरक विषयों का चुनाव किया है।

4.4.3.3. सेठ गोविन्ददास

प्रसादयुगीन प्रतिभाशाली नाटककार सेठ गोविन्ददास 'प्रकाश', 'स्वातन्त्र्य सिद्धान्त', 'सेवापथ', 'सन्तोष कहाँ', 'त्याग और ग्रहण', 'बड़ा पापी कौन', 'सुख किसमें', 'महत्त्व किसे', 'गरीबी या अमीरी', 'हर्ष', 'कुलीनता', शशिगुप्त'', 'अशोक', 'शेरशाह', 'कर्त्तव्य', 'कर्ण' आदि प्रसिद्ध नाट्य-कृतियों के रचनाकार हैं। अपने नाटकों में उन्होंने छुआछूत, भ्रष्टाचार, पाखण्ड, नेताओं की स्वार्थपरता जैसी समकालीन समस्याओं का प्रभावी चित्रण किया है। उनके नाटक रंगमंच के अनुकूल हैं लेकिन नाटकीय संघर्ष और कार्यव्यापार की शिथिलता के कारण उनके नाट्य-कर्म की आलोचना भी की जाती है।

4.4.3.4. गोविन्द बल्लभ पंत

लोकप्रिय राजनेता होने के साथ-साथ गोविन्द बल्लभ पंत एक चर्चित नाटककार के रूप में भी प्रख्यात हैं। पंत जी ने ऐतिहासिक कथाओं के साथ ही समसामयिक समस्याओं को भी अपने नाटकों की कथावस्तु बनाया है। उनकी उल्लेखनीय नाट्य-कृतियों में 'अंगूर की बेटी' प्रमुख है। इसमें उन्होंने शराबी के दुर्गुणों की चर्चा की है। अपने 'सिन्दूर की बिन्दी' नाटक में पंत जी ने परित्यक्ता नारी की समस्याओं का मार्मिक चित्रण किया है। उनकी प्रथम नाट्य-कृति 'राजमुकुट' में पन्ना धाय के बलिदान की गाथा है जबकि 'अन्तःपुर का छिद्र' नाटक में उन्होंने राजा उदयन की दो रानियों के संघर्ष व षड्यन्त्र की गाथा के माध्यम से तत्युगीन परिस्थितियों एवं नारी के अन्तर्मन को प्रभावशाली ढंग से उजागर किया है।

4.4.3.5. उपेन्द्रनाथ 'अश्क'

हिन्दी नाट्य-परम्परा में उपेन्द्रनाथ 'अश्क' का गौरवशाली योगदान है। उन्होंने 'स्वर्ग की झलक', 'छठा बेटा', 'अलग-अलग रास्ते', 'अंजो दीदी', 'अन्धी गली', 'कैद', 'उड़ान', 'जय-पराजय' आदि अनेक महत्त्वपूर्ण नाटकों की रचना की है। उनकी चर्चित ऐतिहासिक नाट्य-कृति 'जय-पराजय' में मंडोवर की राजकुमारी हंसाबाई एवं मेवाड़ के राजकुमार चण्ड की गाथा वर्णित है। 'अश्क' के सामाजिक नाटकों में नारी मनोवृत्ति का यथार्थ निरूपण हुआ है तथा समसामयिक समस्याओं का अंकेक्षण प्रस्तुत किया गया है। 'छठा बेटा' में पुत्रों की स्वार्थपरता का हास्य-व्यंग्यपूर्ण शैली में यथार्थपरक मार्मिक चित्रण हुआ है। 'अंजो दीदी' में नाटककार ने अहंवादिता के दुष्प्रभावों का सजीव चित्रण किया है।

4.4.3.6. उदयशंकर भट्ट

प्रसादयुगीन नाटककारों में उदयशंकर भट्ट ख्यातिलब्ध रचनाकार हैं। उन्होंने ऐतिहासिक एवं समस्यामूलक नाटकों की रचना की। 'अम्बा' एवं 'सागर विजय' उनके पौराणिक नाटक हैं जिनमें कथानक का स्रोत क्रमशः महाभारत एवं पुराण है। इन नाटकों के माध्यम से नाटककार ने प्राचीन कथानक को नवीन सन्दर्भ प्रदान किया है। 'गहर', 'शक विजय', 'मुक्ति पथ' आदि उदयशंकर भट्ट की ऐतिहासिक नाट्य-कृतियाँ हैं। नाट्य-कृति 'मुक्तिपथ' में उन्होंने बुद्ध के जीवनचरित्र को कथा का आधार बनाया गया है। उनके 'शक विजय' नाटक में ब्राह्मण और जैन संघर्ष का वास्तविक चित्रण मिलता है।

4.4.3.7. वृन्दावनलाल वर्मा

वृन्दावनलाल वर्मा हिन्दी के सुविख्यात नाटककार हैं। ऐतिहासिक नाटकों के अतिरिक्त उन्होंने समस्याप्रधान नाटकों की भी रचना की है जिनमें अनमेल विवाह, छूआछूत, ऊँच-नीच, सामाजिक विषमता आदि समकालीन समस्याओं का प्रभावी निरूपण किया गया है। 'फूलों की बोली', 'पूर्व की ओर', 'बीरबल', 'ललित विक्रम', 'राखी की लाज', 'सगुन', 'नीलकण्ठ', 'केवट', 'निस्तार', 'देखा-देखी' आदि वृन्दावनलाल वर्मा के

प्रमुख नाटक हैं। विषयवस्तु एवं शिल्पदोनों ही दृष्टियों से ऐतिहासिक एवं समस्यामूलक नाटकों की रचना में वर्मा जी का योगदान अप्रतिम है।

4.4.4. सारांश

प्रसाद युग में समाज-सुधार की प्रवृत्ति और राष्ट्रीय-सांस्कृतिक एकता को आधार बनाकर नाटकों की रचना हुई। भारतीय इतिहास के गौरवपूर्ण कथानकों और उदात्त चरित्रों के माध्यम से समसामयिक सामाजिक समस्याओं का निदान सुझाने की प्रवृत्ति प्रसादयुगीन नाटकों की उल्लेखनीय विशेषता है। विषय एवं शिल्प की दृष्टि से प्रसादयुगीन नाटक अत्यधिक प्रभावशाली हैं। तत्युगीन नाटककारों ने राष्ट्रीयता, सांस्कृतिक गौरव एवं सामाजिक समरसता की भावना जगाने का स्तुत्य प्रयास किया है। प्रसाद युग हिन्दी नाटकों को प्रौढ़ता की ओर ले जाने वाला कालखण्ड सिद्ध हुआ है।

4.4.5. शब्दावली

उदात्त	:	श्रेष्ठ
उद्धार	:	मुक्ति
तलाक	:	विवाह-विच्छेद
अंकेक्षण	:	लेखा-जोखा
स्तुत्य	:	वन्दनीय

4.4.6. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

1. वार्ष्णेय, लक्ष्मीसागर, हिन्दी साहित्य का इतिहास, लोकभारती प्रकाशन, नयी दिल्ली.
2. तनेजा, जयदेव, आधुनिककालीन भारतीय नाट्य विमर्श, राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली.
3. गुप्ता, अशोक कुमार एवं गुप्ता, मनोज कुमार, हिन्दी नाटक : उद्भव एवं विकास, मलिक एंड कंपनी, जयपुर.
4. रस्तोगी, गिरीश, हिन्दी नाटक का आत्मसंघर्ष, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद.
5. वर्मा, रामकुमार (संपा.), हिन्दी नाटक और रंगमंच, हिंदुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद.
6. चतुर्वेदी, रामस्वरूप, हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद.

4.4.7. सम्बन्धित प्रश्न

टिप्पणी लिखिए –

1. जयशंकर प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक।
2. नाटककार उदयशंकर भट्ट।

3. प्रसादयुगीन सामाजिक नाटक।
4. प्रसादयुगीन नाटकों का शिल्पगत वैशिष्ट्य।
5. प्रसादयुगीन नाटकों का साहित्यिक अवदान।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. "यदि हिन्दी जगत् के पास अव्यवसायिक मंच होता तो प्रसादयुगीन नाट्य-साहित्य और भी अधिक समृद्ध होता।" उक्त कथन की तार्किक विवेचना कीजिए।
2. "प्रसाद प्रयोगधर्मी नाटककार हैं।" युक्तियुक्त विश्लेषण कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. जयशंकर प्रसाद की अन्तिम नाट्य-कृति कौनसी है?

(क) चन्द्रगुप्त
(ख) स्कन्दगुप्त
(ग) ध्रुवस्वामिनी
(घ) करुणालय

2. बहुचर्चित नाटक 'सिन्दूर की होली' के रचनाकार को पहचानिए –

(क) जयशंकर प्रसाद
(ख) वृन्दावनलाल वर्मा
(ग) सेठ गोविन्ददास
(घ) लक्ष्मीनारायण मिश्र

3. गोविन्द बल्लभ पंत विरचित नाटक है –

(क) अंगूर की बेटी
(ख) सिन्दूर की बिन्दी
(ग) राजमुकुट
(घ) उपर्युक्त सभी

4. हरिकृष्ण प्रेमी-कृत नाटक है –

(क) प्रतिशोध
(ख) विषपान
(ग) आन का मान

(घ) उपर्युक्त सभी

5. बहुचर्चित नाट्य-कृति 'अंजो दीदी' के रचयिता हैं –

(क) जयशंकर प्रसाद

(ख) सेठ गोविन्ददास

(ग) वृन्दावनलाल वर्मा

(घ) उपेन्द्रनाथ 'अश्क'

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 4 : छायावाद युग : छायावादी काव्य और उसके समानान्तर विकसित गद्य-साहित्य

इकाई – 5 : शुक्लयुगीन आलोचना, निबन्ध और अन्य गद्य-विधाएँ

इकाई की रूपरेखा

4.5.0. उद्देश्य कथन
4.5.1. प्रस्तावना
4.5.2. शुक्लयुगीन आलोचना
4.5.2.1. आचार्य शुक्ल की आलोचना पद्धति
4.5.2.2. शुक्लयुगीन आलोचना : सैद्धान्तिक आधार एवं आलोचनात्मक दृष्टि
4.5.2.3. प्रमुख आलोचक
4.5.3. शुक्लयुगीन निबन्ध
4.5.3.1. विषयवस्तु एवं शिल्पगत वैशिष्ट्य
4.5.3.2. प्रमुख निबन्धकार
4.5.4. शुक्लयुगीन अन्य गद्य-विधाएँ
4.5.5. सारांश
4.5.6. शब्दावली
4.5.7. उपयोगी ग्रन्थ-सूची
4.5.8. सम्बन्धित प्रश्न

4.5.0. उद्देश्य कथन

हिन्दी साहित्य के विकास में छायावादी युग की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। कविता, उपन्यास, कहानी और नाटक की भाँति छायावाद युग में समालोचना साहित्य भी एक नये युग में प्रवेश करता दिखाई देता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का आगमन हिन्दी साहित्य-चिन्तन एवं व्यवहार को एक महत्त्वपूर्ण दिशा प्रदान करता है। प्रस्तुत इकाई शुक्लयुगीन आलोचना, निबन्ध और अन्य गद्य-विधाओं पर केन्द्रित है। प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. शुक्लयुगीन आलोचना के विविध आयामों को समझ सकेंगे।
ii. शुक्लयुगीन निबन्ध साहित्य से परिचित हो सकेंगे।
iii. शुक्लयुगीन प्रमुख गद्य-विधाओं की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

4.5.1. प्रस्तावना

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल मूर्धन्य विद्वान होने के साथ-साथ एक स्वतन्त्र चिन्तक एवं विश्लेषक भी थे। उन्होंने भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र का सांगोपांग अध्ययन किया। अपने स्वतन्त्र चिन्तन के कारण हिन्दी

आलोचना को दिशा प्रदान करने में उन्होंने महती भूमिका निभायी। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लोकजीवन की पृष्ठभूमि में साहित्य एवं कला की व्याख्या प्रस्तुत की है। उन्होंने साहित्य और लोकजीवन के बीच घनिष्ठ सम्बन्धों का प्रतिपादन ही नहीं किया अपितु साहित्य के लौकिक और मानवीय आधार का पुरजोर समर्थन भी किया है। अपने इस दृष्टिकोण में वे परम्परागत आचार्यों की भाववादी चिन्तन भूमि से इतने विलग हैं कि डॉ॰ रामविलास शर्मा आदि समीक्षकों ने उन्हें वस्तुवादी चिन्तक तक कह दिया है। वस्तुतः समाज और साहित्य का अन्तस्सम्बन्ध बहुत सीधा और सपाट न होकर अत्यन्त जटिल और अधिकांश अवसरों पर द्वन्द्वात्मक होता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की चिन्ताओं का सूत्र मनुष्य है, समाज है, समाज के अभाव, समस्याएँ और पीड़ा हैं। वे समाज को स्वस्थ, सुन्दर, विकसित, अभावमुक्त व पीड़ारहित देखना चाहते हैं और उनकी यही कामना उनकी रचनाओं में सर्वत्र अभिव्यक्त होती दिखाई देती है।

4.5.2. शुक्लयुगीन आलोचना

हिन्दी आलोचना का प्रारम्भ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल से पूर्व भारतेन्दुकाल में ही हो चुका था। हिन्दी आलोचना के परम्परा-प्राप्त रूप को सम्पोषित कर उसके स्वरूप को वैज्ञानिक बनाने का श्रेय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को प्राप्त है। आचार्य शुक्ल हिन्दी के पहले समालोचक हैं जिन्होंने भारतीय और पाश्चात्य समालोचना का अद्भुत समन्वय किया है। उन्होंने भारतीय आलोचना सिद्धान्तों का पुनर्निर्माण वैज्ञानिक आधार पर किया है। प्राचीन और नवीन काव्य-सिद्धान्तों का समन्वय कर और अपनी गूढ़ सम्मति देकर आचार्य शुक्ल ने हिन्दी आलोचना के नये सिद्धान्त सुनिश्चित किये। उन्होंने एक ओर जहाँ प्राचीन रसवाद का समर्थन किया, वहीं दूसरी ओर पश्चिमी आलोचना के ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक, व्याख्यात्मक आदि महत्त्वपूर्ण पक्षों का पुरजोर समर्थन भी किया है। हिन्दी की सैद्धान्तिक आलोचना को परिचय और सामान्य विवेचन के धरातल से ऊपर उठाकर गम्भीर स्वरूप प्रदान करने का श्रेय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को ही प्राप्त है। आलोचना के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक, दोनों रूपों में आचार्य शुक्ल का अवदान अभूतपूर्व है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के आलोचना कर्म के वैशिष्ट्य की ओर संकेत करते हुए पण्डित नन्ददुलारे वाजपेयी का मत है कि "आचार्य शुक्ल ने द्विवेदीयुगीन काव्य-चिन्तन को न केवल उसकी तर्कसम्मत परिणति तक पहुँचाया, अपितु अपने स्वयं के अत्यन्त परिष्कृत तथा प्रौढ़ चिन्तन द्वारा हिन्दी समीक्षा के क्षेत्र में एक नये युग की नींव भी रखी है।" शुक्ल जी ने प्राचीन कवियों विशेषकर तुलसी, जायसी और सूरदास के विवेचन में उच्च कोटि की आलोचनात्मक क्षमता का परिचय दिया है, किन्तु आधुनिक कवियों के प्रति वे अनौचित्य की सीमा तक अनुदार हो गए हैं।

4.5.2.1. आचार्य शुक्ल की आलोचना पद्धति

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का दार्शनिक चिन्तन लोकोन्मुख है। लोकोन्मुख दार्शनिक चिन्तन की पृष्ठभूमि में ही उन्होंने साहित्य और काव्य की लोकपरक व्याख्या की है। वे काव्य या साहित्य को लोकेतर भूमिकाओं से सम्बद्ध नहीं करते। 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', 'जायसी ग्रन्थावली की भूमिका', 'चिन्तामणि', 'गोस्वामी तुलसीदास', 'सूरदास' आदि आचार्य शुक्ल के महत्त्वपूर्ण समीक्षा ग्रन्थ हैं।

आचार्य शुक्ल साहित्य और कविता की उत्पत्ति विकास तथा प्रयोजन लोक के भीतर ही स्वीकार और प्रमाणित करते हैं। 'चिन्तामणि' के दूसरे भाग उन्होंने लिखा है – "मनुष्य लोकबद्ध प्राणी है, उसका अपनी सत्ता का ज्ञान तक लोकबद्ध है, लोक के भीतर ही कविता क्या किसी भी कला का प्रयोजन और विकास होता है।" इस प्रकार कविता और कला का विकास ही नहीं, अपितु कविता और कला की और उसके रचनाकार की श्रेष्ठता की कसौटी भी आचार्य रामचन्द्र शुक्ल लोकजीवन के साथ उसके सम्बन्ध को ही स्वीकार करते हैं। उनकी स्पष्ट धारणा है कि किसी रचनाकार की महानता का अनुमान केवल इसी से लगाया जा सकता है कि उसने अपनी रचना में जीवन को कितना महत्त्व दिया है। उनका मानना है कि जो कवि अपनी कृति में जीवन की जितनी अधिक परिस्थितियों एवं जितनी अधिक वृत्तियों को चित्रित करता है, वह उतना ही बड़ा है। वस्तुतः इसी दृष्टिकोण के आधार पर सूरदास के काव्य-सौन्दर्य की प्रशंसा करते हुए भी उन्होंने तुलसीदास को बड़ा कवि सिद्ध किया है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल रस की व्याख्या भी अपने लोकोन्मुखी चिन्तन के आलोक में ही करते हैं। साथ ही, रहस्यवाद के खण्डन का आधार भी उनका लोकोन्मुखी चिन्तन ही है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि आचार्य शुक्ल ने जब भी जीवन या लोकजीवन की बात की है, उन्होंने उसे समग्रता में ही ग्रहण किया है। सुख-दुःखात्मक भावों की समष्टि ही आचार्य शुक्ल के विचार से मानव जीवन का निर्माण करती है और साहित्य तथा काव्य में उन्होंने दोनों की स्थिति को अनिवार्य माना है। इस परिप्रेक्ष्य में 'चिन्तामणि' के प्रथम भाग में भावों और मनोविकारों की जो व्याख्या उन्होंने की है, उनका सम्बन्ध सुख और दुःख दोनों ही क्षेत्रों से सम्बन्ध रखने वाले भावों तथा मनोविकारों से हैं। मानव जीवन की पूर्णता वे दोनों प्रकार के भावों के साथ उसके साहचर्य में देखते हैं। इस सम्बन्ध में एकांगी दृष्टिकोण का उन्होंने सदैव विरोध किया है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल भाववादी दार्शनिकों की भाँति संसार को मिथ्या या असत्य नहीं मानते हैं। वे न केवल संसार को सत्य और यथार्थ मानते हैं, अपितु उनके अनुसार यह जगत् अत्यन्त भरा-पूरा और सम्पन्न भी है। उनकी दृढ़ मान्यता है कि यही गोचर जगत् कवि को काव्य-रचना की प्रेरणा देता है। इसी गोचर जगत् से प्राप्त अनुभूतियाँ साहित्य तथा काव्य में चित्रित होती हैं और इसी का सौन्दर्य अनेक रूपों में कविता या कला का विषय बनता है। उनके अनुसार अनुभूतियों का क्षेत्र जितना अधिक व्यापक होता जाता है, कविता उतनी ही व्यापक और गम्भीर होती जाती है। यद्यपि काव्य अथवा कला का प्रसार क्षेत्र बाह्य जगत् ही होता है। आचार्य शुक्ल इस बाह्य संसार या गोचर जगत् के अलावा कविता या कला का कोई अन्य स्रोत अथवा माध्यम स्वीकार नहीं करते हैं।

'चिन्तामणि दूसरा भाग' के अन्तर्गत 'काव्य में रहस्यवाद' की स्थिति प्रकट करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लोकजीवन व व्यवहार के सन्दर्भ में काव्य की व्याख्या की है। 'काव्य में रहस्यवाद' का मुख्य विषय अज्ञात और अगोचर के साथ हृदय के सम्बन्धों का प्रतिपादन है। आचार्य शुक्ल इस प्रवृत्ति को स्वाभाविक नहीं मानते। वे काव्य में रहस्यवाद की स्थिति एक विशिष्ट प्रवृत्ति के रूप में स्वीकार करते हैं।

पाश्चात्य साहित्य-चिन्तन में प्रचलित मान्यता 'कला कला के लिए' (Art for art's sake) का और हिन्दी साहित्य पर पड़ रहे उसके दुष्प्रभाव का आचार्य शुक्ल ने कठोरतापूर्वक खण्डन किया है। उनके अनुसार

"जो काव्यों का अनुशीलन और जनता पर उनके प्रभाव का अन्वीक्षण करते आ रहे हैं, वे अच्छी तरह जानते हैं कि कविता जीवन ही से उत्पन्न है और जीवन के भीतर ही अपनी विभूति का प्रकाश करती है। उसे जीवन से विच्छिन्न बताना कहीं की बात कहीं लगाना है।" 'कला के लिए कला' दृष्टिकोण का खण्डन करते हुए उन्होंने बल देकर कहा है कि "काव्य को हम जीवन से अलग नहीं कर सकते। उसे हम जीवन पर मार्मिक प्रभाव डालने वाली वस्तु मानते हैं। 'कला कला के लिए' वाली बात को जीर्ण होकर मरे हुए बहुत दिन हो गए। एक क्या कई क्रोचे फिर उसे जिला नहीं सकते।"

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का रस सम्बन्धी चिन्तन परम्परा का पिष्टपेषण नहीं है। उनका रस-अनुशीलन रूढ़ और शास्त्रबद्ध नहीं है। वस्तुतः शास्त्र को उन्होंने छोड़ा नहीं है, लेकिन अपनी मान्यताओं के अनुसार उसमें आवश्यकतानुकूल संशोधन, परिष्कार तथा विस्तार किया है। 'जायसी ग्रन्थावली' की भूमिका में उन्होंने लिखा है – "संसार के गहरे अनुभव तथा उन अनुभवों के मार्मिक पक्षों को ग्रहण करने की भावुकता कवि में आवश्यक रूप से होनी चाहिए। जो कवि हृदय की जितनी सच्चाई के साथ इस मार्मिकता को पा लेता है, वह उतना ही बड़ा कवि है।" आचार्य शुक्ल केवल आनन्द को रस का साध्य नहीं मानते हैं। वे आनन्द को काव्य का साध्य भी नहीं स्वीकार करते हैं। इस सन्दर्भ में प्राचीन काव्यचिन्तकों से उनका बुनियादी मतभेद इसी आधार पर है। उन्होंने रस-विवेचन के निहितार्थ कविता में वस्तु, चित्र और विभाव पक्ष को अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व प्रदान किया है। रसानुभूति और जीवनानुभूति के बीच अन्तर न मानते हुए उन्होंने कहा है कि "जहाँ काव्य-समीक्षक केवल कल्पित रूपविधान को ही अपने विचार-क्षेत्र के भीतर लेते हैं, वहाँ उन्हें प्रत्यक्ष और स्मृत रूप विधानों को भी स्वीकार करना चाहिए।" आचार्य शुक्ल ने लोक के सन्दर्भ को एक क्षण के लिए भी दृष्टि से ओझल नहीं होने दिया है। अपनी लोकपरक चिन्तन-दृष्टि के ही सन्दर्भ में उन्होंने अपने रस-चिन्तन का स्वरूप भी स्पष्ट किया है। रसमीमांसा में "लोकहृदय में हृदय के लीन होने की दशा का नाम रसदशा है" कहकर उन्होंने स्पष्ट कर दिया है कि उनका रस-चिन्तन उनकी लोकमंगलवादी धारणा से विच्छिन्न न होकर उसका ही एक अविभाज्य अंग है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ब्रह्म के सत्, चित् और आनन्द – इन तीन स्वरूपों में से काव्य और भक्ति मार्ग को आनन्दस्वरूप को लेकर चलने वाला मानते हैं। लोक में इस आनन्द की उन्होंने दो अवस्थाएँ बतायी हैं – साधनावस्था और सिद्धावस्था। ब्रह्म का आनन्दस्वरूप सदैव आभासित नहीं होता। उसका आविर्भाव और तिरोभाव होता रहता है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के चिन्तन में सर्वत्र कविता और मानव जीवन के घनिष्ठ सम्बन्धों का प्रतिपादन किया गया है। साथ ही, उन्होंने रस और लोकमंगल की भूमि पर दृढ़ता से खड़े होकर हिन्दी काव्य-चिन्तन को एक पुष्ट सामाजिक एवं मानवीय आधार प्रदान किया है। साहित्य और मानव जीवन के बीच के इस घनिष्ठ सम्बन्ध सूत्र व समीक्षा-पद्धति के आधार पर ही उन्होंने आलोचना के विविध आयामों को विकसित किया है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने सैद्धान्तिक आलोचना सम्बन्धी कोई ग्रन्थ नहीं लिखा है तथापि उनके विभिन्न निबन्धों और समीक्षात्मक ग्रन्थों में उनकी आलोचना-पद्धति पर पर्याप्त चिन्तन मिल जाता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की आलोचना-पद्धति की महत्त्वपूर्ण विशेषताओं को इस प्रकार परिगणित किया जा सकता है –

(i) आचार्य शुक्ल ने रचना के भावपक्ष और कलापक्ष को समान महत्त्व देते हुए उनकी मनोवैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत की है। कवि की अन्तःवृत्तियों की खोज करने की प्रवृत्ति भी उनकी आलोचना-पद्धति की एक विशेषता है।

(ii) पाश्चात्य और भारतीय विचारों के समन्वय से निर्मित होने के बावजूद उनके विचारों में मौलिकता है। कविता की आवश्यकता पर बल देते हुए उन्होंने कहा है कि – "ज्यों-ज्यों हमारी वृत्तियों पर सभ्यता के नये-नये आवरण चढ़ते जाएँगे, त्यों-त्यों एक ओर कविता की आवश्यकता बढ़ती जाएगी, दूसरी ओर कविकर्म कठिन होता जाएगा।"

(iii) आचार्य शुक्ल की आलोचना-पद्धति में हृदय और बुद्धि का सुन्दर समन्वय परिलक्षित होता है। विश्लेषण की नीरसता व शुष्कता उनकी रचनाओं में कहीं भी नहीं है। वे प्रसंगानुकूल हास्य-व्यंग्य के माध्यम से अपनी आलोचनाओं को सरस बनाते रहे हैं। एक सच्चे आलोचक की भाँति गुण-दोष पर उनकी दृष्टि समान है। उनकी आलोचनाएँ कोरी प्रशंसात्मक नहीं हैं। उल्लेखनीय है कि उन्होंने अपने प्रिय कवि तुलसीदास तक के दोषों का निर्देश किया है।

(iv) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने जहाँ एक ओर सैद्धान्तिक आलोचना के क्षेत्र में काव्य के सूक्ष्मतम सौन्दर्य का उद्‌घाटन करके उसे एक व्यापक रूप प्रदान किया है, वहीं दूसरी ओर व्यावहारिक समीक्षा के क्षेत्र में युग, इतिहास, परम्परा, नव-सम्प्रदाय, विचार, शैली, अलंकार आदि को स्थान देकर अपनी व्यापक दृष्टि का परिचय दिया है।

4.5.2.2. शुक्लयुगीन आलोचना : सैद्धान्तिक आधार एवं आलोचनात्मक दृष्टि

शुक्लयुग में हिन्दी आलोचना एक नवयुग में प्रवेश करती है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के प्रतिनिधित्व में समालोचना हिन्दी साहित्य की महती एवं अनिवार्य आवश्यकता बन गई थी। सैद्धान्तिक आधार एवं आलोचनात्मक दृष्टि से शुक्लयुगीन आलोचना के वैशिष्ट्य को निम्नलिखित बिन्दुओं के अन्तर्गत परिगणित किया जा सकता है –

(i) हिन्दी साहित्य की सैद्धान्तिक आलोचना को सामान्य जानकारी एवं विश्लेषण तक सीमित करने की अपेक्षा उसे गम्भीर व व्यापक स्वरूप प्रदान करने का श्रेय शुक्लयुगीन आलोचना को प्राप्त है।

(ii) शुक्लयुगीन आलोचकों ने व्यावहारिक समीक्षा का सम्यक् विकास करने में महती भूमिका निभायी है।

(iii) शुक्लयुगीन आलोचना में जहाँ एक ओर भाव, विभाव, रस आदि महत्त्वपूर्ण विषयों की सारगर्भित पुनर्व्याख्या की गई है, वहीं साथ ही विभिन्न मनोभावों की मौलिक, बौद्धिक और सूक्ष्म विश्लेषणपरक व्याख्या की गई है।

(iv) शुक्लयुगीन आलोचना में रचनाकार की अन्तःवृत्तियों यानी मानसिक उत्कर्ष व अपकर्ष का अध्ययन एवं विश्लेषण किया गया है।

(v) शुक्लयुगीन आलोचना में हिन्दी के प्राचीन कवियों की रचनाओं को विशेष महत्त्व दिया गया है। शुक्लयुगीन समीक्षकों ने आचार्य शुक्लकी आलोचना-पद्धति के आधार पर सम्बद्ध कवि या युगीन काव्यधारा का सविस्तार विश्लेषण मात्र किया है।

(vi) हिन्दी साहित्य की छायावादी प्रवृत्तियों का विविधायामी विवेचन शुक्लयुगीन आलोचना की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। यहाँ छायावादी प्रवृत्तियों के प्रामाणिक विवेचन के साथ-साथ उसकी रचनात्मक भावभूमि, विचारधारा, कला, भाषा तथा उन पर पड़े प्रभावों की सन्तुलित व्याख्या करने की प्रवृत्ति सर्वत्र परिलक्षित होती है।

(vii) काव्य और नाट्य सम्बन्धी रचनाओं के सन्दर्भ में शुक्लयुगीन आलोचना में एक ऐसा प्रारूप विकसित हुआ जिसका व्यापक प्रभाव परवर्ती साहित्यालोचना पर दिखता है।

4.5.2.3. प्रमुख आलोचक

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल शुक्लयुगीन समीक्षा के प्रतिनिधि आलोचक हैं। उन्होंने हिन्दी साहित्य में पहली बार रस-विवेचन को मनोवैज्ञानिक आधार प्रदान कर उसे पुनः व्याख्यायित करने का अभूतपूर्व प्रयास किया है। उनके बहुचर्चित निबन्धों यथा – 'कविता क्या है' (सरस्वती, 1908), 'साहित्य' (1914) आदि के माध्यम से उनकी काव्यशास्त्रीय दृष्टि और स्वतन्त्र चिन्तन शक्ति का सहज ही परिचय हो जाता है। शुक्लयुगीन आलोचना व उसकी परम्परा को विकसित करने में तत्युगीन अन्य समीक्षकों ने भी महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। शुक्लयुगीन आलोचकों के उल्लेखनीय योगदान के कतिपय उदाहरण इस प्रकार हैं –

(i) कृष्णशंकर शुक्ल ने अपनी सुप्रसिद्ध रचना 'केशव की काव्यकला' (1934) और 'कविवर रत्नाकर' (1935) में क्रमशः केशवदास और रत्नाकर की जीवनी तथा उनके कृतित्व के विभिन्न पक्षों पर अन्वेषणात्मक दृष्टि से विचार किया है।

(ii) विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने अपनी आलोचनात्मक कृति 'बिहारी की वाग्विभूति' (1936) में शास्त्रीय आलोचना-पद्धति के आधार पर बिहारी के दोहों पर पूर्ववर्ती काव्य के प्रभाव का विश्लेषण किया है। स्मरणीय है कि बिहारी के काव्य-सौन्दर्य का सम्यक् विवेचन करने वाली यह पहली आलोचनात्मक कृति है। उनकी दूसरी आलोचनात्मक कृति 'हिन्दी-नाट्य साहित्य का विकास' भी एक उल्लेखनीय ग्रन्थ है जिसमें उन्होंने संस्कृत नाट्य-साहित्य के आधार पर हिन्दी नाटकों का सारगर्भित विवेचन किया है।

(iii) शुक्लयुगीन आलोचकों में रामकृष्ण शुक्ल 'शिलीमुख' (प्रसाद की नाट्यकला, 1929); ब्रजरत्नदास (हिन्दी नाट्य-साहित्य, 1930); रामकुमार वर्मा (कबीर का रहस्यवाद, 1931); जर्नादन मिश्र (विद्यापति, 1932); कृष्णानन्द गुप्त (प्रसाद जी के दो नाटक, 1933); भुवनेश्वर प्रसाद मिश्र 'माधव' (मीराँ की प्रेम साधना, 1934); गिरिजादत्त शुक्ला 'गिरीश' (महाकवि हरिऔध, 1934); गुप्त जी की काव्यधारा, 1937); रामनाथ 'सुमन' (प्रसाद की काव्यकला, 1938) आदि उल्लेखनीय हैं।

(iv) शुक्लयुगीन आलोचकों में बद्रीनाथ भट्ट, ललित किशोर सिंह, बनारसीदास चतुर्वेदी, पद्मसिंह शर्मा, हेमचंद्र जोशी आदि समीक्षकों ने जहाँ एक ओर अपने-अपने ढंग से तत्युगीन छायावादी प्रवृत्तियों का तीव्र विरोध किया है, वहीं दूसरी ओर अवध उपाध्याय, कृष्णदेवप्रसाद गौड़, शान्तिप्रसाद द्विवेदी आदि जैसे समीक्षकों ने छायावाद का समर्थन भी किया है।

(v) आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने शुद्ध सौन्दर्यबोधात्मक मूल्यों की दृष्टि से छायावादी काव्य का मूल्यांकन किया है। उनके आलोचनात्मक निबन्धों में उनकी काव्य विषयक विवेचन क्षमता सहज ही अनुभूत है।

हिन्दी समीक्षा में शुक्लयुगीन आलोचना का अवतरण एक महत्त्वपूर्ण आयाम है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी समीक्षा के सुनिश्चित मानदण्ड निर्धारित किये एवं एक सुविकसित पद्धति प्रारम्भ की। शुक्लयुगीन आलोचना की परम्परा का महत्त्व एवं उपयोगिता इस अर्थ में भी है कि यहाँ सामाजिकता को साहित्य का एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व मानते हुए लोकमंगल के निहितार्थ कविता के भावपक्ष एवं कलापक्ष पर समान रूप से विस्तृत एवं व्यापक चिन्तन की प्रवृत्ति विकसित करने का प्रयास किया गया।

4.5.3. शुक्लयुगीन निबन्ध

हिन्दी निबन्ध आधुनिक युग की देन है। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से जब हिन्दी प्रान्त में पत्र-पत्रिकाओं का प्रचलन बढ़ने लगा था तभी से निबन्ध साहित्य की नींव पड़ने लगी थी। इसका आरम्भ उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से माना जा सकता है। अपने ग्रन्थ 'निबन्ध का विकास' की भूमिका में निबन्ध की परिभाषा और स्वरूप पर विचार करते हुए डॉ॰ सरला शुक्ला लिखती हैं – "वस्तुतः हिन्दी साहित्य की विभिन्न विधाओं के बीच निबन्ध की स्थिति आज भी बहुत स्पष्ट नहीं हो सकी है। निबन्ध की आत्मा को शब्दों में बाँधने और परिभाषित करने का ही नहीं, बल्कि इसके रूप, विधा, शैली और रचना का प्रश्न भी पूरी तरह सुलझ नहीं सका है। निबन्ध की परिभाषा की समस्या पर अन्तिम रूप से अभी भी निष्कर्ष पर नहीं पहुँचा जा सका है। निबन्ध का स्वरूप आज भी विवादग्रस्त है। हम जिन रचनाओं को आज 'निबन्ध' नाम देते हैं, वे एक ओर लेख, प्रबन्ध की सीमाएँ छूती हैं और दूसरी ओर संस्मरण, रेखाचित्र, यात्रावृत जैसी स्मृतिधर्मी विधाओं को भी अपने भीतर समाहित कर लेती हैं। कई विद्वानों ने मात्र ललित, वैयक्तिक निबन्धों को ही निबन्ध माना है। कुछ अन्य विद्वानों ने निबन्ध के अनेकानेक भेद बताकर एक समन्वयवादी हल निकाला है और निबन्ध का अत्यन्त विस्तृत क्षेत्र स्वीकार किया है।"

संस्कृत में 'निबन्ध' और 'प्रबन्ध' शब्द प्रायः समान अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। हालाँकि, हिन्दी में निबन्ध की स्थिति भिन्न है। हिन्दी में निबन्ध साहित्य का प्रादुर्भाव और विकास हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओं के साथ हुआ। पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन के साथ जिस नयी चेतना का उदय हुआ, उसके साथ ही सरलता और विस्तार से विचार-अभिव्यक्ति के लिए निबन्ध विधा का अभ्युदय हुआ। इस आलोक में भारतेन्दु युग को हिन्दी निबन्ध की विकास-यात्रा का प्रारम्भिक चरण माना जा सकता है। हिन्दी निबन्ध के विकास के द्वितीय चरण को आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के नाम पर द्विवेदीयुग की संज्ञा दी गई है। इसी अनुक्रम में आगे चलकर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का हिन्दी निबन्ध के क्षेत्र में आगमन होता है जो हिन्दी निबन्ध के क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण एवं युगान्तकारी घटना मानी जाती है। उल्लेखनीय है कि हिन्दी निबन्ध के तृतीय चरण को शुक्ल युग के नाम से जाना जाता है। इस युग में निबन्धों का विषय-क्षेत्र अत्यधिक विस्तृत एवं व्यापक है और उनमें पर्याप्त गम्भीरता एवं सूक्ष्म विश्लेषण की प्रवृत्ति सहज ही परिलक्षित होती है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपनी मौलिकता और प्रतिभा से हिन्दी निबन्ध साहित्य का नूतन मार्ग प्रशस्त किया। उन्होंने विभिन्न मनोवृत्तियों एवं मनोभावों का व्यावहारिक विश्लेषण किया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल इस युग के प्रतिनिधि निबन्धकार हैं। आचार्य शुक्ल के निबन्धों का संग्रह पहले 'विचार-वीथी' शीर्षक से प्रकाशित हुआ था बाद में वही परिष्कृत रूप में 'चिन्तामणि पहला भाग' के रूप में प्रकाशित हुआ। इसी अनुक्रम में आचार्य शुक्ल के विचारात्मक निबन्धों का एक अन्य संग्रह 'चिन्तामणि दूसरा भाग' शीर्षक से प्रकाशित हुआ है। शुक्ल जी के समस्त निबन्ध इन दो ग्रन्थों में संकलित हैं। आचार्य शुक्ल के निबन्धों में प्रौढ़ चिन्तन, सूक्ष्म विश्लेषण और तर्कपूर्ण क्रमबद्ध विवेचन का परम आदर्श परिलक्षित होता है। 'चिन्तामणि' के प्रथम भाग में मनोविकार, साहित्य-सिद्धान्त तथा साहित्यालोचना विषयक निबन्ध शामिल हैं जबकि 'चिन्तामणि' के दूसरे भाग में 'काव्य में प्राकृतिक दृश्य', 'काव्य में रहस्यवाद' और 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' निबन्ध न होकर आलोचनात्मक लेख सम्मिलित हैं। अपने निबन्धों में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल विचारों को अत्यन्त प्रभावपूर्ण एवं कुशलता से अभिव्यक्त किया है। आचार्य शुक्ल की निबन्ध-कला का वैशिष्ट्य निरूपित करते हुए डॉ॰ गणपतिचन्द्र गुप्त का कथन है – "वस्तुतः शुक्ल जी के निबन्धों में वे सभी गुण मिल जाते हैं जो गम्भीर विषयों के निबन्धों के लिए अपेक्षित हैं। शुक्ल जी की शैली में भी निजी विशिष्टता मिलती है। भारतेन्दुयुग की सी मौलिकता उसमें है, किन्तु वे उसके छिछलेपन से दूर हैं। द्विवेदीयुग की सी उसमें विचारात्मकता है, किन्तु वैसी शुष्कता का उनमें अभाव है।" समग्रतः कहा जा सकता है कि शुक्लयुगीन निबन्धों में जिन विविध आयामों की प्रतिष्ठा हुई उसके परिणामस्वरूप ही हिन्दी निबन्ध का परवर्ती काल में चहुँमुखी विकास हुआ है।

4.5.3.1. विषयवस्तु एवं शिल्पगत वैशिष्ट्य

शुक्लयुगीन निबन्धों में चिन्तन की मौलिकता, विश्लेषण की सूक्ष्मता एवं शैली की प्रौढ़ता के दर्शन एक साथ होते हैं। इस युग के प्रतिनिधि निबन्धकार आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के निबन्धों के सम्बन्ध में यह निर्णय करना कठिन है कि वे विषयप्रधान हैं अथवा व्यक्तिप्रधान। क्योंकि, उनके निबन्धों में वैयक्तिकता का तत्त्व भी है और गम्भीर विवेचन तथा सूक्ष्म विश्लेषण भी है। यदि यह कहा जाए कि "शैली ही व्यक्तित्व है" तो यह कथन शुक्ल

जी के निबन्धों पर पूर्णतः चरितार्थ होता है। वस्तुतः आचार्य शुक्ल विषय के अनुरूप सभी शैलियों का प्रयोग करने में दक्ष हैं। कहीं वे सूत्र शैली का प्रयोग करते हैं तो कहीं उनकी शोधपरक गवेषणात्मक शैली अत्यन्त प्रभावी है। उदाहरण के तौर पर उनके कुछ सूत्रात्मक वाक्य द्रष्टव्य हैं –

"अव्यवस्थित चित्त वाले मनुष्यों की सफलता में सदैव सन्देह रहता है।"

* * *

"यदि प्रेम स्वप्न है तो श्रद्धा जागरण।"

* * *

"बैर क्रोध का अचार या मुरब्बा है।"

* * *

"श्रद्धा सामर्थ्य के प्रति होती है, दया असामर्थ्य के प्रति।"

* * *

"श्रद्धा और प्रेम के योग का नाम भक्ति है।"

शुक्लयुगीन निबन्धों की विषयवस्तु एवं शिल्पगत वैशिष्ट्य को निम्नलिखित बिन्दुओं में परिगणित किया जा सकता है –

(i) शुक्लयुगीन निबन्ध मनोविज्ञान, साहित्य, भाषा, इतिहास, दर्शन, संस्कृति आदि सभी विषयों को अपने में समाविष्ट किए हुए हैं जहाँ लेखकीय भावुकता, आत्मीयता और व्यंग्य का अद्भुत समन्वय देखने को मिलता है। उदाहरणार्थ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के साहित्य समीक्षा सम्बन्धी निबन्ध शास्त्रीय समालोचना से सम्बन्धित हैं। 'कविता क्या है' निबन्ध में उन्होंने कविता के लक्षणों को सरलतम ढंग से स्पष्ट किया है।

(ii) निजी अनुभूतियों एवं वैयक्तिक भावनाओं की प्रभावपूर्ण अभिव्यक्ति शुक्लयुगीन निबन्धों की एक मुख्य प्रवृत्ति रही है।

(iii) आत्माभिव्यंजना, शिष्ट हास्य, मार्मिक व्यंग्य, परिष्कृत व परिमार्जित शैली के कारण शुक्लयुगीन निबन्धों का हिन्दी साहित्य में एक विशिष्ट स्थान है। इन निबन्धों में आलोचनात्मक शैली, गवेषणात्मक शैली, भावनात्मक शैली, हास्य-व्यंग्यपूर्ण शैली, समास शैली आदि विविध शैलियों का प्रयोग विषयवस्तु के अनुरूप किया गया है।

(iv) ऐतिहासिक निबन्धों के सन्दर्भ में प्रायः भाषिक चित्रात्मकता, संकेत योजना और अर्थसम्पन्नता सम्पूर्णता में दिखाई देती है।

(v) भावप्रधान निबन्धों में भावुकता की प्रधानता है तथापि विचारशून्यता की स्थिति नहीं आने पाई है।

(vi) कतिपय निबन्धों में 'विषय' की प्रधानता न होकर लेखक के व्यक्तित्व, उसकी निजी प्रतिक्रियाओं, उल्लास तथा व्यंग्यपूर्ण क्षणों की प्रवाहपूर्ण अभिव्यक्ति हुई है।

(vii) शुक्लयुगीन निबन्धों की भाषा प्रायः सुगठित व परिमार्जित है। संस्कृतनिष्ठ तत्सम शब्दावली से युक्त परिमार्जित हिन्दी का प्रयोग निबन्धकारों ने हिन्दी के आदर्श रूप को स्थापित करने के लिए किया है। तथापि आवश्यकतानुसार तद्भव, देशज व विदेशी शब्दों का प्रयोग करने में भी लेखकों ने किसी प्रकार का संकोच नहीं किया है। प्रसंगानुकूल भाषा में लाक्षणिक प्रयोग भी शुक्लयुगीन निबन्धों में प्रायः देखने को मिलता है।

(viii) विचारों के विवेचन, विषय-निरूपण और सिद्धान्त-प्रतिपादन में शुक्लयुगीन निबन्धों की भाषा-शैली सक्षम एवं प्रभावी है। इन निबन्धों की भाषा व्याकरणसम्मत और अशुद्धियों से सर्वथा रहित है। शुक्लयुगीन निबन्धों में लेखकों ने अलंकारों का प्रयोग चमत्कार-प्रदर्शन की अपेक्षा विषय को अधिक प्रभावशाली एवं सम्प्रेषणीय बनाने के लिए किया है।

4.5.3.2. प्रमुख निबन्धकार

हिन्दी निबन्ध साहित्य की विकास-यात्रा में शुक्ल युग को स्वर्ण युग माना जाता है। इस युग के प्रतिनिधि निबन्धकार आचार्य रामचन्द्र शुक्ल स्वयं एक सुप्रसिद्ध समालोचक, समीक्षक, निबन्धकार और इतिहासकार के रूप में प्रतिष्ठित हैं। हिन्दी निबन्ध के क्षेत्र में उनका योगदान अप्रतिम है। बाबू गुलाबराय, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, वियोगी हरि, राय कृष्णदास, शान्तिप्रिय द्विवेदी, शिवपूजन सहाय, बेचन शर्मा 'उग्र', रघुवीर सिंह, माखनलाल चतुर्वेदी आदि शुक्लयुगीन अन्य बहुचर्चित निबन्धकार हैं जिनके रचनात्मक शब्द भी सार्थक हैं और उनका व्यक्तित्व भी प्रेरणास्पद है। शुक्लयुगीन निबन्धकारों के कृतित्व का वैशिष्ट्य निम्नलिखित बिन्दुओं के अन्तर्गत परिगणित किया जा सकता है –

(i) बाबू गुलाबराय हिन्दी निबन्ध के महत्त्वपूर्ण हस्ताक्षर हैं। उन्होंने अपने निबन्धों में साहित्यिक समस्याओं पर विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। यद्यपि उनके कुछ निबन्ध नितान्त वैयक्तिक हैं, तथापि उनमें उनके व्यक्तित्व के विभिन्न पहलू उजागर हुए हैं। 'मेरे निबन्ध', 'मेरी असफलताएँ', 'ठलुआ क्लब', 'फिर निराशा क्यों' आदि बाबू गुलाबराय के चर्चित निबन्ध-संग्रह हैं। उनके 'मेरा मकान', 'मेरा नापिताचार्य', 'मेरी दैनिकी का एक पृष्ठ', 'प्रीतिभोज' आदि निबन्ध ललित निबन्ध-कला की सभी विशेषताओं से युक्त हैं।

(ii) पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी एक विशिष्ट शैली के निबन्धकार के रूप में सामने आते हैं। इनके निबन्धों में मौलिक विचार और नयी शैली के दर्शन होते हैं। कहीं-कहीं अन्तर्कथाओं का प्रयोग भी उन्होंने सफलतापूर्वक किया है। इन्होंने जीवन, समाज, धर्म, संस्कृति और साहित्य आदि विभिन्न

विषयों पर उच्च कोटि के ललित निबन्ध लिखे हैं। इनके निबन्धों में नाटक की सी रमणीयता और कहानी जैसी रंजकता पायी जाती है। यत्र-तत्र शिष्ट तथा गम्भीर व्यंग्य-विनोद की अवतारणा करते चलना इनके शैलीकार की एक प्रमुख विशेषता है। उनके निबन्ध 'कुछ', 'और कुछ', 'हिन्दी कथा-साहित्य', 'हिन्दी साहित्य विमर्श', 'बिखरे पन्ने', 'तुम्हारे लिए', 'कथानक', 'हम – मेरी अपनी कथा', 'मेरा देश', 'मेरे प्रिय निबन्ध', 'वे दिन', 'समस्या और समाधान', 'नवरात्र', 'जिन्हें नहीं भूलूँगा', 'हिन्दी साहित्य : एक ऐतिहासिक समीक्षा', 'अन्तिम अध्याय', 'प्रदीप', 'पंचपात्र' आदि निबन्ध-संग्रहों में संकलित हैं।उनके 'अतीत स्मृति', 'उत्सव', 'रामलाल पण्डित', 'श्रद्धांजलि के दो फूल' जैसे निबन्धों में भावुकता, आत्मीयता और व्यंग्य का समन्वय मिलता है।

(iii) वियोगी हरि के निबन्धों की भाषा में गति की सजीवता और पर्याप्त चित्रात्मकता है। उन्होंने गम्भीर से गम्भीर विषयों को भी अत्यन्त सहजता के साथ प्रस्तुत किया है। उनके निबन्धों पर आचार्य शुक्ल का प्रभाव सहज ही परिलक्षित होता है।

(iv) राय कृष्णदास के निबन्धों का हिन्दी साहित्य में विशिष्ट स्थान है। आधुनिक युग की विकृतियों का चित्रण करते समय उन्होंने हास्य-व्यंग्यमयी शैली का प्रयोग किया है।

(v) शान्तिप्रिय द्विवेदी ने एक ओर जहाँ आलोचनात्मक निबन्धों की रचना की है, वहीं दूसरी ओर उनके द्वारा रचित वैयक्तिक निबन्ध भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। 'कवि और काव्य' तथा 'साहित्यिकी' उनके महत्त्वपूर्ण निबन्ध-संकलन हैं जिसमें भावुकता और आत्मीयता की प्रधानता है।

(vi) शुक्लयुगीन निबन्धकारों में शिवपूजन सहाय भाषा के जादूगर के रूप में सुविख्यात हैं। अपने 'कुछ' शीर्षक निबन्ध-संग्रह में संकलित निबन्धों में उन्होंने छोटे-से-छोटे विषयों को भी अत्यन्त सरल, प्रभावी एवं रोचक ढंग से प्रस्तुत किया है।

(vii) प्रख्यात निबन्धकार बेचन शर्मा 'उग्र' के अधिकांश निबन्ध भावात्मक हैं। वे चित्रात्मक, गतिशील और नाटकीय तीव्रता से युक्त भाषाओं का प्रयोग करते हैं। 'बुढ़ापा', 'गाली' आदि निबन्धों में उन्होंने सामाजिक और आर्थिक विषमताओं पर प्रभावपूर्ण ढंग से प्रकाश डाला है।

(viii) रघुवीर सिंह ने ऐतिहासिक घटनाओं को आधार बनाकर अनेक निबन्धों की रचना की है। मुग़लकालीन इतिहास की घटनाओं और इमारतों पर लिखित उनके ललित निबन्ध उल्लेखनीय हैं।

(ix) माखनलाल चतुर्वेदी ने भावात्मक निबन्धों की रचना की है, हालाँकि उनमें गम्भीर चिन्तन भी मौजूद है। वे अपने निबन्धों में प्रायः लाक्षणिक एवं प्रतीकात्मक भाषा-शैली का प्रयोग करते हैं।

4.5.4. शुक्लयुगीन अन्य गद्य-विधाएँ

शुक्ल युग में जीवनी, यात्रावृत्त, संस्मरण, गद्यकाव्य, पत्र-लेखन आदि गद्य-विधाओं के लेखन के छिटपुट प्रयास मिलते हैं, हालाँकि उनकी रचनात्मक उपयोगिता किसी मायने में कम नहीं है। खासकर गद्यकाव्य की रचनाओं में तो शुक्लयुगीन रचनाकारों का प्रयास अद्भुत है। उदाहरणार्थ माखनलाल चतुर्वेदी और रघुवीर सिंह ने उल्लेखनीय गद्यकाव्यों की रचना की है जिसमें उन्होंने वैयक्तिक आशा-निराशा, सुख-दुःख आदि घनीभूत

भावनाओं को सशक्त अभिव्यक्ति दी है। इसी सन्दर्भ में वियोगी हरि द्वारा रचित 'तरंगिणी', 'अन्तर्नाद', 'भावना' और 'प्रार्थना' आदि भक्तिपरक और उपदेशपरक गद्यकाव्य भी महत्त्वपूर्ण हैं। अनेक स्थलों पर उनमें राष्ट्रप्रेम का स्वर भी मौजूद है। धर्म और दर्शन विषयक रचनाओं में बाबू गुलाबराय द्वारा लिखित 'कर्त्तव्यशास्त्र' उल्लेखनीय ग्रन्थ है। इनके साथ ही शुक्ल युग में विविध प्रकार की पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन भी होता रहा जिससे तत्युगीन अभिरुचियों को जानने और समझने में सहायता मिलती है।

4.5.5. सारांश

शुक्लयुगीन साहित्य हिन्दी साहित्य की बहुविध श्रीवृद्धि करता है। इस युग में रचित साहित्यिक रचनाओं में न केवल विचारों की प्रभावपूर्ण प्रस्तुति और बौद्धिक विवेचन मिलता है, अपितु उनमें हृदय के भावों की पूर्ण अभिव्यक्ति भी समग्रता में हुई है। हिन्दी की सैद्धान्तिक आलोचना को सामान्य विवेचन के धरातल से ऊपर उठाकर गम्भीर स्वरूप प्रदान करने का श्रेय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को प्राप्त है। आचार्य शुक्ल की परम्परा व मार्गदर्शन में जहाँ एक ओर हिन्दी समालोचना का तीव्र एवं चहुँमुखी विकास हुआ, वहीं साथ ही निबन्ध व अन्य गद्य-विधाओं में भी विपुल साहित्य रचा गया। तीव्रगामी संसार, क्षण-क्षण बदलता मानवीय जीवन, प्रतिपल परिवर्तित मानवीय वृत्तियाँ, परिवेशगत विभिन्न परिस्थितियाँ, रूप, आकार, मानवीय सोच और सोच की आश्चर्यजनक प्रतिक्रियाएँ – ये समस्त विषय शुक्लयुगीन रचनाकारों की पकड़ से बाहर नहीं है। इन लेखकों की संवेदनाएँ इतनी तीव्र एवं पैनी हैं कि वे सूक्ष्म संवेदनाओं और भावनाओं को पकड़कर उसे कलमबद्ध कर देते हैं।

4.5.6. शब्दावली

अनुशीलन	:	समालोचना
उत्कर्ष	:	उत्थान
अपकर्ष	:	पतन
शुष्कता	:	नीरसता
पुरातन	:	प्राचीन
समसामयिक	:	समकालीन

4.5.7. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

1. वाजपेयी, नन्ददुलारे, हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, स्वराज प्रकाशन, नयी दिल्ली.
2. तिवारी, रामचन्द्र, आधुनिक हिन्दी साहित्य : विविध आयाम, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी.
3. चतुर्वेदी, रामस्वरूप, हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास, राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली.
4. वाजपेयी, नन्ददुलारे, हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, स्वराज प्रकाशन, नयी दिल्ली.
5. सिंह, नामवर, आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ, लोकभारती प्रकाशन, नयी दिल्ली.
6. सिंह, योगेन्द्र प्रताप, हिन्दी साहित्य का इतिहास और उसकी समस्याएँ, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली.

7. वर्मा, रामकुमार, हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद.
8. सिंह, बच्चन, आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद.

4.5.8. सम्बन्धित प्रश्न

टिप्पणी लिखिए –

1. शुक्लयुगीन आलोचना के सैद्धान्तिक आधार एवं आलोचनात्मक दृष्टि।
2. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की समीक्षा-पद्धति।
3. शुक्लयुगीन आलोचना के प्रमुख हस्ताक्षर।
4. शुक्लयुगीन हिन्दी निबन्ध का स्वरूप एवं विकास।
5. बाबू गुलाबराय के निबन्धों का रचनात्मक सन्दर्भ।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. "आलोचना के सैद्धान्तिक और प्रायोगिक, दोनों ही रूपों में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल दुर्लंघ्य हैं।" उक्त कथन की तथ्यपूर्ण पुष्टि कीजिए।
2. "शुक्लयुगीन निबन्धों में भाषिक-विधान, कथन का बाँकपन, ओज, प्रतीकात्मकता, लाक्षणिकता और प्रवाह सबकुछ का अत्यन्त सुन्दर समन्वय हुआ है।" उक्त कथन का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. 'भाषा के जादूगर' के रूप में प्रख्यात शुक्लयुगीन निबन्धकार हैं –

(क) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
(ख) बाबू गुलाबराय
(ग) शान्तिप्रिय द्विवेदी
(घ) शिवपूजन सहाय

2. 'ठलुआ क्लब' निबन्ध-संग्रह के रचयिता हैं –

(क) शिवपूजन सहाय
(ख) बालकृष्ण भट्ट
(ग) बाबू गुलाबराय
(घ) इनमें से कोई नहीं

3. 'अतीत स्मृति' निबन्ध के रचनाकार हैं –

(क) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

(ख) बाबू गुलाबराय

(ग) पदुमलाल पन्नालाल बख्शी

(घ) रघुवीर सिंह

4. 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' के लेखक हैं –

(क) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

(ख) आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी

(ग) श्यामसुन्दर दास

(घ) लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु'

5. 'कर्त्तव्यशास्त्र' के रचयिता हैं –

(क) बाबू गुलाबराय

(ख) बालकृष्ण भट्ट

(ग) श्यामसुन्दर दास

(घ) इनमें से कोई नहीं

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 5 : छायावादोत्तर युग और स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी साहित्य

इकाई – 1 : प्रगतिवाद, प्रयोगवाद

इकाई की रूपरेखा

5.1.0. उद्देश्य कथन
5.1.1. प्रस्तावना
5.1.2. प्रगतिवाद
 5.1.2.1. सैद्धान्तिक आधारभूमि
 5.1.2.2. सामाजिक सन्दर्भ व सामाजिक यथार्थ
 5.1.2.3. परम्परा और आधुनिकता
 5.1.2.4. सामान्य प्रवृत्तियाँ
 5.1.2.5. प्रगतिवादी समीक्षा
5.1.3. प्रयोगवाद
 5.1.3.1. सैद्धान्तिक आधारभूमि
 5.1.3.2. सामान्य प्रवृत्तियाँ
 5.1.3.3. प्रयोगवादी काव्य समीक्षा
 5.1.3.4. प्रपद्यवाद के घोषणापत्र का प्रारूप
5.1.4. सारांश
5.1.5. शब्दावली
5.1.6. उपयोगी ग्रन्थ-सूची
5.1.7. सम्बन्धित प्रश्न

5.1.0. उद्देश्य कथन

हिन्दी साहित्य में छायावाद जिन मूल्यों, आदर्शों और प्रवृत्तियों को लेकर अवतरित हुआ था और उनसे युक्त होकर साहित्य की जो आकृति निर्मित हुई थी उसे पुरानी पीढ़ी के आचार्यों द्वारा सहज समर्थन नहीं मिल सका। छायावाद की समाप्ति के उपरान्त हिन्दी साहित्य के मंच पर प्रगतिवाद, प्रयोगवाद का आगमन हुआ। वे युग अपने साथ अनेक प्रवृत्तियाँ सहित मूल्यांकन के नये प्रतिमान भी लाए। इस आलोक में प्रगतिवाद एवं प्रयोगवाद का अभ्युदय हिन्दी साहित्य में एक युगान्तकारी घटना है। प्रस्तुत इकाई प्रगतिवाद और प्रयोगवाद के विविध आयामों पर केन्द्रित है। प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. प्रगतिवाद की सैद्धान्तिक आधारभूमि, सामाजिक सन्दर्भ, सामाजिक यथार्थ, परम्परा और आधुनिकता का विवेचन कर सकेंगे।
ii. प्रगतिवाद की सामान्य प्रवृत्तियाँ व प्रगतिवादी समीक्षा से परिचित हो सकेंगे।

iii. प्रयोगवाद की सैद्धान्तिक आधारभूमि, सामान्य प्रवृत्तियाँ और प्रयोगवादी काव्य समीक्षा की व्याख्या कर सकेंगे।

iv. प्रपद्यवाद के घोषणापत्र का प्रारूप और 'प्रपद्य अष्टादश सूत्री' की विवेचना कर सकेंगे।

5.1.1. प्रस्तावना

प्रगतिवाद और प्रयोगवाद का उद्‌भव एवं विकास शून्य में नहीं हुआ है। एक नये दर्शन तथा चिन्तन के आलोक में 'प्रगतिशील लेखक संघ' की स्थापना के साथ प्रगतिशील साहित्य की चर्चा भी आरम्भ हो गई थी। और इसके लिए हिन्दी साहित्य में 'प्रगतिवाद' और 'प्रगतिशील' शब्द प्रयुक्त होने लगे। सन् 1936 ई. में मार्क्सवादी लेखकों के प्रयासों से 'प्रगतिशील लेखक संघ' की स्थापना हुई। इससे एक आम धारणा बन गई कि प्रगतिशील वह है जो माक्सर्वादी विचारधारा से अभिप्रेरित हो। बाद में प्रगतिवाद और प्रगतिशील में भी विभेद किया जाने लगा। प्रगतिवादी उन्हें कहा गया जो मार्क्सवादी विचारधारा में विश्वास करते हों तथा उसी के अनुरूप साहित्य की रचना भी करते हों जबकि प्रगतिशील उन्हें माना गया जिनकी प्रगतिशील मूल्यों में आस्था हो, भले ही वे मार्क्सवादी हों या न हों। पर वास्तव में प्रगतिवादी और प्रगतिशील में भेद करना तर्कसंगत और उचित नहीं कहा जा सकता।

आधुनिककाल में प्रगतिवाद के समान ही एक अन्य प्रवृत्ति भी साहित्य के क्षेत्र में प्रमुखता से विकसित हुई जिसे 'प्रयोगवाद' की संज्ञा से अभिहित किया गया। अज्ञेय ने 'दूसरा सप्तक की भूमिका' में कविकर्म की व्याख्या करते हुए 'प्रयोगवाद' को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। वास्तव में प्रत्येक युग में कोई-न-कोई नया प्रयोग होता आया है। लेकिन हिन्दी साहित्य में 'प्रयोगवाद' शब्द उन कविताओं के लिए रूढ़ हो गया है जो कुछ नये बोध, नयी संवेदनाओं तथा उन्हें सम्प्रेषित करने वाले शिल्पगत चमत्कारों को लेकर शुरू-शुरू में 'तार सप्तक' के माध्यम से सन् 1943 ई. में प्रकाशित हुईं तथा जो प्रगतिशील कविताओं के साथ ही विकसित भी होती गईं। और अन्ततः जिसका पर्यवसान 'नयी कविता' में हो गया।

5.1.2. प्रगतिवाद

प्रगतिवाद का सम्बन्ध जीवन और जगत् के प्रति नये दृष्टिकोण से है। इस भौतिक जगत् को सम्पूर्ण सत्य मानकर उसमें रहने वाले मानव समुदाय के मंगल की कामना से प्रेरित होकर प्रगतिवादी साहित्य की रचना की गई है। जीवन के प्रति लौकिक दृष्टि इस साहित्य का आधार है। यह साहित्य सामाजिक जीवन को बदलने तथा उसे बेहतर बनाने की कामना के साथ यह सामाजिक यथार्थ से उद्‌भूत हुआ है। प्रगतिवादी कवि न तो इतिहास की उपेक्षा करता है, न वर्तमान का अनादर और न ही भविष्य के रंगीन सपने सजाता है प्रत्युत इतिहास को वैज्ञानिक दृष्टि से जाँचते-परखते हुए वर्तमान को समझने की कोशिश करता है और उसी के आधार पर भविष्य के लिए अपना मार्ग चयन करता है। प्रगतिवादी साहित्यकार में एक ओर जहाँ ऐतिहासिक चेतना अनिवार्यतः विद्यमान रहती है, वहीं दूसरी ओर उसकी रचनात्मक दृष्टि सामाजिक यथार्थ पर केन्द्रित रहती है। वह अपने परिवेश और

प्रकृति के प्रति गहरे लगाव से अभिप्रेरित होता है। जीवन के प्रति उसका दृष्टिकोण सकारात्मक होता है। कुल मिलाकर प्रगतिवादी रचनाकार मानव को सर्वोपरि स्वीकार करता है।

5.1.2.1. सैद्धान्तिक आधारभूमि

मार्क्सवादी विचारधारा से अनुप्राणित साहित्यिक रचनाओं को प्रगतिवादी साहित्य की संज्ञा से अभिहित किया गया है। प्रगतिवादी चेतना को मार्क्सवाद के आलोक में ही देखा-परखा जा सकता है। प्रगतिवाद का सम्बन्ध जीवन और जगत् के प्रति नये दृष्टिकोण से है, अतः प्रगतिवादी साहित्यकारों ने एक मायने में साहित्य को मार्क्सवादी चिन्तन और विचारधारा प्रचार-प्रसार का माध्यम बना लिया था। प्रगतिवाद के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए डॉ॰ लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय का कथन है – "प्रगतिवाद सामाजिक यथार्थवाद के नाम पर चलाया गया वह साहित्यिक आन्दोलन है जिसमें जीवन और यथार्थ के वस्तु के सत्य को उत्तरछायावादी काल में प्रश्रय मिला और जिसने सर्वप्रथम यथार्थवाद की ओर समस्त साहित्यिक चेतना को अग्रसर होने की प्रेरणा दी। केदारनाथ अग्रवाल, नागार्जुन, शिवमंगलसिंह सुमन, त्रिलोचन शास्त्री, नरेन्द्र शर्मा आदि प्रख्यात प्रगतिवादी कवि हैं। वैसे सुमित्रानन्दन पंत, निराला और दिनकर की कतिपय रचनाओं में प्रगतिवादी स्वर उपलब्ध होता है। यशपाल, रांगेय राघव, राहुल सांकृत्यायन आदि हिन्दी के प्रगतिवादी कथाकार हैं जबकि रामविलास शर्मा, शिवदानसिंह चौहान, प्रकाशचंद्र गुप्त, अमृतराय आदि सुप्रसिद्ध प्रगतिवादी आलोचकों के रूप में प्रतिष्ठित हैं। प्रगतिवादी हिन्दी साहित्य की सैद्धान्तिक आधारभूमि को निम्नलिखित बिन्दुओं के अन्तर्गत परिगणित किया जा सकता है –

(i) देशकाल व वातावरण के परिप्रेक्ष्य में मार्क्सवादी चेतना से सम्पृक्त प्रगतिवादी हिन्दी साहित्य देश के सामान्य जन के साथ-साथ भारतीय बुद्धिजीवियों को भी नये विचारों से स्पन्दित करता है। स्मरणीय है कि देश के तत्युगीन बुद्धिजीवी विभिन्न मंचों से प्रगतिवादी चेतना का स्वर बुलन्द करते रहे।

(ii) प्रगतिवादी हिन्दी साहित्य मार्क्सवादी-समाजवादी चिन्तन व विचारधारा से अनुप्राणित होते हुए भी अपनी मूल धारा व परम्परा से विलग नहीं हुआ है।

(iii) सकारात्मक दृष्टिकोण प्रगतिवादी हिन्दी साहित्य का मूलभूत आधार है।

(iv) प्रगतिवाद मूलतः साम्यवाद का पोषक है और पूँजीवाद का विरोधी है। प्रगतिवादी हिन्दी साहित्य में भी इसकी प्रतिध्वनि सुनी जा सकती है।

(v) प्रगतिवाद जीवन के प्रति एक नवीन दृष्टिकोण है जिसमें सर्वहारा व जनवाद को विशेष महत्त्व मिला है। जीवन के प्रति लौकिक दृष्टि प्रगतिवादी हिन्दी साहित्य का आधार है।

(vi) प्रगतिवाद का दृष्टिकोण मानवतावादी है। शोषण, दमन और उत्पीड़न करने वालों के प्रति घृणा और गरीब, शोषित, मेहनतकश और पीड़ित मानवता के प्रति गहरी चिन्ता प्रगतिवादी हिन्दी साहित्य में मानवता का आधार है।

(vii) चूँकि, सामाजिक परिवर्तन एवं व्यवस्थागत प्रगति के लिए संगठनात्मक राजनैतिक पहल एक अनिवार्य घटक है, इसलिए प्रगतिवादी हिन्दी साहित्य में राजनीति के स्वर प्रधान रूप से मिलते हैं।

(viii) प्रगतिवाद में धर्म और ईश्वर में विश्वास नहीं करता है। प्रगतिवादी हिन्दी साहित्य में धर्म और ईश्वर-प्रतिरोधी स्वर सुने जा सकते हैं।

5.1.2.2. सामाजिक सन्दर्भ व सामाजिक यथार्थ

प्रगतिवाद के मूल में मार्क्सवादी चिन्तन है। कार्ल मार्क्स समाज में साम्यवादी व्यवस्था स्थापित करने का लक्ष्य लेकर चले थे। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए उन्होंने हिंसात्मक क्रान्ति को साधन के रूप में स्वीकार किया है। वे समाज को सीधे-सीधे दो वर्गों में विभाजित करते हैं – शोषक वर्ग और शोषित वर्ग। ज़मींदार, मिल-मालिक, पूँजीपति, उद्योगपति एवं धनाढ्य लोग शोषक वर्ग के अन्तर्गत आते हैं जबकि किसान, श्रमिक, मज़दूर आदि शोषित वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं।

हिन्दी साहित्य की परम्परा व विकास-प्रक्रिया में प्रगतिवाद एक युगान्तकारी चेतना है। प्रगतिवाद के सामाजिक सन्दर्भ व सामाजिक यथार्थ को मार्क्सवाद की सैद्धान्तिकी से पृथक् करके नहीं देखा जा सकता। मार्क्स के सिद्धान्तों से प्रभावित प्रगतिवादी रचनाकार समाज के नव-निर्माण की प्रेरणा देते हैं और उस सामाजिक व्यवस्था का मूलोच्छेदन करना चाहते हैं जिसकी नींव शोषण पर टिकी है। प्रगतिवादी कवि की अभीप्सा है –

हो यह समाज चिथड़े-चिथड़े
शोषण पर जिसकी नींव पड़ी।

प्रगतिवाद में सामाजिक रूढ़ियों और जड़ताओं का तीव्र विरोध किया गया है। रचनाकारों की दृढ़ मान्यता है कि जो पुराना हो चुका है उसे समाप्त हो जाना चाहिए तभी नवीन जीवन-मूल्यों का विकास होगा। समाज में नवलता-नवीनता का विकास हो इसके लिए कवि आह्वान करता है –

गा कोकिल बरसा पावक कण
नष्ट-भ्रष्ट हो जीर्ण पुरातन।

प्रगतिवाद में एक ऐसे समाज की संकल्पना की गई है जहाँ वर्गभेद न हो। प्रगतिवादी समतामूलक समाज की स्थापना करना चाहते हैं। वास्तव में धर्म, जाति, भाषा, ऊँच-नीच का वर्गभेद समाप्त होने पर ही ऐसे समाज का निर्माण हो सकता है। यही कारण है कि प्रगतिवादी रचनाकार उस पूरी व्यवस्था को जड़ से नष्ट करना चाहता है जिसमें अमीरों के श्वान तो सुविधाएँ भोग रहे हैं और निर्धन का बालक भूख से तड़प रहा है। इस सन्दर्भ में राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' की प्रसिद्ध पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं –

श्वानों को मिलता दूध-वस्त्र, भूखे बालक अकुलाते हैं
माँ की हड्डी से चिपक ठिठुर जाड़ों की रात बिताते हैं।
युवती के लज्जा वसन बेच जब ब्याज चुकाए जाते हैं
मालिक जब तेल-फुलेलों पर पानी-सा द्रव्य बहाते हैं

पापी महलों का अहंकार देता तब मुझको आमन्त्रण।

प्रगतिवादी रचनाकारों ने अपने युगीन यथार्थ एवं समसामयिक चेतना को साहित्य का विषय बनाया है। सामाजिक विषमता की बढ़ती हुई खाई प्रगतिवादियों को विचलित करती है और वे अपनी पीड़ा इन शब्दों में अभिव्यक्त करते हैं –

खादी ने मलमल से अपनी सांठ-गांठ कर डाली है,
बिड़ला टाटा डालमिया की तीसों दिन दीवाली है।

(– नागार्जुन)

प्रगतिवादी कविताओं में सामाजिक यथार्थ का चित्रण पूरी सच्चाई एवं नग्नता के साथ हुआ है। प्रगतिवादी कवि महसूस करता है कि वर्तमान समय में सच बोलना पाप है और चापलूसी करना, झूठ बोलना युगधर्म बन गया है। कवि कह उठता है –

सपने में भी सच न बोलना, वरना पकड़े जाओगे,
भैया, लखनऊ-दिल्ली पहुँचो, मेवा-मिसरी पाओगे !
माल मिलेगा रेत सको यदि गला मजूर-किसानों का,
हम मर-भुक्खों से क्या होगा, चरण गहो श्रीमानों का !

(– नागार्जुन)

सामाजिक विषमता की खाई पाटने के लिए प्रगतिवाद हिंसात्मक क्रान्ति का आह्वान करता है। न्यायोचित अधिकार यदि माँगने से न मिले तो उसे संघर्ष द्वारा हस्तगत किया जाना आवश्यक है। इस सन्दर्भ में दिनकर ने लिखा है –

किसने कहा पाप है समुचित स्वत्व प्राप्ति हित लड़ना।
उठा न्याय का खड्ग समर में अभय मारना मरना॥

इसी सन्दर्भ में एक अन्य उदाहरण देखिए –

शान्ति नहीं तब तक जब तक सुख भाग न नर का सम हो।
नहीं किसी को बहुत अधिक हो नहीं किसी को कम हो॥

प्रगतिवादियों की लोकदृष्टि व्यापक एवं विस्तृत है। वे गाँव-गली की बात करते हैं और आमजन की भाषा में अपनी बात कहते हैं। पूरी सच्चाई के साथ सामाजिक यथार्थ प्रकट करतीं नागार्जुन की निम्नलिखित प्रसिद्ध पंक्तियाँ ध्यातव्य हैं –

कई दिनों तक चूल्हा रोया, चक्की रही उदास
कई दिनों तक कानी कुतिया सोई उनके पास

कई दिनों तक लगी भीत पर छिपकलियों की गश्त
कई दिनों तक चूहों की भी हालत रही शिकस्त।

दाने आए घर के अंदर कई दिनों के बाद
धुआँ उठा आँगन से ऊपर कई दिनों के बाद
चमक उठी घर भर की आँखें कई दिनों के बाद
कौए ने खुजलाई पाँखें कई दिनों के बाद।

प्रगतिवादी साहित्यकार मानवीय पीड़ा को भली-भाँति समझते हैं। मुक्तिबोध दीन-हीन दलितों की पीड़ा से भली-भाँति परिचित हैं। वे कहते हैं कि प्रत्येक निर्धन के हृदय में इतनी पीड़ा है कि उस प्रत्येक वाणी पर एक महाकाव्य लिखा जा सकता है। 'मुझे क़दम-क़दम पर' कविता में वे कहते हैं –

मुझे भ्रम होता है कि प्रत्येक पत्थर में चमकता हीरा है;
हर-एक छाती में आत्मा अधीरा है,
प्रत्येक सुस्मित में विमल सदानीरा है,
मुझे भ्रम होता है कि प्रत्येक वाणी में महाकाव्य पीड़ा है

प्रगतिवादी संकल्पनाओं में नारी की स्थिति सम्माननीया है, क्योंकि वह पुरुष के साथ कन्धे-से-कन्धा मिलाकर जीवन-संग्राम में संघर्ष करती है। नारी को केवल भोग-विलास का साधन समझना प्रगतिवादी कवि को असह्य है। नारी-मुक्ति का समर्थन करते हुए पंत कहते हैं –

योनि नहीं है रे नारी, वह भी मानवी प्रतिष्ठित,
उसे पूर्ण स्वाधीन करो, वह रहे न नर पर अवसित।
द्वन्द्व क्षुधित मानव समाज पशु जग से भी है गर्हित,
नर नारी के सहज स्नेह से सूक्ष्म वृत्ति हों विकसित।

समतामूलक व समरसतावादी समाज की स्थापना ही प्रगतिवाद का प्रमुख लक्ष्य है। प्रगतिवादी रचनाकारों ने जीवन के प्रति यथार्थ दृष्टिकोण अपनाया है। पीड़ित मानवता के प्रति सहानुभूति उनके काव्य का प्रमुख विषय है। 'ताज' कविता प्रगतिवादी कवि पंत तंज कसते हैं कि जब मानव नंगा, भूखा और आवासविहीन हो, तब ताजमहल जैसी संगमरमर की भव्य इमारतें बनाने का क्या औचित्य है।

पण्डित बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' अपनी कविता 'विप्लव गान' के माध्यम से समतामूलक समाज की स्थापना की आकांक्षा व्यक्त करते हैं –

कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ, जिससे उथल-पुथल मच जाए।
माता की छाती का अमृत-मय पय काल-कूट हो जाए,
आँखों का पानी सूखे, वे शोणित की घूँटें हो जाएँ,
एक ओर कायरता काँपे, गतानुगति विगलित हो जाए,

अन्धे मूढ़ विचारों की वह अचल शिला विचलित हो जाए,
और दूसरी ओर कम्पा देने वाला गर्जन उठ धाए,
अंतरिक्ष में एक उसी नाशक तर्जन की ध्वनि मंडराए,
कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ, जिससे उथल-पुथल मच जाए,
नियम और उपनियमों के ये बंधक टूक-टूक हो जाएँ,
विश्वम्भर की पोषक वीणा के सब तार मूक हो जाएँ
शान्ति-दण्ड टूटे उस महा-रुद्र का सिंहासन थर्राए
उसकी श्वासोच्छवास-दाहिका, विश्व के प्रांगण में घहराए,
नाश ! नाश !! हा महानाश !!! की प्रलयंकारी आँख खुल जाए,
कवि, कुछ ऐसी तान सुनाओ जिससे उथल-पुथल मच जाए।

5.1.2.3. परम्परा और आधुनिकता

हिन्दी की प्रगतिवादी चिन्तन-परम्परा में कविता और कला के मूल्यांकन के परिप्रेक्ष्य में परम्परा तथा आधुनिकता पर सविस्तार चर्चा की गई है। प्रगतिवादी चिन्तन में काव्य तथा कला के वर्गीय आधारों का प्रतिपादन हुआ है। इसके अन्तर्गत अब तक की कला तथा कविता को वर्गबद्ध समाज की देन माना गया है। परम्परा और आधुनिकता के परिप्रेक्ष्य में प्रगतिवादी चिन्तन का सार इस प्रकार है –

(i) प्रगतिवादी चिन्तक परम्परा के विषय में वैज्ञानिक दृष्टिकोण के समर्थक हैं।
(ii) चूँकि, प्रत्येक नयी वस्तु में पूर्ववर्ती वस्तु का जीवन्त अंश सदैव विद्यमान रहता है, इसलिए प्रगतिवादियों ने परम्परा के प्रगतिशील और जीवन्त अंश के प्रति अपनी सम्पृक्ति सूचित की है।
(iii) आधुनिकता समूचे दृष्टिकोण में होती है। अनास्थावादी काव्य-दृष्टि आधुनिक भावबोध नहीं है।
(iv) आधुनिकता चिन्तन और सर्जना के बीच प्राणशक्ति के रूप में प्रतिष्ठित होती है।
(v) आधुनिकता का महत्त्व इस मायने में है कि वह पतनशील और पराजयवादी मनोवृत्तियों की जगह जीवन के विधायक रूप को ही प्रस्तुत करे।

5.1.2.4. सामान्य प्रवृत्तियाँ

प्रगतिवाद छायावाद के कोमल स्वप्नों को यथार्थ की कटुता से छिन्न-भिन्न कर प्रकट हुआ है। इसलिए प्रगतिवादी साहित्य जीवन के अधिक निकट है। प्रगतिवादियों ने समाजोन्नति और नव-निर्माण के लिए सर्वप्रथम सामाजिक रूढ़ियों पर प्रहार किया है। युगों से चली आ रही धार्मिक रूढ़िवादी मान्यताओं का तिरस्कार कर शोषितों और पीड़ितों की करुणा का आख्यान प्रगतिवाद का मुख्य स्वर है। प्रगतिवादी साहित्य की सामान्य प्रवृत्तियाँ निम्नलिखित बिन्दुओं के अन्तर्गत परिगणित की जा सकती हैं –

(i) प्रगतिवादी रचनाकार साहित्य को सोद्देश्य मानता है। यहाँ सोद्देश्यता का अभिप्राय किसी विशेष दृष्टि से कला की रचना करना है।

(ii) प्रगतिवाद विभिन्न युगों में रचित साहित्यिक कृतियों का उन युगों की वास्तविकताओं के आधार पर सम्परीक्षण करता है।

(iii) प्रगतिवादी साहित्य किसानों और मज़दूरों के संघर्ष को रूपायित कर उसे बल प्रदान करता है। साथ ही, वह पूँजीवादी शक्तियों की शोषक, स्वार्थी, स्वकेन्द्रित, जर्जर और विसंगतिमय प्रवृत्तियों पर चोट करता है। सामाजिक विषमताओं व कुरीतियों को अनिवार्यतः दूर करने पर प्रगतिवादी रचनाकार अधिक बल देते हैं।

(iv) प्रगतिवादी साहित्य में सौन्दर्य का नया चित्रण हुआ है। सौन्दर्य का सम्बन्ध हार्दिक आवेगों और मानसिक चेतना दोनों से होता है। प्रगतिवादी रचनाकार वर्तमान जनजीवन में सौन्दर्य का अन्वेषण करते हैं और वे उसी सौन्दर्य को वास्तविक सौन्दर्य मानने के समर्थक हैं। प्रगतिवादी कवियों के अनुसार समूची प्रकृति में सौन्दर्य की सहज व्याप्ति है।

(v) प्रगतिवाद 'साहित्य जनता का जनता के लिए' धारणा में विश्वास करता है। वह सामाजिक यथार्थ का चित्रण इस प्रकार करता है कि कुरूप, शोषक, विसंगतिग्रस्त आदि शक्तियों का पर्दाफाश हो और नयी सामाजिक शक्तियों के संघर्षों और आस्था को बल मिले।

(vi) प्रगतिवादी साहित्यकार समाज की संस्कारगत एवं व्यवहारगत कुरूपता को लेकर इतने अधिक खिन्न एवं आक्रोशित हैं कि सपाटबयानी से भी परहेज नहीं करते।

(vii) प्रगतिवादी साहित्य अपनी मूल प्रकृति में सामाजिक जीवन की वास्तविकता को लेकर चला है। फलस्वरूप प्रगतिवादी साहित्य द्वारा एक जीवन्त और सशक्त भाषा का उदय हुआ जिसमें प्रतीक, बिम्ब, शब्द, मुहावरे, चित्रादि सभी सामान्य जनजीवन से ग्रहण किए गए। हालाँकि, कालान्तर में प्रगतिवादी रचनाओं की भाषा में अभिधा की प्रधानता हो गई।

5.1.2.5. प्रगतिवादी समीक्षा

हिन्दी की प्रगतिवादी समीक्षा अपनी प्रामाणिकता सिद्ध नहीं कर पाई है। उसमें आधारभूत सिद्धान्तों को लेकर ही समीक्षकों के मध्य मतभेद दिखाई देता है। सभी अपने-अपने दृष्टिकोण के खरेपन का दावा करते हैं; किन्तु यह स्पष्ट नहीं हो पाता है कि सही और प्रामाणिक दृष्टि किसकी है। उदाहरणार्थ, जहाँ डॉ॰ रामविलास शर्मा गोस्वामी तुलसीदास के महत्त्व का पूरे विश्वास के साथ आख्यान करते हुए उन्हें सर्वोत्कृष्ट कवि सिद्ध करते हैं, वहीं रांगेय राघव और मुक्तिबोध जैसे समीक्षक उनके सम्बन्ध में यह मत ज्ञापित करते हैं कि तुलसीदास सामन्ती आदर्शों के पोषक थे। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने तो महाकवि कालिदास को गुप्त सम्राटों का चाटुकार तक कह डाला है। और तो और, डॉ॰ रामविलास शर्मा जहाँ एक ओर अज्ञेय को असामाजिक व्यक्तिवादी और प्रतिक्रियावादी घोषित कर रहे हैं, वहीं दूसरी ओर शिवदान सिंह चौहान जैसे विचारक उनकी कृति 'शेखर : एक जीवनी' को विश्वस्तरीय उपलब्धि स्वीकार करते हैं। तथापि इन मत-वैभिन्न्यों के बावजूद हिन्दी की प्रगतिवादी समीक्षा का अपना महत्त्व है।

कविता तथा साहित्य के स्वरूप सम्बन्धी उसकी मानवीय एवं लौकिक व्याख्या प्रगतिवादी समीक्षा की सबसे बड़ी उपलब्धि स्वीकार की जा सकती है। प्रगतिवादी समीक्षकों ने पहली बार कविता और साहित्य को विशुद्ध मानवीय उपलब्धि स्वीकार करते हुए उसका मूल्यांकन एवं विवेचन किया है। सच तो यह है कि प्रगतिवादी समीक्षा भारतेन्दु के समय से विकसित होने वाली लोकोन्मुखी चेतना का ही एक विकसित स्वरूप है जिसे अधिक सम्पुष्ट करने में मार्क्सवादी-समाजवादी दर्शन की सक्रिय भूमिका रही है। प्रगतिवादी समीक्षा के वैशिष्ट्य को निम्नलिखित बिन्दुओं के अन्तर्गत परिगणित किया जा सकता है –

(i) प्रगतिवादी समीक्षकों की दृष्टि में कवि की सर्जना को प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास तीनों तत्त्व प्रेरित करते हैं। अभिव्यक्ति के माध्यमों पर अपना अधिकार बनाए रखने के लिए कवि को सतत अभ्यास की आवश्यकता होती है।

(ii) प्रगतिवादी समीक्षा के अन्तर्गत वस्तुजगत् ही कविता या कला का मूल स्रोत माना गया है। साथ ही काव्य-विषय का मानवीय अनुभूति से सम्पृक्त होना जरूरी है।

(iii) प्रगतिवादी समीक्षा के अन्तर्गत कविता या साहित्य की प्रयोजनीयता को समाज तथा युग के वर्तमान सन्दर्भों में विवेचित किया गया है।

(iv) प्रगतिवादी समीक्षकों की दृष्टि में कविता के वर्गीय आधार का अध्ययन अथवा रचनाकार के वर्गीय मानस का अध्ययन कोई सरल कार्य नहीं है। क्योंकि वर्गीय चेतना बाहर की स्थूल सीमाओं का अतिक्रमण कर मनुष्य के मनोयोग तक फैली हुई है।

(v) प्रगतिवादी समीक्षा के अन्तर्गत रचना तथा रचनाकार के लिए सामाजिक यथार्थ के चित्रण को आवश्यक माना गया है।

(vi) काव्य तथा कला में वस्तु और रूप दोनों एकत्र स्थिति में होते हुए भी और महत्त्वपूर्ण होते हुए भी समान महत्त्व के नहीं हैं। वस्तुतत्त्व निश्चित रूप से रूपतत्त्व की तुलना में केन्द्रीय और प्रधान तत्त्व है। हालाँकि, रूपतत्त्व की उपेक्षा या अवहेलना भी तर्कसंगत नहीं है।

(vii) प्रगतिवादी समीक्षा के लिए सौन्दर्य की सत्ता वस्तुगत है और इसी कारण उसका दृढ़ सामाजिक आधार भी है।

(viii) प्रगतिवादी समीक्षा के अन्तर्गत रस के वस्तुगत, सामाजिक तथा मानवीय आधार की व्यापक स्वीकृति है। कविता के मूल्यांकन के सन्दर्भ में रस के प्रतिमान को हिन्दी की प्रगतिवादी समीक्षा अस्वीकार नहीं करती।

5.1.3. प्रयोगवाद

प्रगतिवाद के दौर में ही सन् 1943 ई. में हिन्दी साहित्य जगत् 'प्रयोग' के एक नये 'वाद' से परिचित हुआ जिसे प्रयोगवाद के नाम से जाना जाता है। प्रयोगवाद की चर्चा का प्रारम्भ एक विशिष्ट प्रकार की सर्जना और उसके साथ होने वाले प्रयोगों के सन्दर्भ में हुआ। इस विशिष्ट सर्जना की युगीन अनिवार्यता के औचित्य को सिद्ध करने के लिए उसके समर्थकों ने एक सिद्धान्त भी प्रस्तुत किया जिससे यह चर्चा केवल सर्जना तक ही सीमित न

होकर चिन्तन के क्षेत्र तक व्याप्त हो उठी। 'प्रयोगवाद' का अभिप्राय स्पष्ट करते हुए कुछ आलोचकों ने कहा कि इस धारा के साहित्यकार नवीन प्रयोग करने में विश्वास करते हैं। भाषा, शिल्प, भाव, प्रतीक, बिम्ब सभी दृष्टियों से 'प्रयोग' करना ही प्रयोगवादियों का अभीष्ट है। हालाँकि, अज्ञेय ने 'दूसरा सप्तक' की भूमिका में इसका खण्डन करते हुए लिखा है कि "प्रयोग अपने आप में इष्ट नहीं है, वरन् वह दोहरा साधन है। एक तो वह उस सत्य को जानने का साधन है जिसे कवि प्रेषित करता है, दूसरे वह उस प्रेषण-क्रिया को और उसके साधनों को जानने का साधन है।"

5.1.3.1. सैद्धान्तिक आधारभूमि

प्रयोगवादी साहित्य ह्रासोन्मुखी मध्यमवर्गीय समाज के जीवन का सजीव चित्रण है। प्रयोगवादियों ने जिस नये सत्य के अन्वेषण और प्रेषण के नये माध्यम की खोज की घोषणा की, वह सत्य वस्तुतः मध्यमवर्गीय समाज के व्यक्ति का सत्य है। उल्लेखनीय है कि प्रयोगवादी परम्परा के अधिकांश कवि स्वयं मध्यम वर्ग के हैं और उनमें से अधिकतर रचनाकार अपने व्यक्तिगत सुख-दुःख एवं संवेदनाओं को काव्य अथवा कला का माध्यम मानकर नये-नये माध्यमों से अभिव्यक्त करते हैं। अज्ञेय, शमशेर, गिरिजाकुमार माथुर, धर्मवीर भारती आदि प्रयोगवाद के प्रतिनिधि साहित्यकार हैं। प्रयोगवादी हिन्दी साहित्य की सैद्धान्तिक आधारभूमि को निम्नलिखित बिन्दुओं के अन्तर्गत परिगणित किया जा सकता है –

(i) प्रयोगवादी चिन्तन 'व्यष्टि चेतना' पर आधारित है जो अस्तित्ववाद से अनुप्राणित है।

(ii) प्रयोगवादी उसी यथार्थ को अभिव्यक्त करते हैं जिसे वे स्वयं भोगते अथवा स्वयं अनुभव करते हैं। अपनी वैयक्तिक पीड़ा को साहित्य की विभिन्न विधाओं में प्रस्तुत करने का काम प्रयोगवादियों ने बखूबी किया है।

(iii) भोगे हुए यथार्थ एवं वैयक्तिक अनुभूतियों को अधिकाधिक व्यक्त करने की चेष्टा में प्रयोगवादी साहित्यकारों की दृष्टि व्यापक जनजीवन के मनोजगत् की वृत्तियों, आकांक्षाओं और समस्याओं की ओर अपेक्षाकृत कम ही गई है।

(iv) प्रयोगवाद की व्यष्टि चेतना समाजोन्मुखी है जिसमें एक ओर तो व्यक्ति की महत्ता प्रतिपादित की गई है तो वहीं दूसरी ओर उसमें 'क्षणवादी' जीवन-दर्शन को भी विशेष महत्त्व दिया गया है।

(v) प्रयोगवादियों ने भावुकता के स्थान पर ठोस बौद्धिकता को स्वीकार किया है।

(vi) प्रयोगवादियों के अनुसार कोई भी रचनाकार कृति का निर्माण स्वान्तःसुखाय के उद्देश्य से नहीं करता। अभिव्यक्ति में एक श्रोता या पाठक या ग्राहक का होना अनिवार्य है।

(vii) 'दूसरा सप्तक की भूमिका' में अज्ञेय की स्पष्ट घोषणा है कि – "प्रयोग का कोई वाद नहीं है। हम वादी नहीं रहे, नहीं हैं। न प्रयोग अपने-आप में इष्ट या साध्य है। ठीक इसी तरह कविता का भी कोई वाद नहीं है; कविता भी अपने-आप में इष्ट या साध्य नहीं है; अत: हमें प्रयोगवादी कहना उतना ही सार्थक या निरर्थक है जितना हमें कवितावादी कहना।

5.1.3.2. सामान्य प्रवृत्तियाँ

काव्य-विषय को लेकर प्रयोगवादी मान्यता बहुत स्पष्ट है। सिद्धान्त रूप में प्रयोगवादियों ने काव्य-विषय के क्षेत्र को संकीर्ण बनाने का विरोध किया है। उन्होंने काव्य में उन्हीं विषयों को ग्रहण करने पर जोर दिया है जिनके साथ रचनाकार का रागात्मक सम्बन्ध स्थापित हो सके। प्रयोगवादी साहित्यकारों ने बड़ी-बड़ी घटनाओं, बड़े-बड़े संघर्षों, बड़े-बड़े व्यक्तियों या समुदायों, बड़े-बड़े जीवन-प्रसंगों के विशाल व विस्तृत फलक पर इतिवृत्तात्मक काव्य का निर्माण नहीं किया है, अपितु उन्होंने व्यक्ति के अन्तःसंघर्षों, क्षणों की अनुभूतियों और सूक्ष्म-से-सूक्ष्म, छोटी-से-छोटी संवेदनाओं और मन की विभिन्न स्थितियों को लेकर लघु आकार की किन्तु तीव्र प्रभावशाली कविताएँ लिखीं हैं। प्रयोगवादी साहित्य की सामान्य प्रवृत्तियाँ इस प्रकार हैं –

(i) पीड़ा के रहस्य को भुक्तभोगी ही समझ सकता है, इसलिए प्रयोगवादी साहित्य में व्यापक जनजीवन की बजाय व्यष्टि चेतना और उसकी अभिव्यक्ति को प्राथमिकता दी गई है।

(ii) प्रयोगवादी रचनाओं में प्रायः वैयक्तिक चेतना, अहंवाद और स्वरति का प्राबल्य है।

(iii) प्रयोगवाद में अस्तित्ववाद की सफलतम अभिव्यक्ति हुई है। प्रयोगवादी व्यष्टि चेतना अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए भले ही समाज के समक्ष समर्पण कर दे, किन्तु अन्ततः नदी के द्वीप की भाँति नया आकार देकर अपने अस्तित्व को प्रमाणित भी करती है –

हम नदी के द्वीप हैं।
* * *
स्थिर समर्पण है हमारा। हम सदा से द्वीप हैं स्रोतस्विनी के।
किन्तु हम बहते नहीं हैं। क्योंकि बहना रेत होना है।
हम बहेंगे तो रहेंगे ही नहीं।
पैर उखड़ेंगे। प्लवन होगा। ढहेंगे। सहेंगे। बह जाएँगे।
* * *
और फिर हम चूर्ण होकर भी कभी क्या धार बन सकते ?
* * *
फिर छनेंगे हम। जमेंगे हम। कहीं फिर पैर टेकेंगे।
कहीं फिर भी खड़ा होगा नए व्यक्तित्व का आकार।

(iv) प्रयोगवादी चेतना समाज-हित की विरोधी नहीं है। प्रयोगवादी कवि स्पष्ट करता है कि –

परे मनुज से नहीं कुछ
इसी तर्क से जीवन स्वतः प्रमाण है
दे दो खुले हाथ से दे दो
कि अस्मिता विलय एकमात्र कल्याण है।

(v) प्रयोगवादी 'क्षणवाद' पर पूरा यकीन करते हैं। यही वजह है कि प्रयोगवादी साहित्य में 'क्षणवाद' को पर्याप्त महत्त्व मिला है।

(vi) मानवीय मूल्यों के विघटन और परमाणु युद्ध की विभीषिका ने प्रयोगवादी रचनाओं में निराशा के स्वर भर दिए हैं।

(vii) कहीं-कहीं प्रयोगवादी कवियों ने अपने व्यक्तिगत जीवन के सत्य को नग्न रूप में इस प्रकार अभिव्यक्त किया है कि कविता आत्म-विज्ञापन सी लगने लगती है । उदाहरणार्थ भारतभूषण अग्रवाल की निम्नलिखित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं –

> साधारण नगर के एक साधारण घर में
> मेरा जन्म हुआ।
> बचपन बीता अति साधारण
> साधारण रहन-सहन साधारण खान-पान।

(viii) निराशा, कुण्ठा, अनास्था, पीड़ा, संत्रास और लघुमानव की प्रतिष्ठा जैसी प्रवृत्तियाँ प्रयोगवादी काव्य में समान रूप से परिलक्षित होती हैं।

(ix) प्रयोगवादी रचनाओं में भाषा की सम्प्रेषणीयता को महत्त्व दिया गया है। भाषा में लाक्षणिक पदावली का प्रयोग भी बहुलता से हुआ है। भाषा की लाक्षणिकता यहाँ लोकोक्तियों एवं मुहावरों के प्रयोग से सफल हुई है। सांकेतिक अर्थ की अभिव्यक्ति होने से वह सम्प्रेषणीय एवं प्रभावी बन गई है।

5.1.3.3. प्रयोगवादी काव्य समीक्षा

प्रयोगवादी काव्य-समीक्षा पर व्यक्तिवादिता को प्रश्रय देने, नैतिक मूल्यों की अवहेलना करने, कोरी सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टि को अपनाने जैसे आरोप लगाए गए हैं, लेकिन गहराई से विचार करने पर ये आरोप सर्वांशतः सिद्ध नहीं होते । वस्तुतः प्रयोगवादी काव्य-समीक्षा की उपलब्धि इस मायने में विशिष्ट है कि उसमें प्रगतिवादी समीक्षा द्वारा प्रस्तुत प्रतिमानों पर अंकुश लगाकर स्वस्थ तथा सन्तुलित काव्य-समीक्षा की आवश्यकता के प्रति एक बार पुनः ध्यान आकर्षित किया गया। प्रयोगवादी काव्य-समीक्षा के वैशिष्ट्य को निम्नलिखित बिन्दुओं के अन्तर्गत परिगणित किया जा सकता है –

(i) प्रयोगवादी काव्य-समीक्षा में अनुभूति को काव्य के प्राथमिक तथा अनिवार्य तत्त्व के रूप में मान्यता दी गई है।

(ii) प्रयोगवादी काव्य-समीक्षा काव्यगत अनुभूति को व्यक्तिगत अनुभूति से भिन्न सिद्ध करती है।

(iii) प्रयोगवादी काव्य-समीक्षा के अन्तर्गत कविता को अनुभूति की अभिव्यक्ति नहीं, अपितु अनुभूति से मुक्ति माना गया है।

(iv) प्रयोगवादी काव्य-समीक्षा में इस तथ्य को स्पष्ट किया गया है कि दैनन्दिन जीवन की प्रत्येक अनुभूति काव्य में स्थान नहीं पाती प्रत्युत प्रयोगवादी रचनाकार अनुभूतियों के विशाल खजाने से चयन करते

हुए केवल उन्हीं अनुभूतियों को कविता में स्थान देता है जिनमें संवेदना और चेतना को घनीभूत आलोक रूप देने की क्षमता हो।

(v) प्रयोगवादी काव्य-समीक्षा में अनुभूति की सच्चाई तथा दिव्यता को महत्त्व दिया गया है।

(vi) प्रयोगवादी काव्य-समीक्षा के अन्तर्गत काव्य के प्रेरक उपादानों में सर्वाधिक महत्त्व व्युत्पत्ति को दिया गया है।

(vii) प्रयोगवादी काव्य-समीक्षा के अन्तर्गत परम्परागत विचारधारा के विपरीत एक सीमित पाठक वर्ग के लिए ही काव्य का प्रयोजन स्वीकार किया गया है। वस्तुतः सच्ची कविता एक परिष्कृत प्रकार का आनन्द प्रदान करती है और उसका एक महत्तर नैतिक उद्देश्य होता है। लेकिन वर्तमान समय में नैतिक सन्दर्भ मानवीय संघर्षों और मानवीय अनुभूतियों के सन्दर्भ में ही सार्थक एवं उपयोगी हैं।

(viii) प्रयोगवादी काव्य-समीक्षा में भाषा की सहजता पर बल दिया गया है।

5.1.3.4. प्रपद्यवाद के घोषणापत्र का प्रारूप

सन् 1943 ई. में अज्ञेय द्वारा सम्पादित 'तारसप्तक' से प्रयोगवाद का आरम्भ माना जाता है। प्रयोगवादी काव्यान्दोलन सुनिश्चित योजना बनाकर चलाया नहीं गया था और न ही इसमें किसी नियमावली का गठन किया गया था। प्रयोगवाद की प्रथम अनुभूति का प्रतीक माने जाने वाले 'तारसप्तक' के मूल में केवल दो सिद्धान्त कार्यरत थे। पहला सिद्धान्त यह कि "यह एक साझा कार्य है और इसमें सम्मिलित प्रत्येक कवि इस पुस्तक का साझी है।" दूसरा सिद्धान्त यह कि " 'तारसप्तक' में संगृहीत प्रत्येक कवि कविता को प्रयोग का विषय मानता हो। उसे काव्य-सत्य को पा लेने का भ्रम न हो बल्कि वह स्वयं को अन्वेषी मात्र मानता हो।" 'तारसप्तक' की भूमिका में अज्ञेय का कथन है – "तारसप्तक किसी गुट्ट का प्रकाशन नहीं है क्योंकि संगृहीत सात कवियों के साढ़े सात अलग-अलग गुट्ट हैं, उनके साढ़े सात व्यक्तित्व हैं। ... सातों अन्वेषी हैं। काव्य के प्रति अन्वेषी का दृष्टिकोण उन्हें समानता के सूत्र में बाँधता है ... बल्कि उनके एकत्र होने का कारण ही यह है कि वे किसी एक स्कूल के नहीं हैं, किसी मंजिल पर पहुँचे हुए नहीं हैं, अभी राही हैं – राही नहीं, राहों के अन्वेषी।"

इस पृष्ठभूमि पर विशुद्ध प्रयोग की पक्षधरता करते हुए बिहार के तीन कवियों – नलिन विलोचन शर्मा, केसरी कुमार और नरेश ने सन् 1956 ई. में 'नकेन के प्रपद्य' काव्य-संकलन का प्रकाशन कर प्रयोगवाद की टक्कर में 'प्रपद्यवाद' नामक आन्दोलन का आरम्भ किया। इन तीनों कवियों ने नामों के प्रथमाक्षरों को मिलाकर 'नकेन' शब्द गठित किया गया था। इसलिए यह 'प्रपद्यवाद' और 'नकेनवाद' दोनों नामों से जाना जाता है। 'प्रयोगवादी पद्य' की अवधारणा को आगे बढ़ाने के लिए 'पद्य' के साथ 'प्र' उपसर्ग जोड़ा गया था। प्रपद्यवादियों ने स्वयं को विशुद्ध प्रयोगवादी और अज्ञेयादि को प्रयोगशील घोषित किया। प्रपद्यवाद के तीनों कवि उच्च शिक्षित थे और पश्चिम की विविध विचारधाराओं तथा काव्यान्दोलनों के अच्छे जानकार थे। अतः उन्होंने अत्यन्त योजनाबद्ध रूप में 'प्रपद्यवाद' का सूत्रपात किया।

प्रयोगवाद और नकेनवाद के बीच सबसे पहला अन्तर यह है कि जहाँ प्रयोगवाद के प्रतिनिधि संकलन 'तारसप्तक' की न कोई सुनियोजित प्रकाशन योजना थी न समविचारी कवियों की सोची-समझी नीति (जैसा कि अज्ञेय के उपर्युक्त कथन से स्पष्ट होता है) वहीं दूसरी ओर 'नकेनवाद' अत्यन्त सुनियोजित ढंग से स्थापित किया गया 'वाद' था। 'नकेन' के केसरी कुमार को इस बात पर आपत्ति थी कि हिन्दी आलोचकों ने अज्ञेय को प्रयोगवादी कविता का व्याख्याकार घोषित किया। वास्तविकता यह कि सर्वप्रथम प्रयोगवादी कविताएँ 'नकेन' की ही हैं जबकि अज्ञेय ने कहीं भी उनके नाम का उल्लेख नहीं किया। अतः 'नकेन' की ओर से 'विशुद्ध प्रयोगवाद' अर्थात् 'नकेनवाद' किंवा 'प्रपद्यवाद' की स्थापना हेतु 'प्रयोग की दशसूत्री' का प्रस्तुतीकरण किया गया। यह एक तरह से 'नकेन' द्वारा जारी किया गया 'प्रयोगवाद का मेनीफेस्टो' था। इसका प्रारूप इस प्रकार है –

i. प्रपद्यवाद भाव और व्यंजना का स्थापत्य है।
ii. प्रपद्यवाद सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र है। उसके लिए शास्त्र या दल-निर्धारित नियम अनुपयुक्त हैं।
iii. प्रपद्यवाद महान् पूर्ववर्तियों की परिपाटियों को भी निष्प्राण मानता है।
iv. प्रपद्यवाद दूसरों के अनुकरण की तरह अपना अनुकरण वर्जित मानता है ।
v. प्रपद्यवाद को मुक्त काव्य नहीं, स्वच्छन्द काव्य की स्थिति अभीष्ट है।
vi. प्रयोगशील प्रयोग को साधन मानता है जबकि प्रपद्यवादी साध्य।
vii. प्रपद्यवाद की दृक्वाक्यपदीय प्रणाली है।
viii. प्रपद्यवाद के लिए जीवन और कोष कच्चे माल की खान हैं।
ix. प्रपद्यवादी प्रयुक्त प्रत्येक शब्द और छन्द का स्वयं निर्माता है।
x. प्रपद्यवाद दृष्टिकोण का अनुसन्धान है।

पश्चात् इस दशसूत्री में दो सूत्र और जोड़ दिए गए –

xi. प्रपद्यवाद मानता है कि पद्य में उत्कृष्ट केन्द्रण होता है और यही गद्य और पद्य में अन्तर है।
xii. प्रपद्यवाद मानता है कि चीजों का एकमात्र सही नाम होता है।

'नकेन के प्रपद्य' काव्य-संकलन में प्रपद्यवाद के उपर्युक्त सिद्धान्त-सूत्रों की घोषणा 'प्रपद्य द्वादश सूत्री' शीर्षक से की गई है। यह 'प्रपद्य द्वादश सूत्री' उन कवियों के अनुसार 'प्रपद्यवाद के घोषणापत्र का प्रारूप' है। प्रपद्यवादी कविताओं को समझने के लिए इन सिद्धान्त-सूत्रों को समझना आवश्यक है। इस द्वादशसूत्री के आधार पर प्रपद्यवाद का प्रयोगवाद के विपरीत अतियोजनाबद्ध होना सिद्ध होता है।

पश्चात् जब 'नकेन-2' का प्रकाशन किया गया तो उपर्युक्त द्वादश सूत्रों के साथ पुनः छह नए सूत्र जोड़कर 'प्रपद्य अष्टादश सूत्री' की घोषणा की गई। बाद में जोड़े गए छह नए सूत्र इस प्रकार हैं –

xiii. प्रपद्यवाद आयाम की खोज है और अभिनिष्क्रमण भी, ठीक वैसे, जैसे वह भाव और व्यंजना का स्थापत्य है और उससे अभिनिष्क्रमण भी।

xiv. प्रपद्यवाद चित्रेतना है।
xv. प्रपद्यवाद मिथक का संयोजन नहीं, स्रष्टा है।
xvi. प्रपद्यवाद बिम्ब का काव्य नहीं, काव्य का बिम्ब है।
xvii. प्रपद्यवाद सम्पूर्ण अनुभव है।
xviii. प्रपद्यवाद अविभक्त काव्य-रुचि है।

5.1.4. सारांश

प्रगतिशील आन्दोलनों द्वारा अभिप्रेरित रचनाशीलता और इस आन्दोलन द्वारा उपन्यस्त साहित्य तथा काव्य के नये प्रतिमानों का युग 'प्रगतिवाद' नाम से जाना जाता है। हिन्दी की प्रगतिवादी धारा मार्क्सवाद से प्रभावित है जिसका मूलाधार साम्यवाद है। प्रगतिवादी साहित्य में जहाँ एक ओर सहजता, आक्रोश, व्यंग्य, अक्खड़ता, हुंकार और ललकार है वहीं दूसरी ओर जनजीवन की आशा-आकांक्षा व्याप्त है तथा वह सामाजिक चेतना से परिपूर्ण है। प्रगतिवाद के अस्तित्व के दौर में ही हिन्दी साहित्य के इतिहास में प्रयोगवाद का आगमन होता है। प्रयोगवादी साहित्य वस्तुतः अस्तित्ववादी जीवनदर्शन से प्रभावित है जहाँ निराशा, कुण्ठा, उन्मुक्त भोग, पीड़ा, अनास्था, नास्तिकता आदि सहज ही अनुभूत हैं। प्रयोगवादी काव्यधारा के कवि 'प्रयोगधर्मिता' को साध्य मानते हैं। वे पुरानी परम्पराओं को नकारते हुए उन्हें निरर्थक मानते हैं और प्रयोग को ही एकमात्र इष्ट मानते हैं। उनका अप्रस्तुत विधान रचनात्मक भाषा को शक्ति प्रदान करता है। वे काव्य में विषयगत नवीनता का संचार करने में सफल हुए हैं। प्रपद्यवादियों ने विशुद्ध प्रयोग की पक्षधरता करते हुए अज्ञेय को प्रयोगवादी कविता का व्याख्याकार घोषित करने पर आपत्ति प्रकट की और स्वयं को विशुद्ध प्रयोगवादीजबकि अज्ञेयादि को प्रयोगशील घोषित किया। इन नकेनवादियों ने 'प्रपद्यवाद के घोषणापत्र का प्रारूप' प्रस्तुत किया और 'प्रपद्य अष्टादश सूत्री' की घोषणा की।

5.1.5. शब्दावली

अवसित	:	आश्रित
अस्मिता	:	पहचान
समर	:	युद्ध
लौकिक	:	सांसारिक
बोध	:	ज्ञान
उद्धार	:	मुक्ति

5.1.6. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

1. सिंह, नामवर, आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ, लोकभारती प्रकाशन, नयी दिल्ली.
2. चतुर्वेदी, रामस्वरूप, हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास, लोकभारती प्रकाशन, नयी दिल्ली.

3. चतुर्वेदी, रामस्वरूप, समकालीन हिन्दी साहित्य : विविध परिदृश्य, राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली.
4. अनूप, वशिष्ठ, हिन्दी साहित्य का अभिनव इतिहास, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी.
5. सिंह, योगेन्द्र प्रताप, हिन्दी साहित्य का इतिहास और उसकी समस्याएँ, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली.
6. मिश्र, भगीरथ, हिन्दी साहित्य का परिचयात्मक इतिहास, राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली.
7. तिवारी, रामचन्द्र, आधुनिक हिन्दी साहित्य : विविध आयाम, विश्वविद्यालय प्रकाशन, नयी दिल्ली.
8. वर्मा, रामकुमार, हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, लोकभारती प्रकाशन, नयी दिल्ली.

5.1.7. सम्बन्धित प्रश्न

टिप्पणी लिखिए –

1. प्रगतिवाद की सैद्धान्तिक आधारभूमि ।
2. प्रयोगवादी काव्य-समीक्षा ।
3. प्रगतिवाद की सामान्य प्रवृत्तियाँ ।
4. प्रगतिवादी समीक्षा की प्रामाणिकता ।
5. प्रपद्य अष्टादश सूत्री ।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. प्रगतिवादी काव्य की सामाजिक दृष्टि पर प्रकाश डालिए ।
2. "प्रयोगवादी हिन्दी साहित्य ह्रासोन्मुखी मध्यमवर्गीय भारतीय समाज के जीवन का जीवन्त चित्रण है ।" उक्त कथन की सारगर्भित विवेचना कीजिए ।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. 'तार सप्तक' का प्रकाशन कब हुआ ?

(क) सन् 1943 ई. में
(ख) सन् 1944 ई. में
(ग) सन् 1945 ई. में
(घ) सन् 1946 ई. में

2. निम्नलिखित में से कौन प्रगतिवादी साहित्यकार माने जाते हैं –

(क) केदारनाथ अग्रवाल
(ख) शिवमंगलसिंह सुमन
(ग) नागार्जुन

(घ) उपर्युक्त सभी

3. 'दूसरा सप्तक' का प्रकाशन कब हुआ ?
(क) सन् 1950 ई. में
(ख) सन् 1951 ई. में
(ग) सन् 1952 ई. में
(घ) सन् 1953 ई. में

4. प्रयोगवाद की 'व्यष्टि चेतना' अनुप्राणित है –
(क) अस्तित्ववाद से
(ख) राष्ट्रवाद से
(ग) पूँजीवाद से
(घ) उपर्युक्त में से कोई नहीं

5. 'क्षणवाद' किसकी मुख्य प्रवृत्ति है –
(क) प्रगतिवाद की
(ख) प्रयोगवाद की
(ग) छायावाद की
(घ) उपर्युक्त सभी

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 5 : छायावादोत्तर युग और स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी साहित्य

इकाई – 2 : प्रेमचंदोत्तर कथा-साहित्य, प्रसादोत्तर नाटक और एकांकी, शुक्लोत्तर आलोचना, निबन्ध और अन्य गद्य-विधाएँ

इकाई की रूपरेखा

5.2.0. उद्देश्य कथन
5.2.1. प्रस्तावना
5.2.2. प्रेमचंदोत्तर कथा-साहित्य
5.2.3. प्रसादोत्तर नाटक और एकांकी
5.2.4. शुक्लोत्तर आलोचना
   5.2.4.1. स्वच्छन्दतावादी आलोचना
   5.2.4.2. प्रभाववादी आलोचना
   5.2.4.3. मनोविश्लेषण अथवा मनोवैज्ञानिक आलोचना
   5.2.4.4. ऐतिहासिक आलोचना
   5.2.4.5. शास्त्रीय आलोचना
   5.2.4.6. मार्क्सवादी अथवा प्रगतिवादी आलोचना
   5.2.4.7. अनुसंधानपरक आलोचना
5.2.5. निबन्ध और अन्य गद्य-विधाएँ
5.2.6. पाठ-सार
5.2.7. अभ्यास-प्रश्न
5.2.8. सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

5.2.0. उद्देश्य कथन

प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. छायावादोत्तर तथा स्वातन्त्र्योत्तर युगीन हिन्दी साहित्य की विविध प्रवृत्तियों से परिचित हो सकेंगे।
ii. प्रेमचंदोत्तर कथा-साहित्य का विवेचन कर सकेंगे।
iii. प्रसादोत्तर नाटक और एकांकी से अवगत हो सकेंगे।
iv. शुक्लोत्तर हिन्दी आलोचना की प्रवृत्ति और उसके विकास का अनुशीलन कर सकेंगे।
v. छायावादोत्तर युगीन हिन्दी साहित्य की अन्य गद्य-विधाओं की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

5.2.1. प्रस्तावना

छायावादोत्तर युग छायावादी काव्य-प्रवृत्ति की उत्तर अवस्था है । आधुनिकता के विकासक्रम में भारतेन्दुयुग, द्विवेदीयुग, छायावादी युग का अध्ययन किया जाता है। आगे चलकर इसी शृंखला में प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, साठोत्तरी, नयी कविता आदि प्रवृत्तियों का विकास हुआ। छायावाद का कालखण्ड सन् 1918 ई. से सन् 1936 ई. माना जाता है और इसके पश्चात् लगभग सन् 1938 ई. से सन् 1947 ई. के मध्य का कालखण्ड छायावादोत्तर युग माना जाता है। प्रगतिवाद और प्रयोगवाद छायावादोत्तर युग में अन्तर्निहित हैं। छायावादोत्तर युग में भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन अपने चरम पर था। तत्युगीन साहित्यकारों ने साहित्य धर्म का निर्वहन करते हुए राष्ट्रीयता से प्रेरित रचनाएँ रचीं। छायावादोत्तर युग में राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक चेतना के साथ व्यक्तिगत अनुभूति से प्रेरित रचनाएँ भी रची गईं।

प्रस्तुत इकाई में प्रेमचंदोत्तर कथा-साहित्य, प्रसादोत्तर नाटक और एकांकी तथा शुक्लोत्तर आलोचना के साथ साहित्य की अन्य विधाओं का अध्ययन अभिप्रेत है। हिन्दी साहित्य में सन् 1880 ई. से सन् 1936 ई. तक का कालखण्ड प्रेमचंद युग माना जाता है। सन् 1918 ई. से सन् 1936 ई. तक के कालखण्ड को छायावाद युग कहा गया है। आलोचना की दृष्टि से सन् 1919 ई. से सन् 1938 ई. तक के कालखण्ड को शुक्ल युग माना जाता है। इस प्रकार प्रस्तुत इकाई में हमें मोटे तौर पर छायावाद के बाद के साहित्य का अध्ययन करना है।

5.2.2. प्रेमचंदोत्तर कथा-साहित्य

हिन्दी का आरम्भिक कथा-साहित्य किसी न किसी आकस्मिक घटना या तिलिस्मी प्रसंगों से प्रेरित हुआ करता था। किन्तु साहित्य में प्रेमचंद के पदार्पण के बाद कहानियाँ यथार्थ के धरातल पर पहुँचीं। 'पंचपरमेश्वर' के माध्यम से प्रेमचंद ने मनोविश्लेषक कहानियों की शुरुआत की। कथा-साहित्य में प्रेमचंद का स्थान महत्त्वपूर्ण होता गया और वे कथासम्राट् के रूप में प्रतिष्ठित हुए। कथा-साहित्य में यथार्थ निरूपण का श्रेय प्रेमचंद को जाता है। उनके साहित्य में आदर्श और यथार्थ का अच्छा समन्वय हुआ है। कालान्तर में अन्य साहित्यकारों ने प्रेमचंद के इस गुण का अनुकरण करते हुए यथार्थवादी साहित्य का विकास किया। प्रेमचंद ने अपने समय को अपनी संस्कृति के आलोक में प्रस्तुत किया। और बदलते परिवेश के साथ रचनाधर्म में भी सन्तुलन बनाए रखने के साथ-साथ जीवन-मूल्यों और व्यक्तिगत मान्यताओं में भी परिवर्तनों को स्वीकार किया। इसी गुण के कारण उनके साहित्य में समयानुकूल प्रासंगिकता बनी रही। प्रेमचंद की कहानियाँ विशेषकर ग्रामीण जीवन की समस्याओं को उभारती हैं। कहानियों के सन्दर्भ में प्रेमचंद का विचार था कि, "सबसे उत्तम कहानी वह होती है जिसका आधार किसी मनोवैज्ञानिक सत्य पर हो।" कथन से स्पष्ट है कि प्रेमचंद कहानी को किसी सत्य से प्रेरित मानते रहे। प्रेमचंद की इन्हीं मान्यताओं को परवर्ती साहित्यकारों जैनेन्द्रकुमार, यशपाल, अज्ञेय, इलाचन्द्र जोशी, उपेन्द्रनाथ 'अश्क' आदि ने ग्रहण किया। और हिन्दी साहित्य के नवीन भावों को प्रोत्साहन प्रदान किया। इन साहित्यकारों ने प्रेमचंद के समय से चली आ रही व्यक्ति और समाजवादी साहित्यधारा को मनोविश्लेषण और समन्वयवादी दृष्टिकोण के परिवेश में प्रस्तुत किया।

प्रेमचंद युग के उत्तरार्द्ध में हिन्दी कथा-साहित्य को एक नयी दिशा मिली। प्रेमचंद साहित्य की समस्याएँ यथार्थपरक और आदर्शवादी रहीं। अर्थात् किसी भी समस्या का समाधान वे आदर्श रूप में चाहते रहे। किन्तु बदलते परिवेश और प्रेमचंद युग के उत्तरार्द्ध में रचनाकारों की प्रवृत्तियों में भी परिवर्तन आता गया। और रचनाएँ यथार्थ के पटल पर रहीं किन्तु उनके साथ-साथ मनोविज्ञान का समावेश हुआ। यह परिवर्तन प्रेमचंदोत्तर युग की घोषणा थी। नये मानकों और मूल्यों के साथ रचनाकारों ने वस्तु और शिल्प की दृष्टि से भी नवीन प्रयोग किए। यद्यपि नवीन भावबोध के लक्षण प्रेमचंद की परवर्ती रचनाओं में दिखाई देने लगे थे। प्रेमचंदोत्तर युग में साहित्य में मार्क्सवाद और मनोविश्लेषण जैसी अवधारणाएँ प्रविष्ट हुईं। साहित्यकारों ने साधारण मनुष्य जीवन, उनके मानसिक द्वन्द्व, हताशा, अवसाद आदि बिन्दुओं को साहित्य में स्थान दिया। प्रेमचंदोत्तर युग में मनोविज्ञान और मार्क्सवाद ने रचनाकारों को प्रभावित किया। फलतः यह प्रभाव उनकी रचनाओं में भी अंकित हुआ। सामान्यतः रचनाकारों की रचना प्रवृत्तियाँ इन्हीं दो वर्गों में बँटी हुई दिखाई देती हैं। किन्तु साथ ही वे प्रेमचंदयुगीन प्रभावों से पूर्णतः मुक्त भी नहीं हो पाए, प्रेमचंदयुगीन रचना प्रवृत्तियों की धारा सन् 1950 ई. तक प्रवाहित होती रही।

फ्रायड के मनोविज्ञान से प्रभावित जैनेन्द्र कुमार हिन्दी साहित्य में मनोवैज्ञानिक रचनाकार माने जाते हैं। जैनेन्द्र कुमार की रचनाओं में मनुष्य के अन्तर्मन का गहन अध्ययन कर उसके अन्तर्द्वन्द्व को अभिव्यक्ति मिली है। उनकी रचनाओं में मनुष्य की चारित्रिक विशेषता, अन्तर्द्वन्द्व, मानसिक अवसाद और तज्जनित गतिविधियाँ, करुणा, नैतिकता और सांकेतिकता जैसे मुद्दे उभरकर सामने आए हैं। जैनेन्द्र कुमार ने 'फाँसी' 'वातायन', 'खेल', 'विशाल भारत', 'नीलम देश की राजकन्या, 'पाजेब' आदि कहानियों के माध्यम से मानवीय संवेदनशीलता के यथार्थ को मनोविज्ञान के व्यावहारिक पक्ष के साथ उद्‌घाटित किया है। जैनेन्द्र कुमार की कहानियाँ घटनाओं के इर्द-गिर्द न घूमकर कहानी के मुख्य पात्रों की संवेदनाओं को प्रकट करती हैं। उनकी रचनाओं में बाहरी दुनिया नहीं बल्कि स्वयं व्यक्ति और उसकी निजी अनुभूतियों को महत्त्व मिला है। जैनेन्द्र कुमार मानते थे कि मनुष्य की स्थिति उसकी बाह्य परिस्थिति की परिणति होती है इसीलिए उसका अलग से प्रस्तुतीकरण आवश्यक नहीं है। वे कहते हैं, "परिस्थिति मेरे लिए कोई मनःस्थिति से स्वतन्त्र अस्तित्व रखने वाली चीज नहीं है। उस दृष्टि से परिस्थिति की बात करूँ तो मेरे जीवन का कच्चा चिटठा ही खुल निकलेगा। उसे खोलना मुझे मंजूर नहीं है। न खुले, इसीलिए तो कथा-कहानी और उपन्यास हैं।" अपनी इसी मान्यता के कारण जैनेन्द्र कुमार को कहानियों को व्यक्तिप्रधान बनाने वाला प्रथम कहानीकार माना जाता है। उनकी कहानियों में जहाँ एक ओर मानसिक अन्तर्द्वन्द्व है तो वहीं दूसरी ओर असामाजिकता के विरुद्ध विद्रोह की भावना भी है। इसके साथ ही जैनेन्द्र कुमार की कहानियाँ असामाजिकता पर व्यंग्य भी करती हैं। प्रेमचंद ने जहाँ समाज को समायोजित होने का सन्देश दिया वहीं जैनेन्द्र ने एक व्यक्ति को उसकी सम्पूर्ण संवेदना के साथ उभारा। पूर्ववर्ती कथा-साहित्य में जहाँ समाज का महत्त्व था वहीं जैनेन्द्र के कथा-साहित्य में एक सामान्य व्यक्ति को महत्त्व मिला है।

इलाचन्द्र जोशी के साहित्य में भी फ्रायड का मनोविश्लेषण परिलक्षित हुआ है। मनुष्य की दमित काम-वासना, कुण्ठा और उससे उत्पन्न होने वाली विकृतियों का वर्णन इलाचन्द्र जोशी के कथा-साहित्य की विशेषता रही है। इनकी मान्यता थी कि किसी भी मनुष्य का वास्तविक व्यक्तित्व उसके अन्तर्मन में निवास करता है, उसे

समझने के लिए उसके अन्तर्मन की पड़ताल करने के बाद ही उसके व्यक्तित्व का उचित आकलन किया जा सकता है। इसीलिए इन्होंने मनुष्य के मानसिक उत्थान को अधिक महत्त्व प्रदान किया। उनकी रचनाएँ 'रोमांटिक छाया', 'आहुति', 'खण्डहर की आत्माएँ', 'डायरी के नीरस पृष्ठ', 'दुष्कर्मी', 'बदला' आदि रचनाओं में फ्रायड के सिद्धान्त चेतन, अवचेतन, अचेतन के कई स्तरों का दर्शन कराती हैं। इनकी कहानियाँ मुख्यतः समाज के मध्यमवर्ग के सामाजिक और व्यक्तिगत परिवेश पर आधारित रहीं और पात्र किसी न किसी प्रकार की विकृति या कुण्ठा से ग्रस्त रहे।

छायावादोत्तर कथाकारों में अज्ञेय भी मनोविज्ञान की लीक पर चलने वाले रचनाकारों में आते हैं। साथ ही वे सार्त्र के अस्तित्ववाद से प्रभावित रचनाकार भी हैं। किन्तु विशेष बात यह रही कि अज्ञेय की व्यक्ति को परखने की परिधि बहुत व्यापक थी। वैज्ञानिक यथार्थ को मानने के कारण जैनेन्द्र की तरह वे आध्यात्मिकता से आबद्ध नहीं हुए बल्कि गहन चिन्तन और विश्लेषण की बारीकी उन्हें उच्च कोटि के दार्शनिक होने का आभास भी कराती है। मध्यमवर्गीय मनुष्य के सामाजिक संघर्ष ने आगे की कहानियों में अभिव्यक्ति पाई है। कहानी के पात्र बदलते जीवन-मूल्यों के अनुरूप नैतिकता और दार्शनिकता की प्रतिष्ठापना करते दिखाई देते हैं। अपनी रचना 'कोठरी की बात', 'विपथगा', 'अमरवल्लरी', 'परम्परा' आदि में वे समाज में निहित नैतिकता और जीवन-मूल्यों के लिए व्यक्ति को ही कारणीभूत होने के संकेत देते हैं। इसके साथ ही पात्रों में एक विशिष्ट प्रकार का विद्रोह, एक गूढ़ता के गुणधर्म भी दिखाई देते हैं।

छायावादोत्तर युग में मार्क्सवादी रचना प्रवृत्ति का अनुसरण भी कई रचनाकारों ने किया। यशपाल, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', भगवतीचरण वर्मा जैसे कहानीकारों ने मार्क्सवादी विचारधारा को प्रवाहित किया। यशपाल ने अपनी कहानियों में तात्कालिक सामाजिक जीवन की वास्तविकता को मार्क्सवादी दृष्टि से प्रस्तुत किया। सामान्य जीवन में व्याप्त गरीबी, शोषण, सामाजिक विकृतियाँ, महिला उत्पीड़न, तात्कालिक राजनैतिक उथल-पुथल के अनुरूप सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक और सांस्कृतिक संघर्ष आदि विषय यशपाल की लेखनी के केन्द्रीय विषय रहे। मार्क्सवादी विचारधारा से प्रेरित होने के कारण उनकी विचारधारा एक विशिष्ट सिद्धान्त के परे नहीं जा पाई। इसके बावजूद उनकी कहानियों में नैतिकता, स्त्री-समाज के प्रति सहानुभूति, दुष्ट परम्पराओं के प्रति विद्रोह, सामाजिक नैतिकता का समर्थन आदि विषय स्थान पाते गए। 'पिंजरे की उड़ान', 'अभिशप्त', 'तर्क का तूफ़ान', 'धर्मयुद्ध', 'सच बोलने की भूल' आदि में सामाजिक और आर्थिक भेदभाव के दर्शन होते हैं। साथ ही यशपाल की कहानियों के पात्रों में शोषण के प्रति तीव्र विद्रोह की भावना स्पष्ट दिखाई देती है। यशपाल के मार्क्सवादी दृष्टिकोण के बारे में 'कहानी : स्वरूप और संवेदना' में राजेन्द्र यादव का कथन उल्लेखनीय है कि, "यशपाल ने मार्क्सवादी दृष्टि से एक के बाद एक सशक्त कहानियाँ लिखीं। उन्होंने समाज के परम्परागत मूल्यों और रूढ़ियों के विरुद्ध व्यंग्य और युक्ति के हथियारों से तीखे प्रहार किए। जिस निर्भीकता से उन्होंने अंग्रेज़ी राज के विरुद्ध 'साग' जैसी कहानियाँ लिखीं उसी निर्भीकता से धर्म और पुरानी नैतिक मान्यताओं के विरुद्ध 'मनु की लगाम', 'धर्मरक्षा', 'ज्ञानदान', 'प्रतिष्ठा का बोझ', 'दूसरी नाक' इत्यादि भी।' स्पष्ट है कि यशपाल ने अपनी कहानियों में

जीवन की वास्तविकता का दर्शन कराया है साथ ही खोखली परम्पराओं और रूढ़ियों के साथ-साथ शोषक वर्ग के प्रति विद्रोह भी।

उपेन्द्रनाथ 'अश्क' यद्यपि प्रेमचंद युग से ही रचनाकार के रूप में प्रतिष्ठित हो चुके थे। उनका कथा-साहित्य भी प्रेमचंद की ही भाँति यथार्थवादी रहा। उनकी कहानियाँ 'अंकुर', 'नासूर', 'दावी', आदि तथा प्रेमचंदोत्तर युग में लिखी कहानियों में 'छींटे', 'श्रेष्ठ सत्तर कहानियाँ', 'पलंग', 'आकाशचारी' आदि में अश्क जी की अपनी एक विशिष्ट विचारधारा परिलक्षित हुई। उनकी कहानियों में मनुष्य जीवन के सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक जीवन में व्याप्त विसंगतियों पर व्यंग्य दिखाई देता है। अर्थात् उनकी कहानियाँ सामाजिक यथार्थ को व्यंग्यपूर्ण तरीके से अभिव्यक्ति देती हैं। वस्तुतः अश्क जी जीवन के विविध अंगों को प्रस्तुत करने वाले प्रगतिवादी रचनाकार रहे हैं।

उपर्युक्त रचनाकारों के अतिरिक्त भगवतीचरण वर्मा, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, अमृतलाल नागर, विष्णु प्रभाकर, द्विजेन्द्रनाथ मिश्र 'निर्गुण' आदि ने भी मानव-मूल्यों को अभिव्यक्त करने वाली कहानियाँ रचीं। कहानीकारों ने अपने समकालीन जीवन के सशक्त और संवेदनशील अनुभवों को पूर्ण यथार्थ के साथ कहानियों में प्रस्तुत किया। इन कहानियों में मानवीय संवेदना की सघनता, जीवन के यथार्थ की स्वीकृति, मध्यमवर्गीय समाज का संघर्ष और सामान्य व्यक्ति की कुण्ठा और दमित इच्छाओं के कारण उभरने वाली विकृतियों का सार्थक वर्णन हुआ है।

5.2.3. प्रसादोत्तर नाटक और एकांकी

प्रसादयुगीन नाटकों में रोमांचक, ऐतिहासिक, पौराणिक, तात्कालिक परिवेश के अनुरूप लिखे गए नाटक अर्थात् यथार्थपरक नाटक, समस्या नाटक आदि स्तर मिलते हैं। इसके अतिरिक्त प्रसाद युग में अनूदित नाटकों का भी चलन रहा। जिनमें संस्कृत के अलावा रूसी, फ्रेंच, जर्मन जैसी मूलभाषा में रचित नाटक जिनका अनुवाद अंग्रेज़ी भाषा में हुआ उन नाटकों को प्रसाद युग में हिन्दी में अनूदित कर प्रस्तुत किया गया। मैथिलीशरण गुप्त, अतरचंद कपूर, हरदयालु सिंह, द्विजेन्द्रलाल राय तथा गिरीशचंद्र घोष जैसे रचनाकारों ने भास-कृत 'स्वप्नवासवदत्ता', भास-कृत 'प्रतिमा' और 'पंचरात्र', हर्ष-कृत 'नागानन्द' एवं शेक्सपियर, तोल्स्तोय, गौल्सवर्दी, मोलियर, शिलर के नाटकों का हिन्दी में सफल अनुवाद किया। इसके अलावा कुछ बांग्ला नाटकों का भी हिन्दी में अनुवाद इस युग में होता रहा।

प्रसादोत्तर युग में नाटकों के क्षेत्र में विशेषकर समस्या नाटकों को लेकर व्यापक परिवर्तन हुए। समस्यामूलक नाटक सामाजिक, राजनैतिक समस्याओं को ऐतिहासिक और पौराणिक परिवेश में प्रस्तुत करते रहे किन्तु प्रसादोत्तर नाटकों में पौराणिक और ऐतिहासिक नाटकों में भी किसी न किसी समस्या का उद्घाटन किया गया। नाटककारों को इसकी प्रेरणा पाश्चात्य नाटककार इब्सन और बर्नार्ड शॉ से मिली थी। नाटकों के साथ-साथ एकांकियों में भी समस्याओं का प्रदर्शन होने लगा। यूरोप में इब्सन ने जहाँ व्यक्ति और समाज के संघर्षों का

आख्यान किया वहीं बर्नार्ड शॉ ने इंग्लैंड में बौद्धिकता के आधार पर यथार्थमूलक नाटकों को अभिव्यक्ति दी। प्रसादोत्तरयुगीन समस्यामूलक नाटकों में प्रेमसहाय सिंह-कृत 'नवयुग', 'लक्ष्मीनारायण मिश्र-कृत 'राक्षस मन्दिर', 'संन्यासी', 'मुक्ति का रहस्य', 'सिन्दूर की होली' और 'आधीरात', पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र'-कृत 'डिक्टेटर', 'चुम्बन' और 'आवारा' उपेन्द्रनाथ 'अश्क'-कृत 'लक्ष्मी का स्वागत', 'स्वर्ग की झलक' आदि नाटक तथा वृन्दावनलाल वर्मा-कृत 'खिलौने की खोज' आदि नाटक महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं। इस प्रकार प्रसादोत्तर युग में भी प्रसादयुगीन यथार्थवादी समस्यामूलक नाटकों की सृजन-धारा प्रवाहित होती रही।

सन् 1933 ई. से सन् 1947 ई. के दौरान राष्ट्रीय आन्दोलन की चेतना प्रखर हो चली थी। जिसका प्रभाव नाटक और एकांकी पर भी हुआ। रचनाकारों ने रंगमंच को राष्ट्रीय आन्दोलन का एक माध्यम बनाकर जनता में अंग्रेज़ी कुशासन के विरुद्ध विद्रोह की भावना जगाई गई। सन् 1933 ई. में प्रसाद के 'ध्रुवस्वामिनी' के बाद नाट्य-साहित्य में भाव और शिल्प की दृष्टि से परिवर्तन अवश्य हुए किन्तु तात्कालिक परिवेश के अनुरूप प्रसादोत्तर नाटकों में भी समस्यामूलक, ऐतिहासिकता, पौराणिकता, सामाजिकता आधारित नाटकों ने प्रसाद का ही अनुकरण किया। जयशंकर प्रसाद और प्रसादयुगीन अन्य नाटककारों ने राष्ट्रीय आन्दोलन को केन्द्र में रखकर कई ऐतिहासिक नाटकों का सृजन किया। किन्तु ऐतिहासिकता के आधार पर नाटककारों ने तात्कालिक वर्तमान परिस्थिति को चित्रित करने का प्रयास किया था। इस समय के नाटककार हरिकृष्ण प्रेमी ने राष्ट्रीय आन्दोलन से प्रेरित होकर अपने नाटकों 'रक्षाबन्धन', 'शिव साधना', 'प्रतिशोध', 'मन्दिर', 'विषयान', 'मित्र' आदि के माध्यम से राष्ट्रीयता का प्रचार-प्रसार किया। इसी शृंखला में उदयशंकर भट्ट ने भी 'विक्रमादित्य', 'दाहर', 'सिन्धपतन'. 'मुक्तिपथ', 'शक विजय' जैसे नाटक रचकर राष्ट्रीय आन्दोलन में अपना योगदान दिया। इनकी नाट्य शैली पर संस्कृत के नाटकों का प्रभाव विशेष रूप से परिलक्षित होता है। इसके अलावा लक्ष्मीनारायण मिश्र-कृत 'अशोक', 'गरुड़ध्वज', 'वत्सराज', 'धरती का हृदय', 'गंगाद्वार' आदि नाटक, वृन्दावनलाल वर्मा-कृत 'झाँसी की रानी',' पूर्व की ओर', 'कश्मीर का काँटा', 'फूलों की बोली', डॉ॰ रामकुमार वर्मा-कृत 'कौमुदी महोत्सव', जगदीशचंद्र माथुर-कृत 'कोणार्क' नाटक ऐतिहासिक नाटकों में उल्लेखनीय कृतियाँ हैं।

प्रसादोत्तर युग में पौराणिक आख्यानों पर आधारित नाटकों का भी सृजन हुआ। नाटककारों ने महाभारत, रामायण, पुराण आदि ग्रन्थों के आधार पर आधुनिक जीवन और तात्कालिक परिवेश से सम्बन्धित समस्याओं को उजागर किया। इन नाटककारों में उदयशंकर भट्ट-कृत 'अंबा', 'सागर विजय', 'मत्स्यगंधा', 'विश्वामित्र', 'राधा', 'गुरु द्रोण का अन्तर्निरीक्षण', 'अश्वत्थामा' आदि नाटक, सेठ गोविन्ददास-कृत 'कर्ण', 'कर्त्तव्य', चतुरसेन शास्त्री-कृत 'मेघनाद', 'सीताराम', 'श्रीराम', पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र'-कृत 'गंगा का बेटा', लक्ष्मीनारायण मिश्र-कृत 'नारद की वीणा', 'चक्रव्यूह', 'अश्वमेध', 'चित्रकूट', रांगेय राघव कृत 'स्वर्गभूमि का यात्री', रामकुमार वर्मा-कृत 'राजारानी सीता', जगदीशचंद्र माथुर-कृत 'दशरथनन्दन' आदि नाटककारों की नाट्यकृतियाँ उल्लेखनीय हैं। इन नाटककारों ने पौराणिक पृष्ठभूमि पर समाज की समस्याओं का उभारने का प्रयास किया है। उदयशंकर भट्ट के नाटकों में जहाँ सामाजिक समस्याओं का उद्घाटन हुआ है वहीं रांगेय राघव के नाटकों में तात्कालिक जीवन-

मूल्यों के चित्र हैं। वहीं लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटकों में आधुनिक विश्लेषण की प्रवृत्ति उभरकर सामने आई है। संक्षेप में इन प्रसादोत्तर नाटककारों ने पौराणिक पृष्ठभूमि की आड़ लेकर जनजागरण का कार्य किया है।

एकांकी नाटकों के उद्भव को लेकर विद्वानों में मतभेद रहे हैं। कुछ विद्वान् इसका सूत्रपात भारतेन्दु युग से मानते हैं तो कुछ लोग डॉ॰ रामकुमार वर्मा को इसका श्रेय देते हैं। डॉ॰ सोमनाथ गुप्त जयशंकर प्रसाद-कृत 'एक घूँट' से एकांकी नाटकों का उदय मानते हैं। जिसका समर्थन करते हुए अज्ञेय ने 'हिन्दी साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य' में लिखा है कि, "प्रसाद का 'एक घूँट' भी एकांकी है। ... रूप विधान की दृष्टि से वह आधुनिक एकांकी के बहुत निकट है और ऐसा माना जा सकता है कि आधुनिक एकांकी की परम्परा वहीं से आरम्भ होती है।" इसके उपरान्त भुवनेश्वर प्रसाद ने सन् 1935 ई. में अपने एकांकी संग्रह 'कारवाँ' को प्रस्तुत किया। जिस पर बर्नार्ड शॉ के प्रभाव को उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है। एकांकी-लेखन के क्षेत्र में एकांकीकारों की सूची बहुत लम्बी है किन्तु भुवनेश्वर प्रसाद, रामकुमार वर्मा, उदयशंकर भट्ट, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', सेठ गोविन्ददास, जगदीशचंद्र माथुर आदि का नाम उल्लेखनीय है। प्रसादोत्तर युग में भुवनेश्वर प्रसाद-कृत 'ताँबे के कीड़े', 'आजादी की नींद', 'सिकंदर' का प्रकाशन हुआ। परिमाण की दृष्टि से भुवनेश्वर प्रसाद के अधिकांश एकांकी प्रसाद युग में प्रकाशित हुए और प्रसादोत्तर युग में रामकुमार वर्मा के एकांकी नाटकों की संख्या अधिक रही। रामकुमार वर्मा के तीन एकांकी संग्रह क्रमशः 'पृथ्वीराज की आँखें', 'रेशमी टाई' और चारुमित्रा महत्त्वपूर्ण रहे हैं। रामकुमार वर्मा की एकांकियों में दो तरह की प्रवृत्तियाँ देखी जा सकती हैं – (i) दाम्पत्य जीवन की समस्याएँ और (ii) ऐतिहासिकता पर आधारित एकांकी। किन्तु रामकुमार वर्मा के एकांकी नाटकों का मूल स्वर आदर्श की प्रतिष्ठापना ही रहा। जीवन की वास्तविकता का उद्घाटन करना ही इनकी एकांकियों का मूल उद्देश्य रहा।

सामाजिक समस्याओं के उन्मूलन की पृष्ठभूमि पर ही सन् 1940 ई. में उदयशंकर भट्ट का एकांकी संग्रह 'अभिनव एकांकी' नाम से प्रकाशित हुआ। इनके एकांकियों में उच्च और निम्न वर्ग के बीच उत्पन्न होने वाले संघर्ष का चित्रण हुआ है। साथ ही भट्ट जी ने एकांकियों में तात्कालिक परिवेश में उपजी सांस्कृतिक संक्रमण की समस्या और कुछ भारतीयों में पश्चिमी सभ्यता के प्रति आकर्षण की भावना के साथ भारतीय सभ्यता और संस्कृति को निम्नतर मानने की प्रवृत्ति का प्रस्तुतीकरण भी प्रस्तुत हुआ है। इसके अलावा उदयशंकर भट्ट जी ने एकांकियों में नयी और पुरानी संस्कृतियों का यथेष्ट समन्वय भी किया है। 'आदिम युग', 'प्रथम विवाह', 'वैवस्वत मनु' उनके पौराणिक परिप्रेक्ष्य में लिखित एकांकी हैं।

पारिवारिक जीवन पर आधारित एकांकी लेखन की शृंखला में उपेन्द्रनाथ 'अश्क'-कृत 'लक्ष्मी का स्वागत', 'पापी', 'सूखी डाली' एकांकी उल्लेखनीय हैं। सेठ गोविन्ददास के एकांकी-संग्रह 'सप्तरश्मि', 'एकादशी', 'पंचभूत', 'चतुष्पथ' में राजनैतिक, सामाजिक और ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में लिखित एकांकी संकलित हैं। प्रसादोत्तर युग में कुछ एकांकीकारों ने फ्रायड के मनोविज्ञान को आधार बनाकर कुछ मनोवैज्ञानिक एकांकी भी लिखे। भुवनेश्वर प्रसाद-कृत 'ऊसर', 'प्रतिमा का विवाह' और 'लॉटरी', गिरिजाकुमार माथुर रचित 'अपराधी', उपेन्द्रनाथ 'अश्क'-कृत 'छठा बेटा', 'भँवर', अन्धी गली', 'मेमना', 'सूखी डाली', शंभुदयाल सक्सेना-कृत 'जीवन धरनी', 'नन्दरानी', 'पंचवटी' आदि एकांकी मनोविज्ञान-आधारित एकांकी हैं जिसमें मनुष्य

मन की अतृप्त इच्छाएँ और तज्जनित विकृतियों का चित्रण रचनाकार ने किया है। जगदीशचंद्र माथुर-कृत 'मकड़ी का जाला' में माथुर जी ने व्यक्ति के अतीत की घटनाओं को उसके अचेतन मन का सहारा लेते हुए स्वप्न के माध्यम से प्रस्तुत किया है। इसके अतिरिक्त माथुर जी ने 'भोर का तारा' तथा 'ओ मेरे सपने' एकांकी-संग्रहों में मनुष्य जीवन के बहुरंगी चित्र उकेरे हैं। इस प्रकार प्रसादोत्तर युग में उपर्युक्त एकांकीकारों के अतिरिक्त अन्य कई रचनाकारों ने सामाजिक, मनोवैज्ञानिक, समस्यामूलक, पौराणिक, ऐतिहासिक, हास्य-व्यंग्यप्रधान एकांकी नाटकों की रचना कर साहित्य में एकांकी विधा को एक स्वतन्त्र अस्तित्व प्रदान किया। इसके अतिरिक्त कई पाश्चात्य एकांकियों का अनुवाद भी प्रसादोत्तर युग में किया गया जिसमें ए. ए. मिलन, विशिप्स कैनिडलस्टिक्स, हेराल्ड विर्गहाउस के एकांकियों का हिन्दी अनुवाद उल्लेखनीय है।

5.2.4. शुक्लोत्तर आलोचना

हिन्दी साहित्य में आलोचना विधा का सूत्रपात आधुनिककाल से दिखाई पड़ता है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'नाटक' शीर्षक से एक लेख लिखा जिसमें उन्होंने नाटक विधा पर चर्चा करते हुए उसके गुण और दोषों की चर्चा की और नाटक विधा का विश्लेषण किया। हिन्दी साहित्य में यहीं से आलोचना की शुरुआत मानी जाती है। भारतेन्दु युग में आलोचना की प्रवृत्ति को बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' और बालकृष्ण भट्ट ने आगे विकसित किया। इस प्रकार भारतेन्दु की आलोचना में जिस व्यावहारिक पक्ष का अभाव था उसकी पूर्ति होती गई। उपरान्त आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी साहित्य को परिष्कृत और परिमार्जित करने का कार्य किया। इस परिष्करण और परिमार्जन से आलोचना भी अछूती नहीं रही। आलोचना के क्षेत्र में द्विवेदी जी के प्रयासों के फलस्वरूप महत्त्वपूर्ण आलोचना पद्धतियों का विकास हुआ। यद्यपि द्विवेदीयुग में आलोचना की विविध पद्धतियों का विकास अवश्य हुआ किन्तु सैद्धान्तिक और व्यावहारिक रूप से आलोचना में जो निखार आया वह आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की देन है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल आलोचना जगत् के आलोक-स्तम्भ कहे जाते हैं। शुक्लजी ने भारतेन्दु और द्विवेदीयुगीन आलोचनाओं में जो कमियाँ रह गईं थीं उसकी पूर्ति का प्रयास किया। जैसे किसी रचना के गुण-दोषों के अलावा रचना की समालोचना के अन्तर्गत रचनाकार के अन्तर्मन, उसकी प्रेरणा, उसकी मनोदशादि का विश्लेषण प्रस्तुत कर व्यावहारिक आलोचना को प्रोत्साहित किया। आलोचना के क्षेत्र में शुक्ल जी का महत्त्वपूर्ण कार्य यह रहा कि शुक्ल जी ने संस्कृत काव्यशास्त्र के विश्लेषण के साथ पश्चिमी आलोचना सिद्धान्तों का समन्वय कर उसे हिन्दी साहित्य के अनुरूप बना दिया। शुक्ल जी के आलोचना सिद्धान्तों में आदिकाल से आधुनिककाल का छायावादी साहित्य तक समाविष्ट रहा। वस्तुतः छायावाद तक आते-आते हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ व्यक्तिगत चेतना को प्रेरणा देती रहीं। शुक्ल जी ने व्यक्तिगत अनुभूतियों से प्रेरित इन प्रवृत्तियों का विरोध किया। वस्तुतः शुक्ल जी रसवादी आलम्बन में ऐसे तत्त्वों को महत्त्व देते हैं जो समाज में आदर्श की प्रतिष्ठापना करें। इसी मान्यता के अनुरूप शुक्ल जी ने ऐसी रचनाओं और प्रवृत्तियों को महत्त्व दिया जो लोकहितकारी और जन-कल्याणकारी हों। ऐसे में छायावादी दृष्टिकोण के प्रति शुक्ल जी की नीरसता स्वाभाविक थी। इसके विपरीत प्रसाद, पन्त, निराला, महादेवी और रामकुमार वर्मा जैसे छायावादियों ने नैतिकता के बन्धनों को लेकर नाराजगी जतायी। जिसके परिणामस्वरूप छायावादी रचनाकारों ने अपनी प्रवृत्तियों के समर्थन में आलोचनात्मक सिद्धान्तों

के साथ आगे आकर शुक्ल जी के छायावादी विरोध की आलोचना की। छायावादी सिद्धान्तों से प्रभावित होकर परवर्ती आलोचकों जैसे नन्ददुलारे वाजपेयी, शान्तिप्रिय द्विवेदी, डॉ॰ नगेन्द्र को सम्बल मिला और आलोचना के विभिन्न रूपों का विकास हुआ। शुक्लोत्तर युग में आलोचना के स्वच्छन्दतावादी, प्रभाववादी, मनोवैज्ञानिक, ऐतिहासिक, शास्त्रीय, मार्क्सवादी और अनुसंधानपरक आलोचना रूप उल्लेखनीय हैं।

5.2.4.1. स्वच्छन्दतावादी आलोचना

स्वच्छन्दतावादी आलोचना छायावादी काव्य-प्रवृत्तियों का समर्थन करती दिखाई देती है। अतः कई जगह इसे छायावादी आलोचना कहकर भी सम्बोधित किया जाता है। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी इस आलोचना पद्धति के प्रणेता कहे जाते हैं। शान्तिप्रिय द्विवेदी तथा डॉ॰ नगेन्द्र का नाम भी स्वच्छन्दतावादी आलोचना के क्षेत्र में उल्लेखनीय रहा है। वाजपेयी जी ने शुक्ल जी की आलोचना के विपरीत छायावादियों की हिमायत की थी। भारतीय रस सिद्धान्त और पाश्चात्य संवेदनाओं के बीच समन्वय स्थापित करते हुए वाजपेयी जी ने काव्यादर्शों को एक स्वतन्त्र सत्ता बताते हुए कहा था कि, "काव्य का महत्त्व तो काव्य के अन्तर्गत ही है, किसी बाहरी वस्तु में नहीं। काव्य और साहित्य की स्वतन्त्र सत्ता है, उसकी स्वतन्त्र प्रक्रिया है और उसकी परीक्षा के स्वतन्त्र साधन हैं। काव्य तो मानव की उद्‌भावनात्मक या सर्जनात्मक शक्ति का परिणाम है। उसके उत्कर्ष-अपकर्ष का नियन्त्रण बाह्य स्थूल व्यापार या बाह्य बौद्धिक संसार और आदर्श थोड़ी ही मात्र में हैं।" इसके माध्यम से वाजपेयी जी यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि साहित्य की अभिव्यक्ति स्वतन्त्र रूप से की जाती है। इसके लिए कोई प्रतिबन्धात्मक प्रक्रिया नहीं होती। इसी आधार पर वाजपेयी जी ने छायावाद का सैद्धान्तिक रूप से पक्ष लिया। संक्षेप में अभिव्यक्ति की यह स्वतन्त्रता ही स्वच्छन्दतावादी आलोचना का आधार है। विद्वानों ने इस स्वच्छन्दतावाद पर पश्चिम की रोमांटिक समीक्षा के अनुरूप वर्डस्वर्थ, कीट्स, शेली आदि के प्रभाव को माना है। क्योंकि भारतीय और पश्चिम की इन दोनों प्रवृत्तियों में स्वच्छन्दता, प्रकृति-प्रेम, प्रेम की विशिष्ट अभिव्यक्ति, मनुष्य की निजी संवेदनाओं को महत्त्व, कल्पनाओं को महत्त्व जैसे तत्त्व समान रूप से दिखाई देते हैं।

छायावाद की रागात्मकता से प्रभावित शान्तिप्रिय द्विवेदी ने मानववादी दृष्टिकोण अपनाया। डॉ॰ नगेन्द्र ने सौन्दर्यबोधात्मक दृष्टिकोण को अपनाते हुए पन्त की समीक्षा की। इसके अतिरिक्त डॉ॰ नगेन्द्र ने शैली विज्ञान के अन्तर्गत भाषा, बिम्ब, प्रतीक जैसे तत्त्वों पर भी उल्लेखनीय कार्य किया। छायावादोत्तर युग के उत्तरार्द्ध अर्थात् सन् 1940 ई. के आसपास छायावादी प्रवृत्तियों में तात्कालिक परिवेश के अनुरूप परिवर्तन आने लगे और छायावादियों में निहित कल्पनागम्यता का अपने आप ही लोप होने लगा। किन्तु अपने विकास के दौरान ही छायावादी समीक्षा ने एक अन्य आलोचना पद्धति को विकसित करने में योगदान दिया जिसे 'प्रभाववादी आलोचना' के नाम से जाना गया।

5.2.4.2. प्रभाववादी आलोचना

प्रभाववादी आलोचना में आलोचक सर्वप्रथम किसी कृति का अध्ययन करने के पश्चात् उस कृति के अपने मन पर पड़े प्रभाव को आलोचनात्मक ढंग से सम्प्रेषित करता है। व्यक्तिगत प्रभावों की अभिव्यक्ति के कारण प्रायः आलोचक मूल कृति से भिन्न आलोचना के रूप में एक नयी कृति का सृजन करता दिखाई देता है जो कभी-कभार मूल कृति से भिन्न भी हो सकती है। हिन्दी साहित्य में पद्मसिंह शर्मा द्वारा की गई 'बिहारी सतसई' की आलोचना प्रभाववादी आलोचना का श्रेष्ठ उदाहरण कहा जा सकता है। शान्तिप्रिय द्विवेदी की आलोचना भी प्रभाववादी आलोचना की कोटि में आती है। छायावादी कवि पन्त के काव्य के आलोचना करते हुए शान्तिप्रिय द्विवेदी भी बेहद भावुक हो उठते हैं। इसके अतिरिक्त भगवतशरण उपाध्याय की आलोचना में भी प्रभाववादिता के अंश देखे जा सकते हैं जबकि मूलतः वे मार्क्सवादी आलोचक के रूप में विख्यात हैं। प्रभावात्मकता का गुणधर्म प्रायः सभी प्रकार के आलोचकों में देखा जा सकता है।

5.2.4.3. मनोविश्लेषण अथवा मनोवैज्ञानिक आलोचना

मनोवैज्ञानिक आलोचना का मूल आधार सिग्मंड फ्रायड का अन्तश्चेतनावादी कला सिद्धान्त है। फ्रायड की मनोविश्लेषणवादी अवधारणा के अनुसार कोई भी रचना रचनाकार की दमित इच्छाओं की अभिव्यक्ति होती है। समाज में रहते हुए मनुष्य के मन में अनेक इच्छाएँ-आकांक्षाएँ सामाजिक प्रतिबन्धों, अनुशासन अथवा अन्य विशिष्ट कारणों से व्यक्त नहीं हो पातीं और मन के किसी कोने में दबी रहती हैं और आगे चलकर यही दमित इच्छाएँ कुण्ठा का रूप धारण कर लेती हैं। किन्तु ये दमित इच्छाएँ व्यक्त होने के लिए सतत प्रयत्नशील बनी रहती हैं। मनोविश्लेषणवादी आलोचना में आलोचक रचनाकार के निजी जीवन का अध्ययन करता है और उसके आधार पर उसकी दमित इच्छाओं का विवेचन कर साहित्य में उसके अंशों की पड़ताल करता है। मनोविश्लेषणवादियों की मान्यता रही है कि रचनाकार को किसी भी रचना-कार्य की प्रेरणा उसकी दमित इच्छाओं से मिलती है। इनके लिए कला भी 'स्वान्तः सुखाय' होती है।

फ्रायड के मनोविश्लेषण से प्रभावित होने के कारण हिन्दी साहित्य में मनोविश्लेषणवादी आलोचना के क्षेत्र में इलाचन्द्र जोशी का नाम उल्लेखनीय है। इस दृष्टि से उनकी 'साहित्य-सर्जना' महत्त्वपूर्ण कृति मानी जाती है। इसके अतिरिक्त उनकी 'विवेचना', 'विश्लेषण', देखा-परखा' आदि कृतियाँ मनोविश्लेषण की ही प्रतिष्ठा करती रहीं। हिन्दी के भक्तिकाव्य के सन्दर्भ में भी इलाचन्द्र जोशी की मान्यता रही कि हिन्दी का भक्ति साहित्य भी दमित इच्छाओं से प्रेरित है। छायावाद में भी इन्हीं कुण्ठाओं को अभिव्यक्ति मिली है। इलाचन्द्र जोशी के अलावा डॉ० नगेन्द्र, डॉ० देवराज उपाध्याय और अज्ञेय का नाम भी मनोविश्लेषणवादी आलोचना के क्षेत्र में उल्लेखनीय है।

5.2.4.4. ऐतिहासिक आलोचना

साहित्य समाज का दर्पण होता है। स्वाभावतः जिस तरह भिन्न-भिन्न परिस्थितियाँ समाज को प्रभावित करती जाती हैं, रचनाकार उसके प्रभावों को अपनी रचना के माध्यम से अंकित करता जाता है। अर्थात् यह सम्भव

है कि वर्तमान अथवा भविष्य में किसी कृति से उत्पन्न होने वाली समस्या की जड़ें अतीत काल में कहीं जमी हुई हों। किसी कृति की आलोचना करने वाला आलोचक इसी तथ्य का अनुकरण करते हुए कृति की ऐतिहासिक और सांस्कृतिक परिपाटी के आलोक में यानी अतीत में जाकर कृति की आलोचना करता है। साहित्य में इसी को ऐतिहासिक अथवा सांस्कृतिक आलोचना कहते हैं। हिन्दी साहित्य में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, आचार्य परशुराम द्विवेदी, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र की आलोचनाएँ इसी श्रेणी में आती हैं।

ऐतिहासिक आलोचकों की मान्यता है कि मनुष्य समाज समय के साथ परिवर्तन को भले ही ग्रहण कर ले, समयानुसार उसकी मान्यताओं में भले ही अन्तर क्यों न आ जाए किन्तु उसके अन्तर्मन में अपने अतीत, अपनी संस्कृति के प्रति आकर्षण और आग्रह होता ही है। हिन्दी साहित्य को व्यापक दृष्टि से समझने के लिए इसके इतिहास का अध्ययन भी इसी आधार पर करना पड़ता है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की रचनाएँ 'हिन्दी साहित्य की भूमिका', 'कबीर', 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल'; आचार्य परशुराम चतुर्वेदी-कृत 'उत्तरी भारत की सन्त परम्परा' और आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र कृत 'भूषण ग्रन्थावली' जैसे ग्रन्थों में जो विवेचन और विश्लेषण हुआ है वह ऐतिहासिक या सांस्कृतिक आलोचना का श्रेष्ठतम उदाहरण है।

5.2.4.5. शास्त्रीय आलोचना

आलोचना के आरम्भिक दौर अर्थात् द्विवेदीयुग में आलोचना की दो पद्धतियाँ प्रचलित हुईं। एक ने रीतिकाल की परिपाटी को अपनाया तो दूसरी में संस्कृत तथा पाश्चात्य सिद्धान्तों का समन्वय दिखाई दिया। शुक्लोत्तर युग में रीतिकालीन लक्षण ग्रन्थों की रचना को विराम लगा। किन्तु संस्कृत और पाश्चात्य काव्य-सिद्धान्तों के आधार पर नये सिद्धान्तों का विकास होने लगा। छायावादोत्तर युग में विद्वानों ने आचार्य दण्डी रचित 'काव्यादर्श', आचार्य वामन रचित 'काव्यालंकारसूत्र', आनन्दवर्धन-कृत 'ध्वन्यालोक', कुन्तक-कृत 'वक्रोक्तिजीवितम्', आचार्य मम्मट-कृत 'काव्यप्रकाश', अभिनव गुप्त-कृत 'अभिनव भारती', आचार्य राजशेखर-कृत 'काव्यमीमांसा' जैसे अनेक संस्कृत सिद्धान्त-ग्रन्थों की शास्त्रीय आलोचना कर, हिन्दीकरण कर हिन्दी की साहित्य सम्पदा की श्रीवृद्धि में योगदान दिया। संस्कृत के इन सिद्धान्त-ग्रन्थों का अनुवाद भारतीय अनुसंधान परिषद् ने करवाया। परिषद् ने इनके अतिरिक्त पाश्चात्य सिद्धान्त-ग्रन्थों में अरस्तु के 'पोएटिक्स', लोंजाइनस के 'ऑन द सबलाइम' और होरेस के 'आर्स पोएटिका' का भी हिन्दी अनुवाद करवाया। विद्वानों ने इन सभी अनुवादों में शास्त्रीय आलोचना पद्धति का ही आधार लिया है।

हिन्दी साहित्य में रामकुमार वर्मा-कृत 'साहित्यशास्त्र', लक्ष्मीनारायण सुधांशु-कृत 'जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त', भगीरथ मिश्र-कृत 'काव्यशास्त्र', सीताराम चतुर्वेदी-कृत 'समीक्षाशास्त्र', आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी-कृत 'नया साहित्य : नये प्रश्न', लीलाधर गुप्त-कृत 'पाश्चात्य साहित्यालोचन और हिन्दी पर उसका प्रभाव', डॉ॰ देवराज उपाध्याय-कृत 'रोमांटिक साहित्य साहित्य-शास्त्र' आदि इस आलोचना पद्धति की उल्लेखनीय कृतियाँ हैं।

5.2.4.6. मार्क्सवादी अथवा प्रगतिवादी आलोचना

शुक्लोत्तर युग में छायावादी कल्पनागम्यता का अवसान होने लगा था। जिसमें 'प्रगतिशील लेखक संघ' की स्थापना महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुई। जिसके प्रथम अध्यक्ष 'प्रेमचंद' थे। अपने अध्यक्षीय भाषण में प्रेमचंद ने रचनाकारों को युगानुकूल नवीन साहित्य उद्देश्यों तथा काव्य के नये मानकों से अवगत कराया। प्रेमचंद के वक्तव्यों से प्रभावित और जीवन की वास्तविकता से परिचित भारतीय साहित्यकार भी प्रगतिवादी साहित्य-सृजन के लिए उद्यत हुए। प्रगतिवादी रचनाओं के साथ-साथ इसी स्तर पर कृतियों की आलोचना भी की जाने लगी। प्रगतिवादी आलोचना का मुख्य आधार मार्क्सवाद था। मार्क्सवादी मान्यता के अनुसार संसार की प्रत्येक वस्तु में परस्पर संघर्ष होता रहता है। और एक ऐसी स्थिति आ जाती है जब ये पारस्परिक संघर्ष समन्वय का रूप धारण कर लेते हैं। यही मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद है। मार्क्सवाद हमेशा साम्यवाद का समर्थक रहा। इस आधार पर मार्क्सवादी विचारधारा ने साहित्यकारों को इस बात के लिए प्रेरित किया कि वे शोषित वर्ग अर्थात् सर्वहारा वर्ग में स्वाभिमान और अपने अधिकारों के प्रति जाग्रति उत्पन्न करते रहें। संक्षेप में मार्क्सवाद पूँजीवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया है। मार्क्सवादी आलोचना में आलोचक कृति को मार्क्सवादी अवधारणा की कसौटी पर कसता है। प्रायः प्रत्येक साहित्य जनहित की विचारधारा का पोषण करता रहा है। समाज के दीन-हीन और दुर्बल घटकों के प्रति साहित्य में सहानुभूति भी बरती जाती है। किन्तु मार्क्सवाद सहानुभूति की भावना को साम्यवाद की स्थापना के लिए पर्याप्त नहीं मानता। अतः मार्क्सवादी आलोचना में आलोचक कृति में शोषित वर्ग के संघर्ष, उसके आक्रोश तथा शोषक वर्ग के प्रति घृणा के भावों की पड़ताल करता है। अर्थात् मार्क्सवादी आलोचना समन्वय की बजाय क्रान्ति और संघर्ष को महत्त्व देती है।

मार्क्सवादी आलोचना की दृष्टि से हिन्दी साहित्य में शिवदान सिंह चौहान-कृत 'आलोचना के मान', 'साहित्य की समस्याएँ' और रामविलास शर्मा-कृत 'प्रगति और परम्परा', 'प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ' आदि ग्रन्थ मार्क्सवादी आलोचना के अनुरूप बहुत चर्चित हुए। मार्क्सवाद किसी भी साहित्य को समाज की दृष्टि से देखता आया है। अर्थात् वे उसी रचना को श्रेष्ठ मानते रहे हैं जिसमें व्यक्ति और समाज का मंगल हो। उनके हितों की रक्षा होती हो। लोकमंगल की भावना से प्रेरित होने के कारण मार्क्सवादी आलोचना पद्धति ने परवर्ती साहित्यकारों और आलोचकों को बहुत प्रभावित किया।

5.2.4.7. अनुसंधानपरक आलोचना

अनुसंधानपरक आलोचना पद्धति का सूत्रपात द्विवेदीयुग में हुआ और धीरे-धीरे अनुसंधानों के बढ़ते प्रमाण के साथ-साथ इस आलोचना पद्धति का विकास होता गया। विभिन्न विश्वविद्यालयों में किए जा रहे अनुसंधानों में इसी पद्धति का अनुकरण किया जाता रहा है। अतः कहा जा सकता है कि हिन्दी साहित्य में जो अनुसंधान हो रहे हैं वे सभी इसी आलोचना श्रेणी में आते हैं। हिन्दी साहित्य में डॉ॰ पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल का शोध-प्रबन्ध 'निर्गुण सम्प्रदाय' सन् 1934 में स्वीकृत किया गया, जिसे हिन्दी का पहला शोध-प्रबन्ध माना जाता है। उपरान्त डॉ॰ रमाशंकर शुक्ल 'रसाल का शोध-प्रबन्ध 'हिन्दी काव्यशास्त्र का विकास', डॉ॰ बलदेव प्रसाद

मिश्र का शोध-प्रबन्ध 'तुलसी दर्शन', माताप्रसाद गुप्त का शोध-प्रबन्ध 'तुलसीदास' आदि अनगिनत शोध-प्रबन्ध अनुसंधानपरक आलोचना के उदाहरण हैं। अनुसंधान की प्रवृत्ति ने आलोचना की अन्य प्रवृत्तियों को प्रभावित किया है। प्रत्येक आलोचना में अनुसंधान का पुट निहित रहता ही है।

5.2.5. निबन्ध और अन्य गद्य-विधाएँ

शुक्लोत्तर युग के निबन्धकारों में नये निबन्धकारों के साथ-साथ छायावादयुगीन निबन्धकारों का भी समावेश हुआ, जिन्होंने नवीन परिवेश के अनुरूप भावों और शिल्प की नवीनता को ग्रहण कर निबन्ध-लेखन किया। दो पीढ़ियों के योगदान के कारण शुक्लोत्तर युग में निस्संदेह निबन्ध-साहित्य का अच्छा विकास हुआ। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी शुक्लोत्तर निबन्धकारों में अग्रणी रहे हैं। भारतीय संस्कृति का आख्यान करते इनके निबन्धों ने निबन्ध-साहित्य को नयी दिशा प्रदान की। आत्मव्यंजनाप्रधान निबन्धों के कारण आचार्य द्विवेदी के निबन्ध पाठकों को आकर्षित करते रहे हैं। 'अशोक के फूल', 'मध्यकालीन धर्म साधना', 'कुटज', 'विचार और वितर्क', 'आलोक पर्व' आदि द्विवेदी जी के प्रसिद्ध निबन्ध-संग्रह हैं। द्विवेदी जी के अलावा जैनेन्द्र कुमार, रामधारी सिंह 'दिनकर', रामवृक्ष बेनीपुरी, विद्यानिवास मिश्र, कुबेरनाथ राय, प्रभाकर माचवे, हरिशंकर परसाई आदि ने निबन्ध-साहित्य के विकास में अपना अमूल्य योगदान दिया।

हिन्दी साहित्य में प्रयोगवाद का प्रारम्भ तारसप्तक के प्रकाशन के साथ हुआ। तारसप्तक के कवियों ने वस्तु और शिल्प की दृष्टि से कई प्रयोग किए थे। इसीलिए तारसप्तक से प्रयोगवाद का सूत्रपात माना जाता है। उपन्यास विधा को जीवनी के रूप में प्रस्तुत किया गया तो कहानी की संवेदना, कला के रंगों की बारीकी और संस्मरणों के मूल गुणधर्म को मिलाकर रेखाचित्र का निर्माण हुआ। संस्मरण और रेखाचित्र में ज्यादा अन्तर नहीं है। रेखाचित्र के मूल में संवेदना का निवास होता है जिसमें रेखाचित्रकार अतीत के उन पन्नों का वर्णन करता है जिससे उसकी गहरी संवेदनाएँ जुड़ी होती हैं जबकि संस्मरणों में अतीत की घटनाओं को स्मृति के आधार पर उभारने का प्रयास किया जाता है। महादेवी वर्मा ने अपने एक रेखाचित्र का नाम इसी आधार पर रखा था 'अतीत के चलचित्र'। स्वयं महादेवी वर्मा के रेखाचित्रों के माध्यम से ही यह विधा साहित्य में प्रतिष्ठित हुई। और वे संस्मरण विधा के क्षेत्र में भी समादृत हैं। महादेवी वर्मा के बाद रामवृक्ष बेनीपुरी, प्रकाशचंद्र गुप्त शिवपूजन सहाय, देवेन्द्र सत्यार्थी, विष्णु प्रभाकर आदि रेखाचित्र विधा के प्रमुख हस्ताक्षर हैं।

जीवनी विधा की दृष्टि से प्रेमचंद के जीवन पर आधारित अमृतराय की कृति 'कलम का सिपाही' उल्लेखनीय है। रामविलास शर्मा ने निराला के जीवन पर 'निराला की साहित्य साधना', शरच्चंद्र के जीवन पर आधारित विष्णु प्रभाकर-कृत 'आवारा मसीहा', अज्ञेय के जीवन पर आधारित राजकमल-कृत 'शिखर से सागर तक' जीवनी-साहित्य की महत्त्वपूर्ण कृतियाँ हैं।

आत्मकथा के क्षेत्र में यशपाल की आत्मकथा 'सिंहावलोकन', पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' की आत्मकथा 'अपनी खबर', हरिवंशराय बच्चन की चार खण्डों में लिखित आत्मकथा 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ', 'नीड़ का

निर्माण फिर', 'बसेरे से दूर' और 'दश द्वार से सोपान तक', वृन्दावनलाल वर्मा की आत्मकथा 'अपनी कहानी' आदि महत्त्वपूर्ण कृतियाँ हैं।

यात्रा वृत्तान्त के क्षेत्र में राहुल सांकृत्यायन, अज्ञेय, मोहन राकेश, निर्मल वर्मा का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। रिपोर्ताज साहित्य के क्षेत्र में शिवदान सिंह चौहान, रांगेय राघव, रामनारायण उपाध्याय, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', धर्मवीर भारती का योगदान महत्त्वपूर्ण है। वहीं साक्षात्कार विधा के क्षेत्र में प्रभाकर माचवे, बेनीमाधव शर्मा, पद्मसिंह शर्मा, अज्ञेय, श्रीकांत वर्मा, निर्मल वर्मा आदि महत्त्वपूर्ण नाम हैं। डायरी लेखन के क्षेत्र में घनश्यामदास बिड़ला, धीरेन्द्र वर्मा, मुक्तिबोध, शमशेर बहादुर सिंह और मोहन राकेश का नाम उल्लेखनीय है।

5.2.6. पाठ-सार

छायावाद के बाद भारतीय साहित्य में आमूलचूल परिवर्तन हुए। ये परिवर्तन वस्तु और शिल्प की दृष्टि से तो थे ही, साथ ही, इसमें राजनैतिक, सामाजिक हलचलों की आहट भी समाविष्ट थी। इस दौरान राष्ट्रीय आन्दोलन चरम पर था। परिणामतः भारतीय जनमानस में एक नयी चेतना का संचार होने लगा था। रीतिकाल की ही तरह कई विद्वानों ने छायावादी कल्पनागम्यता से परे जाकर यथार्थ को अपनाया और नये भावों को प्रसारित होने दिया। साहित्यिक दृष्टि से भी इस दौरान कई प्रकार के परिवर्तन सामने आए। नव-नवीन साहित्यिक विधाओं जैसे रेखाचित्र, संस्मरण, जीवनी, आत्मकथा, रिपोर्ताज, डायरी, साक्षात्कार आदि का जन्म हुआ और हिन्दी साहित्य-सम्पदा के विकास को प्रोत्साहन मिला।

5.2.7. अभ्यास-प्रश्न

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. छायावादोत्तर युग का कालखण्ड है –

(क) सन् 1938 से 1947 तक
(ख) सन् 1920 से 1936 तक
(ग) सन् 1925 से 1938 तक
(घ) सन् 1900 से 1920 तक

2. प्रेमचंद ने किस कहानी के माध्यम से मनोविश्लेषक कहानियों की शुरुआत की?

(क) ठाकुर का कुआँ
(ख) बड़े घर की बेटी
(ग) पंच परमेश्वर
(घ) सवा सेर गेहूँ

3. पद्मसिंह शर्मा-कृत 'बिहारी सतसई' की आलोचना किस आलोचना श्रेणी से सम्बद्ध है ?

(क) प्रभाववादी आलोचना

(ख) मनोविश्लेषक आलोचना

(ग) ऐतिहासिक आलोचना

(घ) स्वच्छन्दतावादी आलोचना

4. 'नीड़ का निर्माण फिर' किसकी आत्मकथा है ?

(क) हरिवंशराय बच्चन

(ख) महादेवी वर्मा

(ग) सुमित्रानन्दन पन्त

(घ) निराला

लघूत्तरीय प्रश्न

1. प्रेमचंद साहित्य में वर्णित समस्याएँ किस प्रकार की हैं ?
2. जैनेन्द्र कुमार अपने साहित्य में मनुष्य की स्थिति के लिए किसे कारणीभूत मानते हैं ?
3. फ्रायड के अनुसार रचनाकार को रचना की प्रेरणा कहाँ से मिलती है ?
4. स्वच्छन्दतावादी आलोचना का प्रणेता किसे माना जाता है ?
5. हिन्दी का पहला शोध-प्रबन्ध किसने प्रस्तुत किया ?

दीर्घोत्तरीय प्रश्न

1. प्रसादोत्तर नाटकों का परिचय दीजिए।
2. प्रेमचंदोत्तर कहानी साहित्य की जानकारी दीजिए।
3. शुक्लोत्तर आलोचना का वर्णन कीजिए।
4. शुक्लोत्तर निबन्ध तथा अन्य गद्य-विधाओं की जानकारी दीजिए।
5. प्रसादोत्तर एकांकी नाटकों का परिचय दीजिए।

5.2.8. सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

1. हिन्दी साहित्य का विश्लेणात्मक इतिहास, अवनीश
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास, डॉ॰ नगेन्द्र
3. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
4. हिन्दी का गद्य साहित्य, डॉ॰ रामचन्द्र तिवारी
5. आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास, डॉ॰ बच्चन सिंह

❖❖❖

खण्ड – 5 : छायावादोत्तर युग और स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी साहित्य

इकाई – 3 : नयी कविता, साठोत्तरी कविता आन्दोलन, समकालीन कविता, नवगीत, हिन्दी ग़ज़ल

इकाई की रूपरेखा

5.3.0. उद्देश्य कथन
5.3.1. प्रस्तावना
5.3.2. नयी कविता
5.3.3. साठोत्तरी कविता आन्दोलन
  5.3.3.1. निषेधात्मकता
  5.3.3.2. संघर्ष की प्रधानता
  5.3.3.3. आस्था की प्रधानता
5.3.4. समकालीन कविता
5.3.5. नवगीत
5.3.6. हिन्दी ग़ज़ल
5.3.7. पाठ-सार
5.3.8. अभ्यास-प्रश्न
5.3.9. सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

5.3.0. उद्देश्य कथन

प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. छायावादोत्तर तथा स्वातन्त्र्योत्तर युगीन हिन्दी साहित्य की काव्य-प्रवृत्तियों से परिचित हो सकेंगे।
ii. नयी कविता के बारे में जान सकेंगे।
iii. साठोत्तरी कविता आन्दोलनों के अन्तर्गत मुख्य काव्य-आन्दोलनों को समझ सकेंगे।
iv. समकालीन कविता का परिचय प्राप्त कर सकेंगे।
v. हिन्दी नवगीत तथा ग़ज़लों से अवगत हो सकेंगे।

5.3.1. प्रस्तावना

छायावाद के बाद हिन्दी साहित्य में व्यापक परिवर्तन आने लगा। बदलते परिवेश के कारण समय-समय पर रचनात्मक प्रवृत्तियों में भी परिवर्तन आया। प्रगति, प्रयोग, नयी कविता, समकालीन कविता, साठोत्तरी कविता आदि नयी काव्य-प्रवृत्तियाँ इसी समय विकसित हुईं। नये परिवेश के अनुरूप नये भाव और नये शिल्पों को ग्रहण करते हुए कवियों ने काव्य की नवीन पृष्ठभूमि पर कलम चलाई। नयी कविताएँ स्वतन्त्रता के उपरान्त लिखी गई कविताएँ हैं जिनमें स्वतन्त्रता मिलने के बाद कवियों ने नये भाव-बोध, नवीन मूल्य और नूतन शिल्प-विधान के

आधार पर काव्य-सृजन किया। नयी कविता के बाद भी काव्य-क्षेत्र में कई आन्दोलन उभरकर सामने आए। जिनमें नूतन कविता, समसामयिक कविता, युयुत्सावादी कविता, अकविता, अभिनव कविता, सहज कविता आदि। छायावाद के बाद हिन्दी साहित्य में प्रगतिवाद और प्रयोगवाद के बीच विचारधारा को लेकर विवाद गहराता गया। जिस पर प्रतिक्रिया देते हुए अज्ञेय ने 'दूसरा सप्तक की भूमिका' में प्रयोगवाद पर एक वैचारिक विश्लेषण प्रस्तुत कर प्रयोगवाद की आलोचना करने वालों को उत्तर दिया। आगे चलकर प्रगतिवादी और प्रयोगवादी रचनाओं का मिला-जुला रूप साहित्य में प्रस्तुत हुआ जिसे 'नयी कविता' के नाम से सम्बोधित किया गया। नयी कविता में बौद्धिक तत्त्व का संचार 'तारसप्तक' के माध्यम से हुआ।

तारसप्तक के प्रकाशन के बाद हिन्दी साहित्य में ऐसे भाव और संवेदनाएँ संचरित हुए जिसमें स्वतन्त्रता और साम्यवाद दोनों ही प्रकार की प्रवृत्तियाँ परस्पर संघर्ष करती रहीं। किन्तु विभिन्न विवादों के बावजूद प्रयोगवाद संघर्ष कर रही इन प्रवृत्तियों को अपने में समाहित कर नयी राह की ओर अग्रसर कर देता है। इन प्रवृत्तियों ने आपस में मिलकर एक नयी पृष्ठभूमि तैयार की। नयी कविता ने स्वतन्त्रता मिल जाने के बाद भारतीय समाज के यथार्थ की समाजसापेक्ष अभिव्यक्ति की। मात्र यही नहीं, बल्कि नयी कविता ने सत्य की अनुभूति के साथ-साथ अपने अनुभवों का बौद्धिक स्तर पर विश्लेषण भी किया। नयी कविता में प्रयोगवादी प्रवृत्तियों का गुणधर्म निहित है। प्रयोगवाद और नयी कविता दोनों प्रकार की रचनाओं में रोमांटिक मूल्यों का विरोध दिखाई देता है।

नयी कविता के बाद समकालीन कविताओं का दौर प्रारम्भ हुआ। समकालीन कविताओं में मनुष्य की इच्छा-आकांक्षा, सुख-दुःख आदि प्रत्येक प्रकार के भावों को अभिव्यक्ति मिली। समकालीन कविताओं ने सामाजिक जीवन की वास्तविकताओं को प्रस्तुत किया। वास्तविकता की प्रस्तुति के कारण समकालीन कविताओं में आक्रोश का भाव परिलक्षित होता है। इन कविताओं में जिन भावों की अभिव्यंजना हुई है वह पूर्णतः यथार्थ है। उसमें किसी प्रकार का लाग-लपेट अथवा कल्पना नहीं है। भारतीय जनमानस को स्वतन्त्र भारत से जो आशाएँ थीं, स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद उसकी पूर्ति नहीं होने के कारण जनता में एक प्रकार का मोहभंग भी हुआ। समकालीन कविताओं में यह मोहभंग भी दिखाई देता है।

समकालीन कविताओं के बाद नवगीत आन्दोलन का दौर शुरू हुआ। और कालान्तर में हिन्दी ग़ज़लें भी प्रतिष्ठित हुईं। प्रस्तुत अध्याय में हम छायावादोत्तरकालीन हिन्दी काव्य का विस्तार से अध्ययन करेंगे।

5.3.2. नयी कविता

भारतीय स्वतन्त्रता के उपरान्त बदले हुए परिवेश के अनुरूप नयी भाव-संवेदना, नये शिल्प-विधान के आधार पर जो काव्य रचे गए हिन्दी साहित्य में उसे 'नयी कविता' के नाम से जाना जाता है। कवियों ने इस पृष्ठभूमि में आकर वस्तु और शैली की दृष्टि से कई अनुसंधान किए। कुछ विद्वानों की यह मान्यता रही कि नयी कविता पूर्ववर्ती काव्य-प्रवृत्ति का विकसित रूप ही है। अज्ञेय किसी वाद के समर्थक नहीं थे। अतः आगे चलकर

अज्ञेय ने उक्त मान्यता को अस्वीकृत करते हुए 'दूसरा सप्तक की भूमिका' में विद्वानों द्वारा प्रयुक्त हो रहे प्रयोगवाद नाम का विरोध किया था। और उसी वर्ष जून के 'प्रतीक' के अंक में इस इस काव्य को 'नयी कविता' नाम देते हुए यह कहा कि, "मैं आग्रहपूर्वक यह कहना चाहता हूँ कि 'नयी कविता' की – जिसके लिए मुझे 'प्रयोगवादी' शब्द अपूर्ण, अव्यक्त और पूर्वाग्रह जान पड़ता है – मूल प्रवृत्तियाँ इस देश की हैं।" इस कथन के बाद प्रायः सभी कवियों ने अपने लेखन में 'नयी कविता' का नामोल्लेख किया। जिससे प्रयोगवादी अधिकांश कवियों का पदार्पण 'नयी कविता' में हो गया। जिससे यह मान्यता तो खारिज हो गई कि नयी कविता प्रयोगवाद के विरोध में विकसित होने वाली काव्य-प्रवृत्ति है। प्रयोगवाद के कई कवि नयी कविता के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान देकर 'नयी कविता' के सशक्त हस्ताक्षर के रूप में प्रतिष्ठित हुए। ऐसा होकर भी एक नयी प्रवृत्ति की दृष्टि से यह 'नयी कविता' एक विशिष्ट काव्यधारा रही। नयी कविता ने प्रयोगवाद को सन्तुलित और संवर्धित रूप प्रदान किया। प्रयोगवादी नितान्त बौद्धिकता और प्रयोगशीलता का व्यवस्थित सन्तुलन नयी कविता में परिलक्षित होता है। नयी कविता जीवन के प्रति आस्था का प्रतीक है। कवियों ने जीवन को पूर्णरूपेण सकारात्मकता के साथ उपभोग करने पर बल दिया। कवियों ने जीवन के प्रत्येक क्षण को पूर्ण महत्त्व देते हुए यह सन्देश दिया कि मनुष्य का जीवन क्षणों का ही संग्रह है। अतः उसके द्वारा भोगा जाने वाला प्रत्येक एक क्षण महत्त्वपूर्ण है, प्रेरणादायी है। हिन्दी साहित्य में सन् 1952 ई. के बाद की कविताएँ मोटे तौर पर 'नयी कविता' श्रेणी की कविताएँ हैं।

नयी कविता ने विषयों के साथ शिल्प की नवीनता को भी अपनाया। अपनी अभिव्यक्तियों के लिए नये प्रतीक, नये बिम्ब, नये भावों का आश्रय लिया। इसके अलावा छन्दों की आबद्धता को अस्वीकार करते हुए नयी कविता ने मुक्त छन्द को भी अपनाया। मनुष्य के अस्तित्व को महत्त्व देते हुए नयी कविता ने मनुष्य को उसके परिवेश के साथ प्रस्तुत किया। ऐसे में उसका समाज, उसका वर्ग, उसकी जाति आदि महत्त्वहीन हो गईं। समष्टि रूप से नयी कविता का अवलोकन करने पर ज्ञात होता है कि यह किसी वाद विशेष से प्रेरित काव्य-प्रवृत्ति नहीं है अपितु यह अनुभूतियों की नितान्त सापेक्षता का काव्य है। अर्थात् नयी कविता के केन्द्र में अनुभूतियों की वास्तविकता तथा बौद्धिक यथार्थ अति विशेष तत्त्व रहे हैं। ये दोनों तत्त्व फिर चाहे अल्पकालिक हों या फिर दीर्घकालिक, नयी कविता में दोनों समान रूप से प्रतिष्ठा पाते हैं। नयी कविता ने मनुष्य और समाज के बीच भेद का मूल्यांकन मात्र व्यक्ति और समाज के आधार पर न करते हुए उसे मूल्यों के आधार पर व्यक्त किया। नयी कविता में जीवन को समग्रता से देखने की दृष्टि है। वह जीवन को किसी तंग दृष्टिकोण से नहीं देखती। यही कारण है कि नयी कविता किसी वाद के घेरे में नहीं आ पाई।

नयी कविता में अनुभूतियों की सापेक्षता सबसे बड़ा गुणधर्म है। लेकिन यहाँ अनुभवों की सापेक्षता का गुण कवि के लिए महत्त्वपूर्ण माना गया। कवि समाज में व्याप्त विभिन्न समस्याओं का अनुभव जिस सशक्तता और सच्चाई के साथ ग्रहण करेगा उसी अनुपात में वह अनुभव उसके काव्य में व्यक्त हो सकेगा। अनुभूतियों और संवेदनाओं की यह सशक्तता ही उसकी रचना को व्यष्टिजन्य बनाती है। जिस प्रकार अज्ञेय 'अरी ओ करुणा प्रभामय' में कहते हैं –

चेहरे थे असंख्य, आँखें थीं,
दर्द सभी में था
जीवन का दंश सभी ने जाना था।
पर दो केवल दो
मेरे मन में कौंध गयीं।
क्यों ?
क्या उन में अतिरिक्त दर्द था
जो अतीत में मेरा परिचित कभी रहा,
या मुझ में कोई छायास्मृति जागी थी
जिस को मैं ने उन आँखों में पढ़ा
कि जैसे सदा दूसरों में हम
जाने-अनजाने केवल
अपने ही को पढ़ते हैं ?
मैं नहीं जानता किस की वे आँखें थीं,
नहीं समझता फिर उन को देखूँगा
परिचय मन ही मन चाहा हो, उद्यम कोई नहीं किया,
किन्तु उसी की कौंध
मुझे फिर-फिर दिखलाती है
चेहरे असंख्य, आँखें असंख्य,
जिन सब में दर्द भरा है
पर जिन को मैं पहले नहीं देख पाया था।
वही अपरिचित दो आँखें ही
चिर-माध्यम हैं सब आँखों से, सब दर्दों से
मेरे चिर-परिचय का।

नयी कविता में जीवन के क्षणों को महत्त्व देती हुई कई कविताएँ रची गईं, जिनमें जीवन के वे सभी भाव समाविष्ट हुए हैं जिन्हें मनुष्य भोगता आया है। यद्यपि ये कविताएँ छोटी-छोटी रहीं किन्तु इनका भाव-विस्तार बहुत व्यापक रहा जिसके केन्द्र में मनुष्य और उसका अस्तित्व रहा। कई विद्वानों ने नयी कविताओं पर अस्तित्व के प्रभाव को पश्चिमी विचारधारा से प्रेरित बताया। जो कुछ हद तक सही भी था लेकिन इससे भारतीय परिवेश भी अछूता नहीं रह पाया। नयी कविता में उद्धृत परिवेश भारतीय परिवेश ही है।

नयी कविता पर अस्तित्ववाद का प्रभाव था। अस्तित्ववाद अलौकिकता, आध्यात्मिकता, सामाजिक मूल्य, परम्परा, रूढ़ियाँ आदि के विपरीत केवल मनुष्य के अस्तित्व को महत्त्व देता है। अर्थात् अस्तित्ववाद का झुकाव अनास्थावादी दृष्टिकोण की ओर अधिक रहा। नये कवियों ने भी बदले परिवेश और तात्कालिक सामाजिक जीवन में व्याप्त खोखली परम्पराओं, धार्मिकता, अन्धविश्वास आदि के प्रति अनास्था व्यक्त की है। परम्परागत रूप से चली आ रही आस्थाओं, विश्वासों और मूल्यों के प्रति अनास्था का यही स्वर भारतभूषण

अग्रवाल, अशोक वाजपेयी, दुष्यंत कुमार की कविताओं में भी उभरकर सामने आया। धर्मवीर भारती 'अन्धायुग' में कहते हैं –

धर्म किसी ओर नहीं था। लेकिन !
सब ही थे अन्धी प्रवृत्तियों से परिचालित
जिसको तुम कहते हो प्रभु
उसने जब चाहा
मर्यादा को अपने ही हित में बदल लिया।
वंचक है।

अस्तित्ववादी मनुष्य पर यह बन्धन नहीं होता कि समाज में रहते हुए वह किस धर्म, जाति, सम्प्रदाय आदि का अनुसरण करे। इसके लिए उसे उसकी अभिरुचि के अनुसार चयन का अधिकार होता है। मनुष्य में चयन की यह स्वतन्त्रता ही उसे उसके अस्तित्व का बोध कराती है। किन्तु यह भी सत्य है कि मनुष्य का अस्तित्व चिरस्थायी नहीं है। समयानुसार उसमें परिवर्तन निश्चित ही होता है। ऐसी स्थिति में मनुष्य का वह क्षणिक अस्तित्वबोध ही उसके मन को दीर्घकाल तक गौरवान्वित करता रहता है। सार्त्र ने भी इसी क्षण विशेष को मनुष्य का विस्तार बताया है। नयी कविता में अस्तित्व के सन्दर्भ में इस क्षण विशेष की सार्थकता का परिचय देते हुए अज्ञेय कहते हैं –

एक क्षण : क्षण में प्रवहमान व्याप्त सम्पूर्णता।
इस से कदापि बड़ा नहीं था महाम्बुधि जो पिया था अगस्त्य ने।
एक क्षण। होने का, अस्तित्व का अजस्र अद्वितीय क्षण !
होने के सत्य का, सत्य के साक्षात् का, साक्षात् के क्षण का –
क्षण के अखण्ड पारावार का
आज हम आचमन करते हैं।

नयी कविता में व्यक्तिवाद को प्रोत्साहन मिला है। व्यक्ति का सम्बन्ध स्वच्छन्दता से होने के कारण नये कवियों ने अपने आपको समाज की मुख्यधारा से भिन्न रखा। और समाज के साथ चलने अथवा उनके विकास में प्रत्यक्ष योगदान देने की बजाय उनका मार्ग प्रशस्त करने पर जोर दिया। अज्ञेय की कविता 'नदी के द्वीप' में यही मार्गदर्शन का भाव परिलक्षित हुआ है।

किन्तु हम हैं द्वीप। हम धारा नहीं हैं।
स्थिर समर्पण है हमारा। हम सदा से द्वीप हैं स्रोतस्विनी के।
किन्तु हम बहते नहीं हैं। क्योंकि बहना रेत होना है।
हम बहेंगे तो रहेंगे ही नहीं।
पैर उखड़ेंगे। प्लवन होगा। ढहेंगे। सहेंगे। बह जाएँगे।

और फिर हम चूर्ण होकर भी कभी क्या धार बन सकते?

रेत बनकर हम सलिल को तनिक गँदला ही करेंगे ।
अनुपयोगी ही बनाएँगे ।

नयी कविता में मनुष्य की दुःख, वेदना, पीड़ा, अवसाद आदि भावों को भी अभिव्यक्त किया गया है। पीड़ा की अभिव्यक्ति के माध्यम से कवियों ने यह सन्देश दिया कि पीड़ा मनुष्य जीवन का अनिवार्य अंग है। इसे सहन करना और इसका वहन करना हमारी नियति है। अर्थात् नये कवियों ने कई जगह जीवन के इस पक्ष को सार्त्र की ही तरह समूचे जीवन का सत्य मानकर मनुष्य के मुक्ति मार्ग के रूप में प्रस्तुत किया। लेकिन यह पक्ष जीवन को गति देने के स्थान पर उसे अवरुद्ध करता है।

नयी कविता प्रगतिवाद के प्रभाव के अनुरूप सामान्य लोकजीवन के करीब पहुँचने के लिए सतत प्रयासरत रही। इस उद्देश्य में ये कविताएँ बहुत सफल भी रहीं। नयी कविता में प्रायः लोकजीवन के विविध पक्ष, प्रकृति चिन्तन, सौन्दर्य बोध, प्रतीक, बिम्ब आदि के माध्यम से लोकजीवन से अपना सामंजस्य बनाती रही। काव्य-शैली की दृष्टि से नयी कविता में व्यंग्य और वक्रोक्ति शैली का भी व्यापक उपयोग हुआ है। इसके प्रयोग से जनमानस को व्यवस्था अथवा सत्तारूढ़ शक्तियों के प्रतिकार के लिए सम्बल मिला। संक्षेप में कहा जा सकता है कि नयी कविता में भारतीय जनमानस की अनास्था, पीड़ा, मनुष्य जीवन की कुण्ठा, अवसाद, संत्रास आदि मनोभाव पूरी अर्थवत्ता के साथ उद्धृत हुए हैं। अपनी प्रवृत्ति के कारण यह जीवन के बने बनाए ढर्रे पर चलना पसंद नहीं करती अपितु नित नये मार्ग के अनुसंधान के लिए प्रेरित करती है। नयी कविता की समृद्धि में अज्ञेय, मुक्तिबोध, गिरिजाकुमार माथुर, धर्मवीर भारती, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, शमशेर बहादुर सिंह, भवानीप्रसाद मिश्र आदि कई कवियों ने अपना अमूल्य योगदान दिया है।

5.3.3. साठोत्तरी कविता आन्दोलन

पूर्ववर्ती काव्य-प्रवृत्तियों से भिन्न साठोत्तरी कविताएँ सन् 1960 के बाद भारतीय परिवेश में हुए परिवर्तनों की अभिव्यक्ति हैं। जैसे-जैसे समय बदलता गया वैसे-वैसे काव्य-प्रवृत्तियों ने भी बदली हुई परिस्थितियों के अनुकूल अपने दायित्व का निर्वहन किया। साठोत्तरी कविता में विद्रोह का स्वर प्रखर हुआ। कवियों ने नयी संवेदनाओं, नयी काव्यवस्तु के साथ कविता के क्षेत्र में पदार्पण किया जिनमें युवा कवियों की संख्या अधिकथी। साठोत्तरी कविताओं की चेतना युवा कवियों की काव्य-चेतना के अधिक निकट होने से साठोत्तरी काव्य को 'युवा काव्य' भी कहा गया। काव्य में स्पष्टोक्ति, सत्ता और व्यवस्था के प्रति विरोध, आक्रोशजन्य भाषा-शैली, राजनीति में रुचि, संवेदनाओं और अनुभूतियों में सशक्तता साठोत्तरी काव्य की विशेषता रही। साठोत्तरी कविता का विकास इस दौरान हुए विभिन्न काव्यान्दोलनों के माध्यम से हुआ। इन काव्यान्दोलनों का आरम्भ सन् 1962 के सनातन 'सूर्योदयी कविता आन्दोलन' से सन् 1972 ई. के 'विचार कविता आन्दोलन' तक के इन दस वर्षों की अवधि में लगभग पचास के आसपास विभिन्न तरह के काव्य-आन्दोलन हुए जिसमें अपरम्परावादी कविता, सीमांतक कविता, युयुत्सावादी कविता, अकविता, सकविता, अन्यथावादी कविता, विद्रोही कविता, कबीरपंथी कविता, समाहारात्मक कविता, अभिनव कविता, अधुनातन कविता, नाटकीय कविता, एंटी कविता, एब्सर्ड कविता,

नवप्रगीतवादी कविता आदि कई काव्य-आन्दोलनों का उल्लेख किया जाता है। इनमें से अधिकांश आन्दोलन प्रारम्भ होते ही समाप्त हो गए। साठोत्तरी कविता आन्दोलन के मूल में मुख्यतः तीन प्रकार की प्रवृत्तियाँ थीं – (i) निषेधात्मक कविता, (ii) संघर्ष प्रधान कविता और (iii) आस्था प्रधान कविता।

5.3.3.1. निषेधात्मकता

निषेधात्मक कविता में पारम्परिक मूल्यों को त्यागकर उसके स्थान पर नितान्त भोगवाद को प्रतिष्ठापित किया गया। कवियों ने इसकी प्रेरणा मूलतः द्वितीय विश्वयुद्ध के समापन के बाद साहित्य में उभरे निषेधात्मक प्रवृत्तियों से ली जिसका सूत्रपात अमेरिका और यूरोप में हुआ था। इन आन्दोलनों ने परम्परा, रूढ़ि, नैतिक मूल्य, सामाजिक आदर्श आदि का निषेध किया। अकविता, विद्रोही कविता, अभिनव कविता आदि निषेधात्मक काव्य की श्रेणी में आते हैं। नयी कविता से प्रेरित 'अभिनव कविता' का सूत्रपात सन् 1963 ई. में चौदह कवियों के काव्य-संग्रह 'प्रारम्भ' के प्रकाशन से माना जाता है। जिसका सम्पादन जगदीश चतुर्वेदी ने किया था। यद्यपि 'अभिनव कविता' नयी कविता का प्रतिकार नहीं थी किन्तु वे नयी कविता की नवीन उपलब्धियों का श्रेय पाना चाहते थे। जिसमें असफलता मिलने के कारण जगदीश चतुर्वेदी ने सन् 1964 ई. रमेश कुंतल मेघ और डॉ॰ इन्द्रनाथ मदान द्वारा सम्पादित 'अभिव्यक्ति' में नयी कविता का तीव्र विरोध किया और 'अभिनव कविता' को 'अकविता' अथवा 'एंटी पोएट्री' कहकर सम्बोधित किया। इस नाम के पीछे उन्हें 'अभिनव कविता' के श्रेय के लिए मिली असफलता कारणीभूत थी। परिणामतः अकविता काव्य में उन्होंने नयी कविता की बहुत आलोचना की। नयी कविता के प्रति असन्तोष जताते हुए जगदीश चतुर्वेदी ने 'अभिव्यक्ति' में नये विचारों और आधुनिकता से प्रभावित काव्यधारा की बात की। अकविता आन्दोलन में स्त्री और पुरुष के निजी सम्बन्धों के प्रति नया दृष्टिकोण दिखाई देता है। अपनी यौन विकृतियों का परिचय देते हुए कवियों ने स्त्री के अंगों और कामुक प्रसंगों को अपने काव्य में स्थान दिया। जगदीश चतुर्वेदी की कविताओं में यौन विकृतियों का प्रमाण अधिक रहा। स्त्रियों के प्रति उनका दृष्टिकोण भी बहुत नग्नतापूर्ण रहा। सामाजिक दायित्व से पलायन अथवा निषेध जताते हुए कवियों ने प्रेम के प्रति नग्न भाषा प्रयुक्त की। अस्वाभाविक कामेच्छा का प्रदर्शन करते हुए अपनी काम-वासना की पूर्ति के लिए इन कवियों अप्राकृतिक यौन सम्बन्धों को भी योग्य माना। इनका काव्य अश्लील, नग्न और निर्लज्जतापूर्ण रहा। अकविता आन्दोलन साठोत्तरी दौर का सबसे चर्चित काव्य-आन्दोलन रहा। यौन-सुख की प्रधानता, परम्परागत नीति-मूल्यों का तिरस्कार अथवा निषेध, भोगवाद को महत्त्व, मानवता का नाश और स्वयं के प्रति आत्मघाती विचारधारा, कविता के प्रति द्वेषपूर्ण भावना आदि अकविता के मूल स्वर रहे। कुल मिलाकर अकविता काम-कुण्ठाओं और वासनापूर्ति की कविता रही। जगदीश चतुर्वेदी, श्याम परमार, कैलाश वाजपेयी, गंगाप्रसाद विमल आदि कवियों ने अकविता काव्य-प्रवृत्ति का समर्थन किया। इलाहाबाद में सत्तर के दशक के आरम्भिक दौर में 'विद्रोही पीढ़ी' नाम से कुल सात कवियों का एक काव्य-संग्रह प्रकाशित हुआ था। इस काव्य-संग्रह में कवियों की यौन विकृतियों के साथ-साथ विद्रोही भाव जैसे परस्पर विरोधी भावों का संकलन था।

5.3.3.2. संघर्ष की प्रधानता

संघर्षप्रधान कविता को 'वाम कविता' के नाम से भी जाना जाता है। यह काव्य-प्रवृत्ति 'अकविता कविता' की प्रवृत्तियों के विपरीत समाज के प्रति अपने दायित्वों के निर्वाह के लिए प्रेरित करती है। संघर्षप्रधान कविता व्यष्टि नहीं बल्कि समष्टि-चेतना के स्वर को मुखर करती है। समाज में व्याप्त भ्रष्टाचार, शोषण-नीति, भेदभाव, अन्याय आदि के विरुद्ध इन कविताओं में तीव्र प्रतिक्रिया दिखाई देती है। युयुत्सावादी कविता, जनवादी कविता, नवप्रगीतवादी कविता आदि संघर्षप्रधान कविता-आन्दोलन के उदाहरण हैं। संघर्षप्रधान होने के कारण इसमें मार्क्सवाद का भी प्रभाव रहा। युयुत्सावादी कविता संघर्षप्रधान कविता-आन्दोलन की प्रमुख प्रवृत्ति रही। युयुत्सा का अर्थ होता है 'युद्ध की प्रबल अभिलाषा' अथवा 'लड़ने की प्रबल इच्छा'। इसका सूत्रपात कलकत्ता से प्रकाशित पत्रिका 'युयुत्सा' के द्वारा हुआ जो सन् 1965 ई. में प्रकाशित हुई थी। शलभ श्री रामसिंह इस काव्य-आन्दोलन के प्रणेता रहे। युयुत्सावादियों ने युयुत्सा प्रवृत्तियों को काव्य की मूल प्रेरणा माना। कवियों के काव्य का विद्रोह उसके चिन्तन के स्तर पर था। कवियों ने अपनी कविताओं को भावी पीढ़ी के लिए मार्गदर्शक बताकर एक नयी प्रवृत्ति को विकसित करने का प्रयास किया था। कालान्तर में 'रूपाम्बरा' पत्रिका के अगस्त 1966 के अंक में 'अधुनातन कविता' को युयुत्सा कविता का ही एक रूप बताकर इस आन्दोलन को विकसित करने का प्रयास किया गया।

युयुत्सावादी कविताओं ने अनायास साहित्य लेखन और साहित्य के निष्प्रयोजन लेखन परिमाण का विरोध किया। इस विषय में धूमिल की कविता उल्लेखनीय है –

> कविता में जाने से पहले
> मैं आपसे पूछता हूँ
> जब इससे न चोली बन सकती है
> न चोगा
> तो आप कहो
> इस ससुरी कविता को
> जंगल से जनता तक
> ढोने से क्या होगा ?

इसके साथ ही युयुत्सावादी कविताओं ने संस्कृति को प्रभावित कर नष्ट करने वाली पश्चिमी सभ्यता, काम-कुण्ठा, पलायनवाद जैसी प्रवृत्तियों का भरसक विरोध किया। इन कविताओं में तात्कालिक समाज और शासन-व्यवस्था में निहित दोषों का बराबर चित्रण होता रहा। काव्य में क्रान्ति की प्रबल आकांक्षा और उसकी सफलता के प्रति आश्वास्तिभाव आदि संघर्षप्रधान काव्य-आन्दोलन के मुख्य तत्त्व थे। इस संघर्षप्रधान काव्य-आन्दोलन में 'नव प्रगतिशील कविता और 'प्रतिश्रुत पीढ़ी' का भी योगदान रहा। इस प्रकार संघर्ष-प्रधान काव्य-आन्दोलन को बढ़ाने में चंद्रमौली उपाध्याय, धूमिल, हरिहर द्विवेदी, राजीव सक्सैना, आनन्द सोनवलकर आदि कवियों ने अपना योगदान दिया।

5.3.3.3. आस्था की प्रधानता

साठोत्तरी दौर में कई ऐसे भी काव्यान्दोलन हुए जिन्होंने परवर्ती काव्य-विचारधारा और प्रवृत्तियों के प्रति विरोध जताते हुए जनमानस के बीच आस्थाजन्य-विचारधारा का संचार किया। इस सन्दर्भ में सनातनी सूर्योदयी कविता, सहज कविता, विचार कविता आन्दोलन महत्त्वपूर्ण रहे। सन् 1962 ई. में वीरेन्द्र कुमार जैन द्वारा प्रवर्तित सनातनी सूर्योदयी काव्य-आन्दोलन की कविताओं में भविष्य के प्रति आग्रह रहा। इनकी मान्यता थी कि वर्तमान में लिखी जा रही कविताओं के पतन अथवा विनाश का कारण है उसमें 'ईश्वर के प्रति अनास्था का गुणधर्म'। 'भारत भारती' पत्रिका के मार्च 1962 के अंक में इस काव्य-आन्दोलन के सन्दर्भ में कहा गया कि "(कविता) पतन-पराजय, कुण्ठा, आत्मपीड़ना और जीवित आत्मघात के असूझ अन्धकार में आत्महारा दिशाहारा होकर भटक रही आज की अनाथ काव्य-चेतना के सम्मुख हम – अल्प से महत् में ले जाने वाली, अन्धकार से प्रकाश में ले जाने वाली, मृत्यु से अमृत में ले जाने वाली और सीमा में असीम की लीला को उतार लाने वाली – आगामी कल की अनिवार्य सनातन सूर्योदयी नूतन कविता धारा का द्वार मुक्त करते हैं।" कथन से स्पष्ट है कि प्रयोगवादी और नयी कविता में अहम, अनास्था, स्वच्छन्दता, भोग की प्रवृत्तियों को बढ़ावा मिला जिसके फलस्वरूप भारतीय समाज और संस्कृति, परम्परा, नैतिक मूल्य आदि पर खतरा मंडराने लगा था। अतः स्वस्थ समाज की प्रवृत्तियों को ठेस पहुँचाने वाले काव्यान्दोलनों के विरुद्ध सनातनी सूर्योदयी कविता-आन्दोलन का सूत्रपात हुआ था। किन्तु अन्य कविता आन्दोलनों की तरह ही सनातनी सूर्योदयी कविता आन्दोलन का हश्र हुआ। संगठन-शक्ति और वांछित प्रचार के अभाव में यह काव्य-आन्दोलन भी विलुप्त हो गया।

कुछ वर्षों बाद सनातनी सूर्योदयी काव्य-आन्दोलन की ही तर्ज पर सन् 1967 ई. में 'सहज कविता' आन्दोलन का सूत्रपात हुआ जिसका प्रवर्तन डॉ० रवीन्द्र भ्रमर ने किया। पूर्ववर्ती काव्यों के विरोध में सहज कविता आन्दोलन ने कविता की पुनः पड़ताल की। सहज कविता समाज के प्रति सापेक्षता की समर्थक थी। जिस प्रकार पूर्व में हुए काव्य-आन्दोलनों ने आधुनिकता का अंधानुकरण कर सामाजिक, नैतिक, धार्मिक आदि मूल्यों को क्षति पहुँचाई, उसके विपरीत सहज कविता ने आधुनिकता की तो हिमायत की किन्तु इसकी आड़ में जो अनास्था, दिशाहीनता और उच्छृंखलता की असामाजिक प्रवृत्तियाँ सक्रिय थीं, उनका स्पष्ट विरोध किया।

डॉ० महीप सिंह और डॉ० नरेन्द्र मोहन द्वारा जून 1973 में सम्पादित 'संचेतना' पत्रिका के विशेषांक 'विचार कविता' ने एक नये काव्यान्दोलन को जन्म दिया जिसे इसी नाम से पुकारा गया। इस कविता आन्दोलन का उद्देश्य भी आस्थावादी काव्यों की तरह एक स्वस्थ और सन्तुलित समाज और संस्कृति का निर्माण था। इन काव्यान्दोलनों के अलावा भी साठोत्तरी दौर में कई काव्य-आन्दोलन हुए। जिनके अध्ययन से स्पष्ट होता है कि अधिकांश काव्य-आन्दोलन कवियों की व्यक्तिगत प्रतिष्ठा और रुचि के कारण उभरे थे। किन्तु रचना अथवा वैचारिक दुर्बलता और एकांगी विचारधारा के अतिरेक के कारण ये अनेक काव्य-आन्दोलन उभरते और नष्ट होते रहे। इनमें दीर्घकालिकता का अभाव रहा। किन्तु यह निश्चित है कि इस एक दशक में जितने भी काव्य-आन्दोलन हुए उनके मूल में कहीं न कहीं व्यक्तिगत अनुभूतियों की प्रेरणा कारणीभूत रही।

5.3.4. समकालीन कविता

'समकालीन' शब्द अंग्रेज़ी के 'Contemporary' का हिन्दी पर्यायी शब्द है जिसका अर्थ होता है 'एक समान समय वाला'। इसके नामकरण को लेकर डॉ॰ विश्वम्भरनाथ उपाध्याय ने कहा है कि, "समकालीन शब्द का प्रयोग मैंने पहले अनजाने में भले ही किया हो पर सचेत रूप में तो सप्तम दशक में ही किया, क्योंकि मेरा ध्यान 'Contemporary' था और यह कि 'Modern' शब्द अनेकार्थ तथा सन्देहास्पद हो गया था।" स्पष्ट है कि यहाँ उपाध्याय जी 'आधुनिक' शब्द का इस्तेमाल करना चाहते थे किन्तु 'आधुनिक' शब्द में कई अन्य अर्थ और भाव समा चुके थे जैसे स्वच्छन्दता, वैयक्तिकता, प्रयोगवाद, प्रगतिवाद, मार्क्सवाद, समन्वयवाद आदि जो किसी अन्य अर्थ का बोध कराते थे और उपाध्याय जी इन सभी भावों से भिन्न सामाजिक परिवर्तन का अर्थबोध कराने वाली कविता को प्रस्तुत करना चाहते थे। ऐसे में उन्हें 'आधुनिक' के स्थान पर 'समकालीन' शब्द अधिक उपयुक्त प्रतीत हुआ जो समाजोत्थान के साथ लोकमंगल और समाज के लिए सापेक्षिक संघर्ष की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करता है।

समकालीन कविता विभिन्न काव्य-आन्दोलनों की ही तरह एक काव्य-आन्दोलन के रूप में सामने आया जिसमें वैचारिकता इसका प्रधान गुण रहा। इस काव्य-आन्दोलन के प्रवर्तन का श्रेय डॉ॰ विश्वम्भरनाथ उपाध्याय को जाता है जिन्होंने सन् 1963 ई. में 'समकालीन कविता की भूमिका' नामक पुस्तक लिखकर इस काव्य-आन्दोलन का सूत्रपात किया। इस काव्य-आन्दोलन की विशेष बात यह थी कि इसमें नये और पुराने कवियों का योगदान रहा। इस काव्य-आन्दोलन के अन्तर्गत अकविता आन्दोलन के कवियों के साथ-साथ संघर्षप्रधान कविता-आन्दोलन और आस्थावादी कवियों की कविताएँ भी आती हैं। अर्थात् इसमें दो परस्पर विरोधी काव्य-प्रवृत्तियाँ एक साथ आईं। जगदीश चतुर्वेदी, श्याम परमार के साथ-साथ सुदामा पाण्डेय 'धूमिल', पारसनाथ सिंह जैसे संघर्षवादी कवियों के काव्य सम्मिलित हुए हैं। नये और पुराने, परस्पर विरोधी काव्य-प्रवृत्ति वाले कवियों का यहाँ समन्वय दिखाई देता है।

समकालीन कविता में वर्तमान में घटित होने वाली स्थिति का निरपेक्ष प्रस्तुतीकरण करना अपेक्षित रहा है। इसमें असन्तोष और विरोध के स्वर अधिक होने से यहाँ समरसता, समन्वय तथा सांस्कृतिक तत्त्व कम ही प्राप्त होते हैं। यहाँ सीधा-सीधा द्वन्द्व है, विद्रोह है। इस तरह समकालीन कविता में पूर्ववर्ती संघर्ष और आस्थावादी सभी प्रकार की कविताएँ दृष्टिगोचर होती हैं। विचार-प्रधानता के गुणधर्म के कारण कई विद्वान् समकालीन कविता आन्दोलन को 'विचार कविता आन्दोलन' से ही उद्भूत मानते हैं। किन्तु गहराई से अध्ययन करने से पता चलता है कि समकालीन कविता की बुनियाद आक्रोश, विरोध और संघर्षजन्य भावों का आधार लेकर खड़ी हुई। अपने समकालीन परिवेश के प्रति असन्तोष, बेचैनी, व्याकुलता, परिस्थितिजन्य तनाव, भावों की अभिव्यक्ति के लिए शाब्दिक असमर्थता के कारण सपाटबयानी ने एक नये प्रकार की काव्य-प्रवृत्ति को जन्म दिया। इसमें किसी पाश्चात्य विचारधारा का प्रभाव परिलक्षित नहीं होता। पूर्णतः भारतीय परिवेश में जन्मी, पली-बढ़ी और विकसित हुई यह काव्यधारा भारतीय समाज और संस्कृति के साथ अतीत की वास्तविकताओं का प्रस्तुतीकरण है।

5.3.5. नवगीत

साठोत्तरी कविता आन्दोलन में नवगीत आन्दोलन का भी अपना महत्त्व रहा है। इस काव्य-अन्दोलन को स्थापित करने का श्रेय डॉ॰ शंभुनाथ सिंह को दिया जाता है। जिन्होंने 'नवगीत दशक' नाम से नये और पुराने कुल तीस गीतकारों के गीतों को मिलाकर तीन संकलन सम्पादित किए। नवगीतों में पूर्ववर्ती और नयी कविता, समकालीन काव्य-परम्परा में निहित भाव और शिल्प से भिन्नता दर्शाती है। नवगीत आधुनिकता से प्रेरित तो है किन्तु यह आधुनिकता को चिरस्थायी नहीं मानता। नवगीतों में लोकसंसक्ति का भाव विद्यमान है इस अर्थ में यह भारतीय सभ्यता और संस्कृति का आख्यान करने वाला काव्य है।

हिन्दी साहित्य में नवगीतों का प्रादुर्भाव सन् 1935 ई. में ही हो गया था। सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' और माखनलाल चतुर्वेदी के काव्य में नवगीतों का गुणधर्म दिखाई दे जाता है। निराला की कई ऐसी कविताएँ हैं जिन्हें न तो छायावादी कहा जा सकता है और न ही उसमें पूर्व काव्य-परम्परा का निर्वाह दिखाई देता है। इसमें कवि ने जिन भावों और संवेदनाओं का सन्निवेश किया है वे नवगीत परम्परा के बहुत निकट हैं। 'निराला' द्वारा मुक्त छन्द में लिखी गई कविता 'वह तोड़ती पत्थर' में कवि की लोकसंसक्ति भावना परिलक्षित हुई है। जिसका सीधा सम्बन्ध नवगीत परम्परा से रहा है।

वह तोड़ती पत्थर;
देखा मैंने उसे इलाहाबाद के पथ पर –
वह तोड़ती पत्थर।

कोई न छायादार
पेड़ वह जिसके तले बैठी हुई स्वीकार;
श्याम तन, भर बँधा यौवन,
नत नयन, प्रिय-कर्म-रत मन,
गुरु हथौड़ा हाथ,
करती बार-बार प्रहार –
सामने तरु-मालिका अट्टालिका, प्राकार।

चढ़ रही थी धूप;
गर्मियों के दिन,
दिवा का तमतमाता रूप;
उठी झुलसाती हुई लू
रुई ज्यों जलती हुई भू,
गर्द चिनगीं छा गई,
प्रायः हुई दुपहर –
वह तोड़ती पत्थर।

निराला की अधिकांश कविताओं में नवगीत काव्य-परम्परा का निर्वहन हुआ है। आगे चलकर पन्त की 'ग्राम्या', माखनलाल चतुर्वेदी की 'कैदी और कोकिला' में भी लोकसंसक्ति भाव दिखाई देता है। इस शृंखला में रामधारी सिंह 'दिनकर', रामविलास शर्मा, गिरिजाकुमार माथुर, अज्ञेय, रांगेय राघव, केदारनाथ अग्रवाल, नागार्जुन, त्रिलोचन आदि कवियों ने इस काव्य-प्रवृत्ति को विकसित किया। लेकिन स्वतन्त्रता के उपरान्त नवगीतों की आलोचना होने लगी। बदले परिवेश के अनुरूप कई अन्य काव्य-आन्दोलन उभर रहे थे, परिणामतः नवगीत काव्य ने भी नयेपन को स्वीकार कर यथार्थाभिव्यक्ति के सन्दर्भ में समयानुकूल अपने गीतों में समन्वय स्थापित किया जो नयी कविता से सम्बन्धित रहे। सौन्दर्य के उपभोग की बात करते हुए नवगीतों ने सौन्दर्य के प्रति छायावादी दृष्टिकोण को नहीं अपनाया जिसमें काल्पनिकता का अन्तर्भाव अधिक था। आधुनिकता के प्रभाव से विकसित होते उद्योग धंधों के कारण मनुष्य समाज में एक प्रकार के समायोजन और निर्वासन की स्थिति उत्पन्न हुई। जिसके कारण भारतीय परम्परा और संस्कृति को बहुत क्षति पहुँची। अतः नवगीतों में महानगरीय संत्रास बोध भी है। इस सन्दर्भ में भूपेन्द्र कुमार स्नेही लिखते हैं –

भागती हुई ज़िन्दगी का, हर भोग हुआ क्षण।
एक नया उपक्रम है, स्वयं से टूटने का॥

नवगीतकारों ने औद्योगीकरण के कारण प्रभावित होती मानव जीवन की संवेदनाओं को अपने गीतों में अभिव्यक्त किया है। अपने लोकसंसक्ति भाव के कारण नवगीतों में समाज में निम्न कहे जाने वाले तबके जैसे श्रमिक, कृषक आदि के संघर्ष और मानवजन्य पीड़ा की अभिव्यक्ति हुई है। यथार्थ चित्रण के कारण इसमें रोमांस अथवा काल्पनिकता का अभाव रहा। इसके अतिरिक्त स्त्री वर्ग के प्रति सहानुभूति, सामाजिक जीवन में व्याप्त विकृति, सत्ता और व्यवस्था के प्रति विरोध और विद्रोह की भावना, पश्चिमी अवधारणाओं की खिलाफ़त, शिल्प और शैलीगत विशेषता आदि नवगीतों की महत्त्वपूर्ण तत्त्व रहे। उपर्युक्त नवगीतकारों के अलावा शमशेर बहादुर सिंह, वीरेन्द्र मिश्र, दुष्यंत कुमार, रमेश रंजक, बालस्वरूप राही, जगदीश श्रीवास्तव, रमानाथ अवस्थी आदि कई गीतकारों ने नवगीत परम्परा में अपना योगदान दिया है।

5.3.6. हिन्दी ग़ज़ल

साठोत्तरी कविता आन्दोलनों के दौरान हिन्दी ग़ज़लों को बहुत प्रसिद्धि मिली। जिसके लिए दुष्यन्त कुमार के ग़ज़ल संग्रह 'साए में धूप' का नाम विशेष उल्लेखनीय है। जिससे प्रभावित होकर कई अन्य कवियों ने भी ग़ज़लों का लेखन किया। शमशेर बहादुर सिंह, बलबीर सिंह रंग, चंद्रसेन विराट जैसे अन्य रचनाकारों ने ग़ज़लों को लोकप्रिय बनाने में योगदान दिया। दुष्यन्त कुमार की ग़ज़लों ने ग़ज़लों के प्रति पूर्वाग्रह को पूरी तरह से बदल डाला। इनकी ग़ज़लों में सत्य की सहज अभिव्यक्ति के साथ युग चेतना का प्रभाव स्पष्ट तौर पर दिखाई देता है। यह पहली बार हुआ था कि ग़ज़लों ने निजत्व की दहलीज लाँघकर अपने को समाज के व्यापक दायरे में समाविष्ट किया था। उदाहरण के लिए दुष्यन्त कुमार की प्रसिद्ध ग़ज़ल प्रस्तुत है –

कहाँ तो तय था चराग़ाँ हर एक घर के लिये
कहाँ चराग़ मयस्सर नहीं शहर के लिये

यहाँ दरख़्तों के साये में धूप लगती है
चलो यहाँ से चलें और उम्र भर के लिये

न हो क़मीज़ तो घुटनों से पेट ढक लेंगे
ये लोग कितने मुनासिब हैं इस सफ़र के लिये

ख़ुदा नहीं न सही आदमी का ख़्वाब सही
कोई हसीन नज़ारा तो है नज़र के लिये।

वो मुतमइन हैं कि पत्थर पिघल नहीं सकता
मैं बेक़रार हूँ आवाज़ में असर के लिये

जियें तो अपने बग़ीचे में गुलमोहर के तले
मरें तो ग़ैर की गलियों में गुलमोहर के लिये।

तात्कालिक सामाजिक व्यवस्था और सत्ता के प्रति विद्रोह जताते हुए शमशेर बहादुर की प्रसिद्ध ग़ज़ल प्रस्तुत है–

जहां में अब तो जितने रोज अपना जीना होना है,
तुम्हारी चोटें होनी हैं, हमारा सीना होना है।

वो जल्वे लोटते फिरते हैं खाको-खूने-इन्सां में
तुम्हारा तूर पर जाना, मगर नाबीना होना है।

कदमरंजा है सूए-बाम एक शोखी कयामत की;
मेरे खूने-हिना-परवर से रंगो जीना होना है!

वो कल आएँगे वादे पर मगर कल देखिए कब हो!
गलत फिर, हजरते-दिल आपका तख्मीना होना है।

बस ए शमशेर, चल कर अब कहीं उजलतगर्जी हो जा
कि हर शीशे को महफिल में गदाए मीना होना है।

भाषायी दृष्टि से ग़ज़लकारों ने हिन्दी, उर्दू, फ़ारसी शब्दावली का उन्मुक्त होकर उपयोग किया। डॉ० नगेन्द्र ने हिन्दी ग़ज़लों को अपनी पहचान बनाने के लिए अन्य भाषा की शब्दावलियों तथा हिन्दी के तत्सम शब्दावलियों के प्रयोग को अनुपयुक्त माना। वे ग़ज़लों के लिए तद्‌भव अथवा प्रचलित तत्सम शब्दों से सम्बन्धित भाषा के प्रवाही रूप को उचित मानते हैं। बहरहाल ग़ज़लों के क्षेत्र में कुँवर बेचैन का ग़ज़ल-संग्रह

'शामियानेकाकरे', ज्ञानप्रकाश का 'धूप के हस्ताक्षर', माधव मधुकर मिश्र का 'सूर्य का सवाल' और रामदरश मिश्र का 'बाज़ार को निकलते हैं लोग' आदि उल्लेखनीय ग़ज़ल संग्रह हैं।

5.3.7. पाठ-सार

छायावादोत्तर एवं स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी साहित्य में नयी कविता के साथ-साथ साठोत्तरी दौर के विभिन्न काव्य-आन्दोलनों का सूत्रपात हुआ। आधुनिक परिप्रेक्ष्य को ग्रहण करते हुए प्रायः प्रत्येक काव्य-आन्दोलन अपनी विशिष्ट अवधारणा को प्रस्तुत कर उसकी मान्यता के लिए अपने समय को प्रेरित करता रहा। बदलते परिवेश के कारण बदलती भावभूमि ने काव्य की पृष्ठभूमि में सतत परिवर्तनों को अपनाया। किसी काव्य आन्दोलन ने स्वच्छन्दतावाद को अपनाया तो किसी ने आध्यात्मिकता को। किसी ने व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को मान्यता दी तो किसी ने काव्य को समाज के प्रति उसकी जिम्मेदारी से अवगत कराया। अकविता आन्दोलन अथवा विद्रोही कविता आन्दोलन में तो कवियों ने निजता के नाम पर नितान्त यौनिकता को बढ़ावा देकर अश्लीलता तक को प्रोत्साहन दे डाला। इन सभी आन्दोलनों का अवलोकन करने से स्पष्ट होता है कि प्रायः प्रत्येक आन्दोलन किसी न किसी असन्तोष के कारण अपने को प्रतिष्ठा दिलाने के उद्देश्य से उभरा। सन् 1960 ई. से सन् 1970 ई. के बीच ही लगभग पचास के करीब काव्य-आन्दोलन हुए और विलुप्त हो गए। इनमें से जिनके पास वैचारिक आधार था वही काव्य आन्दोलन कुछ समय तक टिक पाए। किन्तु सार्वभौमिकता के अभाव के कारण किसी भी काव्य-आन्दोलन में प्रासंगिकता स्थापित नहीं हो पाई। अतः कहा जा सकता है कि संवेदनाएँ समय के साथ-साथ परिवर्तित होती रहती हैं। उनका स्थायी बने रहना उसकी अनुभूति की सापेक्षता और समयानुसार भाव-परिवर्तन पर निर्भर करता है।

5.3.8. अभ्यास-प्रश्न

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. अज्ञेय ने हिन्दी की किस पत्रिका में 'नयी कविता' का नामोल्लेख किया था ?

(क) रूपाम्बरा
(ख) प्रतीक
(ग) प्रदीप
(घ) नवगीत दशक

2. सन् 1962 ई. में कौनसा आन्दोलन हुआ ?

(क) नयी कविता
(ख) सनातनी सूर्योदयी कविता
(ग) विचार कविता
(घ) नवगीत

3. 'अभिनव कविता' के प्रणेता थे –
(क) जगदीश चतुर्वेदी
(ख) माखनलाल चतुर्वेदी
(ग) विश्वम्भरनाथ उपाध्याय
(घ) त्रिलोचन सिंह

4. दुष्यंत कुमार का प्रसिद्ध ग़ज़ल संग्रह है –
(क) नीड़ का निर्माण
(ख) जो कहा नहीं गया
(ग) साए में धूप
(घ) धूप के हस्ताक्षर

लघूत्तरीय प्रश्न

1. कवि अपने काव्य में अनुभवों की सशक्त अभिव्यक्ति कैसे कर सकता है ?
2. युयुत्सा का अर्थ समझाइए।
3. अकविता काव्य आन्दोलन किस काव्य श्रेणी में आता है ?
4. विचार कविता का सूत्रपात किसने किया ?
5. नवगीत काव्य-आन्दोलन के प्रणेता कौन थे ?

दीर्घोत्तरीय प्रश्न

1. साठोत्तरी कविता आन्दोलन की जानकारी दीजिए।
2. नयी कविता का परिचय दीजिए।
3. साठोत्तरी काव्य आन्दोलन की मुख्य प्रवृत्तियों की जानकारी दीजिए।
4. समकालीन कविता आन्दोलन को स्पष्ट कीजिए।
5. नवगीत तथा हिन्दी ग़ज़लों का परिचय दीजिए।

5.3.9. सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

1. हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास, गणपतिचंद्र गुप्त
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास, डॉ॰ नगेन्द्र
3. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
4. आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास, डॉ॰ बच्चन सिंह

❖❖❖

खण्ड – 5 : छायावादोत्तर युग और स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी साहित्य

इकाई – 4 : स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास, कहानी, आलोचना, नाटक, एकांकी, निबन्ध और अन्य गद्य-विधाएँ

इकाई की रूपरेखा

5.4.0. उद्देश्य कथन
5.4.1. प्रस्तावना
5.4.2. स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास
- 5.4.2.1. सामाजिक उपन्यास
- 5.4.2.2. व्यक्तिवादी उपन्यास
- 5.4.2.3. मनोविश्लेषणवादी उपन्यास
- 5.4.2.4. आंचलिक उपन्यास

5.4.3. स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कहानी
5.4.4. स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी आलोचना, नाटक, एकांकी, निबन्ध और अन्य गद्य-विधाएँ
5.4.5. पाठ-सार
5.4.6. अभ्यास-प्रश्न
5.4.7. सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

5.4.0. उद्देश्य कथन

प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास-साहित्य की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
ii. स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कहानी-साहित्य से अवगत हो सकेंगे।
iii. स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी आलोचना-साहित्य से परिचित हो सकेंगे।
iv. स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी एकांकी नाटकों के स्वर समझ पाएँगे।
v. स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी निबन्ध तथा अन्य गद्य-विधाओं के प्रति अपनी जानकारी अद्यतन कर सकेंगे।

5.4.1. प्रस्तावना

आधुनिकता के परिप्रेक्ष्य में भारतीय सामाजिक जीवन सांस्कृतिक रूप से संक्रमणकाल से होकर गुजरा। राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक अस्थैर्य के कारण साहित्य-जगत् भी प्रभावित होता गया। सतत परिवर्तित परिवेश ने भारतीय जनमानस के साथ-साथ रचनाकार और उनकी लेखन-वृत्ति को भी प्रभावित किया। हिन्दी साहित्य में विभिन्न वाद एवं रचना-प्रवृत्तियाँ इन्हीं बदलते हुए परिवेश की परिणति रहे हैं। हिन्दी साहित्य में भारतेन्दुयुग, द्विवेदीयुग, प्रेमचंद युग, प्रेमचंदोत्तर युग, स्वातन्त्र्योत्तर युग और समकालीन युग हिन्दी कथा-साहित्य तथा अन्य

गद्य-विधाओं के विकास के चरण रहे हैं । स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी गद्य साहित्य में स्वतन्त्रता-उपरान्त राजनैतिक गतिविधियों और तज्जनित सामाजिक परिस्थितियों एक लेखा-जोखा देखा जा सकता है । भारतीय स्वतन्त्रता के बाद भारतवर्ष में कई अनपेक्षित समस्याएँ उभरकर सामने आईं । देश-विभाजन, द्वितीय महायुद्ध की विभीषिका, भारत-चीन युद्ध आदि समस्याओं के साथ-साथ देशान्तर्गत भ्रष्टाचार, साम्प्रदायिकता, राष्ट्रीय अखण्डता के प्रति निष्ठा का अभाव, गरीबी, बेरोजगारी, पूँजीवाद आदि कई ऐसी समस्याओं ने अपना पैर जमाना शुरू किया जिनके कारण देश की एकता और अखण्डता के साथ-साथ सामाजिक और सांस्कृतिक मूल्यों को भी ठेस पहुँच रहीथी । बदले हुए राजनैतिक तन्त्र ने समाज और धर्म को भी अपने नियन्त्रण में लेने का प्रयास किया ।

पश्चिमी सभ्यता के संक्रमण ने भारतीय परम्परा के सामाजिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक तत्त्वों को संक्रमित कर भारतीयों को भौतिकता की ओर उन्मुख किया जिससे नये तरह के जीवन-मूल्य सामने आए । इन नवीन जीवन-मूल्यों ने पारम्परिक जीवन-मूल्यों पर अपना अधिकार जमा लिया । स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी साहित्य में साहित्यकारों ने अपना दायित्व निभाते हुए पारम्परिक जीवन-मूल्यों की पुनः पड़ताल की । परिणामस्वरूप कई साहित्यिक आन्दोलन सामने आए, कई अवधारणाओं ने जन्म लिया, अनेक पल्लवित हुईं तो कुछ सशक्त आधार के अभाव में नष्ट भी होती गईं । प्रस्तुत पाठ में हम स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास, कहानी, आलोचना, नाटक, एकांकी, निबन्ध एवं अन्य प्रमुख गद्य-विधाओं का अध्ययन करेंगे ।

5.4.2. स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास

स्वतन्त्रता मिल जाने के बाद भारतीय परिवेश में व्यापक परिवर्तन सामने आया । विशेष बात यह थी कि भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन में जिन लोगों ने संगठित होकर इसे सफल बनाया था, स्वतन्त्रता के बाद उनमें फूट पड़ चुकी थी । अंग्रेज़ों ने यहाँ से जाते-जाते साम्प्रदायिकता की जो दरार उत्पन्न कर दी थी उसे आज तक पाटा नहीं जा सका है । भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन तो सफल रहा किन्तु अंग्रेज़ अपनी असफलता में भी सफलता के बीज बो गए । यह बात भी उतनी ही सच है कि स्वतन्त्रता के बाद हिन्दू और मुसलमानों के बीच हुए साम्प्रदायिक दंगे, देश-विभाजन ये सभी अंग्रेज़ों की नीतियों की ही देन रहे । सामाजिक और राजनैतिक दृष्टि से भारतवर्ष में अस्थिरता का माहौल उत्पन्न हो चुका था । स्वतन्त्रता-पूर्व और स्वतन्त्रता-उपरान्त जनमानस ने कई अच्छे और बुरे अनुभवों को ग्रहण किया था । रचनाकारों और साहित्यकारों ने इन्हीं खट्टे-मीठे अनुभवों को अपने साहित्य में स्थान दिया । हिन्दी साहित्य का अवलोकन करने पर हमें स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों के कुछ चरण दिखाई देते हैं । विद्वानों ने इसे पीढ़ी कहकर सम्बोधित किया है । स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों की पहली पीढ़ी उन उपन्यासकारों की है जिनका सम्बन्ध प्रेमचंद और प्रेमचंदोत्तर सामाजिक और ऐतिहासिक उपन्यास धारा से रहा है । इस पीढ़ी ने स्वतन्त्रता से पहले और स्वतन्त्रता के बाद वाले भारतवर्ष को देखा था । ये लोग सुधारवादी आन्दोलन, स्वतन्त्रता आन्दोलन, स्वतन्त्रता के लिए हिंसा-अहिंसा, देशभक्ति आदि के साक्षी रहे । आचार्य चतुरसेन शास्त्री, भगवती प्रसाद वाजपेयी, वृन्दावनलाल वर्मा, अमृतलाल नागर, अज्ञेय, यशपाल, जैनेन्द्र कुमार, इलाचन्द्र जोशी आदि उपन्यासकारों के नाम इस पीढ़ी के उपन्यासकारों में उल्लेखनीय हैं । स्वतन्त्रता-प्राप्ति उपरान्त जिन उपन्यासकारों का व्यक्तित्व और कृतित्व चर्चित हुआ वे स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों में दूसरी पीढ़ी

के उपन्यासकार कहे जाते हैं। भीष्म साहनी, प्रभाकर माचवे, मोहन राकेश, उदयशंकर भट्ट, राजेन्द्र यादव, कमलेश्वर आदि ने इस पीढ़ी का प्रतिनिधित्व किया। और, इसके बाद अगली पीढ़ी समकालीन उपन्यासकारों की थी जिसमें निर्मल वर्मा, रामदरश मिश्र, शिवप्रसाद सिंह, नरेन्द्र कोहली, विवेकी राय, मंजूर एहतेशाम आदि इस पीढ़ी के प्रतिनिधि उपन्यासकार कहे जाते हैं। इस प्रकार इन तीन चरणों में स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों का विकास हुआ। उपन्यास के क्षेत्र में इन सभी पीढ़ियों का समान्तर रूप से योगदान रहा। अतः इन्हें क्रमबद्ध अथवा विभक्त करके नहीं देखा जा सकता। किन्तु अध्ययन की सुगमता के लिए इनकी प्रवृत्तियों का अवलोकन कर स्वातन्त्र्योतर हिन्दी उपन्यासों के स्वरों को समझा जा सकता है। स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों की परम्परा में सामाजिक उपन्यास, व्यक्तिवादी उपन्यास, मनोविश्लेषणात्मक उपन्यास, आंचलिक उपन्यासों की प्रवृत्तियाँ सक्रिय रहीं।

5.4.2.1. सामाजिक उपन्यास

स्वतन्त्रता से पूर्व भारतवर्ष में पूर्ण स्वतन्त्रता, सामाजिक, धार्मिक सुधार, राजनैतिक स्थैर्य जैसे कई मुद्दे रचनाकारों के केन्द्रीय विषय रहे। और स्वतन्त्रता मिलने के पश्चात् जैसे-जैसे परिवेश बदलता गया वैसे-वैसे रचनाकारों ने भी बदले हुए परिवेश के अनुरूप भावों और संवेदनाओं को अपनी रचनाओं में अभिव्यक्ति दी। साहित्य का अवलोकन करें तो ज्ञात होता है कि स्वतन्त्रता-पूर्व रचित साहित्य में राष्ट्रीयता और राष्ट्रीय अखण्डता के प्रति एक तीव्र आग्रह रहा। तत्कालीन रचनाओं में भारतीय संस्कृति तथा अतीत गौरव की भावनाएँ मुखर रहीं। किन्तु स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् परम्परा तथा संस्कृति को संकीर्ण बताकर उच्छृंखल भावनाओं के प्रभाव से इससे मुक्ति की आकांक्षा व्यक्त कीगई। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद का वातावरण राजनैतिक और सामाजिक दृष्टि से बड़ा ही उथल-पुथल का वातावरण था। अनेक रचनाकारों ने स्वतन्त्रता-पूर्व और स्वतन्त्रता-उपरान्त की स्थितियों को अपने साहित्य में लेखनीबद्ध किया। यशपाल के उपन्यास 'झूठा सच' में इन दोनों कालों का वर्णन हुआ है। दो खण्डों में विभक्त इस उपन्यास में यशपाल ने 'वतन और देश' नाम से स्वतन्त्रता पूर्व और 'देश का भविष्य' नाम से स्वतन्त्रता के बाद की स्थिति को चित्रित किया है। इनके अलावा विष्णु प्रभाकर के 'निशिकांत', भीष्म साहनी-कृत 'तमस', कमलेश्वर-कृत 'लौटे हुए मुसाफिर', राही मासूम रज़ा-कृत 'आधा गाँव', भगवतीचरण वर्मा-कृत 'सीधी सच्ची बातें' आदि उपन्यासों में उपर्युक्त दोनों कालों की स्थिति का वर्णन यथार्थ रूप में हुआ है।

सामाजिक उपन्यासों की परम्परा में सामाजिक जीवन के उद्देश्यों और मूल्यों का आख्यान करने वाले उपन्यासकारों में अमृतलाल नागर रचित उपन्यास 'सुहाग के नूपुर', अमृत और विष', 'मानस के हंस', 'नाच्यौ बहुत गोपाल', खंजन नयन' तथा 'बूँद और समुद्र' जैसे उपन्यासों की बहुत चर्चा हुई। इनके अतिरिक्त भगवती प्रसाद वाजपेयी, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', जैनेन्द्र कुमार, राहुल सांकृत्यायन, राजेन्द्र यादव आदि का नाम भी स्वातन्त्र्योत्तर सामाजिक उपन्यासों के क्षेत्र में उल्लेखनीय रहा है। सामाजिक उपन्यासों में आदर्शवाद, ईश्वर के प्रति श्रद्धा, धार्मिक तथा सामाजिक एकता और अखण्डता, जीवन की वास्तविक तथा अनुभूति सापेक्ष अभिव्यक्ति, प्रेम के प्रति भिन्न दृष्टिकोण, प्रकृति-प्रेम, नैतिकता, रूढ़िवाद का विरोध, वर्ग एवं जातीय भेदभाव और तज्जनित विरोध, साम्यवाद आदि मुख्य विषय रहे।

5.4.2.2. व्यक्तिवादी उपन्यास

व्यक्तिवादी उपन्यास में व्यक्ति का चरित्र, उसकी निजी अनुभूतियाँ आदि मुख्य आधार होते हैं। इनमें मनुष्य की व्यक्तिगत संवेदना, उसकी अन्तर्मुखता तथा उसकी निजी अनुभूतियों को एक उपन्यास के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। इन उपन्यासों में कथा के पात्र सुशिक्षित होते हैं, उनमें पर्याप्त आत्मविश्वास होता है और अस्तित्ववाद के प्रति उनका प्रबल आग्रह यहाँ देखा जा सकता है। हिन्दी साहित्य में जैनेन्द्र कुमार, इलाचन्द्र जोशी, अज्ञेय, भगवतीचरण वर्मा, नरेश मेहता जैसे अन्य उपन्यासकारों ने व्यक्ति के मानसिक अन्तर्द्वन्द्व, व्यक्तिगत कुण्ठा, अकेलापन, निराशा, अवसाद, ईश्वर के प्रति आस्था-अनास्था आदि तत्त्वों को अपने उपन्यास में स्थान दिया। यहाँ सामाजिकता के स्थान पर व्यक्तिगत चेतना का महत्त्व होता है। इन उपन्यासों के पात्र प्रेम, स्त्री, वासना, चरित्र, वैवाहिक जीवन, नैतिकता जैसी अवधारणाओं के इर्द-गिर्द घूमते रहते हैं तथा सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टि तथा रूढ़ि और परम्पराओं के माध्यम से हो रहे सामाजिक मूल्यांकन के प्रति अपना रोष व्यक्त करते हैं। वैयक्तिकता की प्रधानता होने के कारण इन उपन्यासों में अहं भावना का विकास अपने आप ही होता दिखाई देता है। इलाचन्द्र जोशी का 'मुक्तिपथ', जैनेन्द्र कुमार का 'व्यतीत' और 'मुक्तिबोध', अज्ञेय का 'नदी के द्वीप', भगवतीप्रसाद वाजपेयी का 'उनसे न कहना' आदि उपन्यासों में कई ऐसे क्षण हैं जहाँ पात्रों ने अपनी अहमन्यता का प्रदर्शन किया है।

व्यक्तिवादी उपन्यासों में मनुष्य जीवन को विशिष्टता प्रदान करते हुए इस जीवन के लक्ष्य के प्रति एक विशिष्ट दृष्टिकोण दिखाई देता है। उपन्यासकारों ने जीवन के उद्देश्यों के विषय में अपनी-अपनी विचारधाराएँ पात्रों के माध्यम से व्यक्त की हैं। जोशी जी के 'मुक्तिपथ' में जीवन में कर्म को महत्त्व मिला है तो वहीं भगवतीचरण वर्मा के उपन्यास 'रेखा' में जीवन में संयम को महत्त्व मिला है। जैनेन्द्र कुमार के 'जयवर्द्धन' में जीवन को एक पहेली के रूप में प्रस्तुत किया गया है जिससे जीवन में एक प्रकार का तनाव उत्पन्न होता है। जैनेन्द्र कुमार के अन्य उपन्यास 'मुक्तिबोध' में नायक ने जीवन को संघर्ष बताया गया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि व्यक्तिवादी उपन्यासों में नायक विभिन्न परिवेशों का प्रतिनिधित्व करते हैं और अपने-अपने परिवेश में रहकर उन्हें जो कुछ अनुभव हुआ है उसकी व्यंजना वे भिन्न-भिन्न प्रकार से करते हैं। व्यक्तिवादी उपन्यास उन्हें कहा जाता है जिसमें व्यक्ति के निजी अस्तित्व और उसकी क्षमताओं को समाज से पहले मान्य किया जाता है। समाज उसका परिवेश मात्र होता है जबकि उपन्यास के केन्द्र में सिर्फ और सिर्फ व्यक्ति और उसकी निजता होती है। अपने सम्पूर्ण जीवन के प्रति वह स्वयं ही कारणीभूत होता है।

5.4.2.3. मनोविश्लेषणवादी उपन्यास

मनोविश्लेषणवादी उपन्यासकारों में इलाचन्द्र जोशी, अज्ञेय, डॉ॰ देवराज, जैनेन्द्र कुमार, राजेन्द्र यादव, प्रभाकर माचवे, धर्मवीर भारती आदि का नाम उल्लेखनीय है। मनोविश्लेषणवादी उपन्यासों में उपन्यासकारों ने मनुष्य का मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से अध्ययन और मूल्यांकन करने का प्रयास किया है। स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों में जो उपन्यास मनोविश्लेषण की दृष्टि से रचे गए उनमें मुख्य रूप से मनुष्य की यौन समस्या, स्त्री-पुरुष

सम्बन्धों की समस्या मुख्य रूप से उभरकर सामने आई है। जैनेन्द्र कुमार के उपन्यास 'परख', 'सुनीता', 'त्यागपत्र', 'कल्याणी', 'सुखदा', 'विवर्त', 'जयवर्द्धन', 'मुक्तिबोध', 'अनामस्वामी' आदि उपन्यासों में पात्रों की कामवासना और उसकी पूर्ति के अभाव में उत्पन्न होने वाली पीड़ा दिखाकर उसके उदात्तीकरण का प्रयास किया गया है। वस्तुतः जैनेन्द्र कुमार ने आर्थिक आधार पर उपजे भोगवाद के विरुद्ध कलम चलाकर मानवता को प्रतिष्ठित करने की कोशिश की है। इसी शृंखला में इलाचन्द्र जोशी के उपन्यास 'लज्जा', 'संन्यासी', 'परदे की रानी', 'प्रेत की छाया', 'सुबह के भूले', 'जिप्सी', 'कवि की प्रेयसी'; अज्ञेय के 'शेखर एक जीवनी', 'नदी के द्वीप', 'अपने-अपने अजनबी'; डॉ॰ देवराज के उपन्यास 'पथ की खोज', 'बाहर-भीतर', 'रोड़े और पत्थर', 'अजय की डायरी', 'मैं वे और आप'; राजेन्द्र यादव का 'अनदेखे अनजान पुल'; नरेश मेहता का 'धूमकेतु' आदि उल्लेखनीय कृतियाँ हैं।

उपर्युक्त कृतियों में उपन्यासकारों ने समाज की उन वास्तविक और यथार्थतापूर्ण समस्याओं को उजागर करने का प्रयास किया है जिनके कारण मनुष्य की प्रेम, विवाह, सेक्स जैसी यौन सुलभ इच्छाएँ अधूरी अथवा अतृप्त रह जाती हैं और परिणामतः उसके मन में एक प्रकार की कुण्ठा और नैराश्य जन्म होता है जो स्वयं उसके साथ सम्पूर्ण समाज को भी प्रभावित करता है। मनोविश्लेषणवादी उपन्यास इन्हीं अतृप्तियों की अभिव्यंजना हैं।

5.4.2.4. आंचलिक उपन्यास

स्वातन्त्र्योत्तर उपन्यासों में हिन्दी साहित्य में फणीश्वरनाथ रेणु के उपन्यास 'मैला आँचल' से आंचलिक उपन्यास का सूत्रपात माना जाता है। प्रेमचंद के बाद उपन्यासों और कहानियों से जो ग्राम और अंचल मृतप्राय हो गए थे उन्हें पुनर्जीवित करने का काम फणीश्वरनाथ रेणु ने किया है। आंचलिक उपन्यासों में किसी अंचल विशेष अथवा किसी अपरिचित समाज आदि के जनजीवन, वहाँ के रहन-सहन, रीति-रिवाज, लोकव्यवहार, आचार-विचार आदि का पूरी सहृदयता के साथ चित्रण किया जाता है। आंचलिक उपन्यासों की सशक्त अभिव्यक्ति के लिए उपन्यासकार को वर्णित अंचल से अच्छी तरह सामंजस्य स्थापित करना उनमें अच्छी तरह घुल-मिल जाना पड़ता है। आंचलिक उपन्यासों में अंचल विशेष का कोई भी कोना उपन्यासकार की दृष्टि से अछूता नहीं रहना चाहिए। आंचलिक उपन्यासों के क्षेत्र में फणीश्वरनाथ रेणु का 'मैला आँचल', 'परती परिकथा', 'दीर्घतपा', 'जुलूस', 'कितने चौराहे', 'पलटू बाबू रोड'; नागार्जुन का 'बलचनमा', 'दुखमोचन', 'वरुण के बेटे'; उदयशंकर भट्ट का 'सागर लहरें और मनुष्य'; राही मासूम रज़ा का 'आधा गाँव'; रांगेय राघव का 'कब तक पुकारूँ'; रामदरश मिश्र का 'पानी के प्राचीर' और 'जल टूटता हुआ'; शिवप्रसाद सिंह का 'अलग अलग वैतरणी'; श्रीलाल शुक्ल का 'राग दरबारी'; विवेकी राय का 'बबूल', 'पुरुष पुराण', 'लोकऋण', 'श्वेतपत्र', 'सोनामाटी'; शैलेश मटियानी का 'कबूतरखाना', 'दो बूँद जल', 'किस्सा नर्मदाबेन गंगूबाई', 'चौथी मुट्ठी' आदि आंचलिक उपन्यास भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न अंचलों की कथा का आख्यान करते हैं। आंचलिक उपन्यासकारों ने इन उपन्यासों की रचना के समय उस अंचल का सापेक्षिक अध्ययन किया है अतः इसमें सामाजिक जनजीवन, राजनैतिक षड्यन्त्र, जीवन का यथार्थ, सामान्य मनुष्य-जीवन की समस्याएँ और उनसे उबरने के लिए किए गए संघर्षों के विविध आयामों का यथार्थ उभरकर सामने आता है। आंचलिक उपन्यास आधुनिक सुख-सुविधाओं से

परे, शिक्षा और भौतिक सुविधाओं से उपेक्षित और परम्परावादी समाज की जीवन-गाथा होते हैं। ये उपन्यास सामाजिक चित्रण के साथ-साथ आधुनिकता का परचम उठाकर चलने वाले वर्तमान राजनैतिक दलों की वास्तविकता का प्रदर्शन करते हुए उनकी नीतियों और राजनैतिक मंशा की बखिया उधेड़ते हुए दिखाई पड़ते हैं।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद भारतीय परिवेश में सत्ता और व्यवस्था के सन्दर्भ में व्यापक परिवर्तन सामने आए। जीवन-मूल्य बदले और स्वतन्त्रता-पूर्व की अपेक्षाओं की पूर्ति न हो पाने के कारण जनमानस का मोह भंग भी हुआ जिससे स्वतन्त्रता-प्राप्ति का उत्साह एक प्रकार से हताशा में बदलता गया। इसमें आधुनिकता के प्रभाव से औद्योगीकरण जैसी परिस्थितियों ने भी एक विपरीत परिस्थिति की आधारभूमि तैयार करने में मदद की। किन्तु ये विभिन्न परिस्थितियाँ रचनाकारों की लेखनी से बच नहीं पायीं। आधुनिकता से प्रभावित उपन्यासों की रचना कर उपन्यासकारों ने आधुनिकता के दुष्परिणामों का भी चित्रण किया। इस दृष्टि से मोहन राकेश का 'अँधेरे बंद कमरे' और 'न आने वाला कल'; निर्मल वर्मा का 'वे दिन'; उषा प्रियंवदा का 'रुकोगी नहीं राधिका'; गिरिराज किशोर का 'यात्राएँ'; मन्नू भंडारी का 'आपका बंटी'; ममता कालिया का 'बेघर' आदि उल्लेखनीय उपन्यास हैं।

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास समकालीन उपन्यासों की श्रेणी में भी आते हैं। समकालीन उपन्यास किसी विशिष्ट प्रभाव अथवा वाद से सम्बन्धित प्रवृत्ति नहीं रही अपितु यह वस्तु और शिल्प की दृष्टि से एक नयेपन का सूचक रही। कभी इसमें रोमांस दिखाई देता है तो कभी आधुनिकताबोध का संकेत मिलता है तो कहीं सामाजिकता और राजनैतिक अस्थैर्य का चित्रण करते हुए ये उपन्यास किसी वर्ग अथवा जाति के संघर्ष की गाथा कहते हैं। भीष्म साहनी का 'मय्यादास की माड़ी', मंजूर एहतेशाम का 'सूखा बरगद', पंकज विष्ट का 'उस चिड़िया का नाम', सुरेन्द्र वर्मा का 'मुझे चाँद चाहिए' आदि कृतियों का उल्लेख किया जा सकता है। स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास-लेखन की विशेषता यह रही कि इसमें महिला रचनाकारों ने भी उपन्यास लेखन के क्षेत्र में उल्लेखनीय योगदान दिया। मन्नू भंडारी, उषा प्रियंवदा, ममता कालिया, प्रभा खेतान, मृदुला गर्ग, मेहरुनिस्सा परवेज़ आदि कई महिला उपन्यासकारों ने इस युग में प्रतिष्ठा पायी।

5.4.3. स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कहानी

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों की भाँति ही कहानी साहित्य के क्षेत्र में भी कई कहानीकार प्रेमचंदोत्तर युग से कहानी-लेखन कर रहे थे। स्वभावतः वे स्वतन्त्रता-पूर्व और उसके बाद की परिस्थितियों से परिचित थे ही। समय के साथ-साथ कहानी विधा के भाव, शिल्प और कथावस्तु में भी परिवर्तन आया। स्वतन्त्रता के उपरान्त काव्य-आन्दोलनों की तरह कहानी के क्षेत्र में भी कई कहानी आन्दोलन उभरे। इन आन्दोलनों में नयी कहानी, सचेतन कहानी, अकहानी, सहज कहानी, सक्रिय कहानी, समानान्तर कहानी आदि कहानी आन्दोलन उल्लेखनीय हैं।

नयी कहानी नये परिवेश के अनुरूप अपनी पूर्ववर्ती कहानी-परम्परा से भाव और शिल्प के आधार पर भिन्नता रखती है। जिस प्रकार पूर्ववर्ती कहानीकारों ने आदर्श, समन्वय, नैतिकता, रोमांस, सामाजिकता के प्रति

आग्रह दिखाया वहीं नये कहानीकारों ने उक्त विचारधाराओं के विपरीत यथार्थ की अभिव्यक्ति को केन्द्र में रखकर कहानियाँ लिखीं। स्वभावतः नये कहानीकारों ने अपनी स्वानुभूतियों की अभिव्यक्ति पर अधिक बल दिया। अतः अनुभूतियों की सापेक्षता के कारण ही नयी कहानी के भाव अधिक प्रभावशाली जान पड़ते हैं। नयी कहाने का भाव और संवेदनाएँ भोगे हुए यथार्थ का प्रस्तुतीकरण रहा। भाव-विविधता के साथ कहानीकारों ने यहाँ शिल्प की दृष्टि से भी नवीनता का पोषण किया। नये परिवेश में उभरी जीवन की विविध समस्याओं और संकीर्णताओं को कहानियों ने अपने आलोक में समाविष्ट कर वस्तु और शिल्प को लेकर एक नयेपन का जो सूत्रपात किया था वही नयी कहानी है।

स्वतन्त्रता के बाद बदले हुए प्रतिमानों ने पारम्परिक मूल्यों का विरोध किया। जनजीवन में व्याप्त गरीबी, भुखमरी, बेरोजगारी, अशिक्षा आदि से प्रभावित पूर्ववर्ती सामाजिक व्यवस्था और राजनीति के अन्तर्गत आदर्शवादी मूल्य कमजोर सिद्ध हुए। अतः अब एक ऐसी वास्तविकता की आवश्यकता जान पड़ी जो खोखले आदर्श के स्थान पर कड़े और अनुभूत यथार्थ की प्रतिष्ठापना कर समाज का प्रतिनिधित्व करे। नयी कहानी की कथावस्तु वास्तविक जीवन का यथार्थ है।

सन् 1960 ई. में श्री भैरवप्रसाद गुप्त सम्पादित 'नयी कहानी' नामक पत्रिका राजकमल प्रकाशन से प्रकाशित होने लगी। स्वयं राजेन्द्र यादव ने इसकी हिमायत करते हुए सन् 1961 ई. में इस पत्रिका के अंक में यह प्रतिपादित किया कि कोई भी कहानीकार व्यक्तिविशेष का आकलन उसके परिवेश के साथ करवाना चाहता है। वस्तुतः राजेन्द्र यादव व्यक्ति की स्थिति को उसके परिवेश की परिणति मानते रहे। इसीलिए उन्होंने व्यक्ति के सामाजिक परिवेश, उसका अन्तर्द्वन्द्व, उसकी कुण्ठा, उसके क्रिया-कलाप आदि तत्त्वों को भी व्यक्ति के विश्लेषण में महत्त्वपूर्ण माना। इस दृष्टि से जो कहानी आन्दोलन सामने आया वह 'नयी कहानी आन्दोलन' था जिसके पीछे राजेन्द्र यादव, कमलेश्वर और मोहन राकेश जैसे कहानीकारों की मुख्य भूमिका रही। नयी कहानी आन्दोलन के अन्तर्गत कहानीकारों से आग्रह किया गया कि उनकी कहानियाँ युगसापेक्ष यथार्थ के साथ जुड़ी हों। ताकि पाठकगण जीवन के यथार्थ से परिचित हो सकें। कहानीकारों ने नयी कहानी आन्दोलन के अनुरूप आंचलिक कहानियाँ, नागरीबोध से सम्बन्धित कहानियाँ, यथार्थपरक कहानियाँ, सामाजिक पारिवारिक कहानियाँ जैसे विषयों के साथ-साथ जीवन की जटिलता, सामान्य व्यक्ति की प्रतिष्ठा, खोखली भावुकता का अभाव, मध्यमवर्गीय सामाजिक जीवन का चित्रण, आधुनिकता की प्रधानता आदि विषयों को कहानी की कथावस्तु का आधार बनाया। नयी कहानी को विकसित करने और समृद्धि प्रदान करने की दृष्टि से अमरकांत की कहानी 'ज़िन्दगी और जोंक', उषा प्रियंवदा की कहानी 'मछलियाँ', 'कृष्णा सोबती की कहानी 'बादलों के घेरे', कमलेश्वर की 'खोयी हुई दिशाएँ', धर्मवीर भारती की 'गुलकी बन्नो', फणीश्वरनाथ रेणु की 'मारे गए गुलफाम', निर्मल वर्मा की 'परिन्दे', भीष्म साहनी की 'चीफ की दावत', राजेन्द्र यादव की 'टूटना', मोहन राकेश की 'एक और ज़िन्दगी', मार्कण्डेय की 'दूध और दवा' आदि कहानियाँ महत्त्वपूर्ण हैं। ये कहानियाँ राजेन्द्र यादव द्वारा सम्पादित पुस्तक 'एक दुनिया: समानान्तर' में प्रकाशित हुई थी।

सचेतन कहानी आन्दोलन का सम्बन्ध नयी कहानी के अन्तर्गत नितान्त अन्तर्मुखी और रूपवादिता के विपरीत लिखी गई कहानियों से है जिसके प्रणेता डॉ॰ महीप सिंह रहे। सन् 1964 ई. के दौरान 'आधार' पत्रिका के विशेषांक 'सचेतन कहानी' से इस आन्दोलन का उदय हुआ। इस सम्बन्ध में स्वयं महीप सिंह का कथन है, "नयी कहानी के अन्दर जो अन्तर्विरोध थे, उन्हें स्पष्ट करने के लिए और जीवन के प्रति जो सचेतन दृष्टि हम चाहते थे, जिसमें हम यह अनुभव करते थे कि, जीवन को मात्र प्रदत्त वस्तु के स्तर पर नहीं जीना चाहिए, बल्कि सक्रियता से भोगना और जीना – आज के मनुष्य की नियति है, उसे अपनी रचनाओं के माध्यम से हम रेखांकित करना चाहते थे। हमारे इस आग्रह को सचेतन कहानी का आधार माना गया और लोगों ने इसे उसी रूप में अपनाया।" सचेतन कहानी वस्तुतः पश्चिमी प्रभावों के जीवन-मूल्यों, निराशा, अवसाद, कुण्ठा, एकाकीपन आदि वृतियों से विरक्ति की कहानी है। ये जीवन की सहजता और वास्तविकता की कहानियाँ हैं। डॉ॰ महीप सिंह के अतिरिक्त कमल जोशी, मधुकर सिंह, हिमांशु जोशी, मनहर चौहान आदि का नाम सचेतन कहानी आन्दोलन की दृष्टि से उल्लेखनीय है।

सचेतन कहानी के बाद अकहानी आन्दोलन का दौर शुरू हुआ। जिसके बीज नयी कहानी और सचेतन कहानी आन्दोलन में ही निहित थे। कुछ विद्वान् अकहानी को नयी कहानी की अगली कड़ी भी मानते रहे। और कुछ लोग प्रतिक्रिया। इससे यह तो स्पष्ट है कि अकहानी आन्दोलन परवर्ती कहनियों की प्रवृत्तियों के प्रति असन्तोष से उपजा आन्दोलन था। अकहानी आन्दोलन के क्षेत्र में रविन्द्र कालिया, ममता कालिया, दूधनाथ सिंह, श्रीकान्त वर्मा, गंगाप्रसाद विमल, रामदरश मिश आदि कहानीकारों का योगदान महत्त्वपूर्ण है। अकहानी आन्दोलन और अकविता आन्दोलन दोनों ही एक ही समान उद्देश्यों तथा अवधारणाओं को लेकर अस्तित्व में आए थे। अकहानी आन्दोलन ने भी अकविता की भाँति पारम्परिक मूल्यों, रूढ़ियों, मनुष्य की निजी पीड़ा, उसकी न्यूनता आदि मुद्दों को केन्द्र में रखकर कहानियों का ताना-बाना बुना। यह एक ऐसा दौर था जब पुरातन जीवन-मूल्य प्रायः प्रत्येक क्षेत्र में मनुष्य को कमजोर सिद्ध कर रहे थे। इस कमजोरी के कारण लोकजीवन के बीच अवसाद और हताशा का वातावरण निर्मित होना स्वाभाविक था। अकहानी के भीतर भी काल्पनिकता, कथावस्तु की अप्रामाणिकता जैसी कुछ कमियाँ थीं जिसके कारण कालान्तर में यह कहानी आन्दोलन क्षीण होता गया।

सहज कहानी की शुरुआत कहानी साहित्य में निहित दुरूहता को दूर करने और उसे बोधगम्य बनाने की दृष्टि से हुई। जिसमें अमृतराय की भूमिका सबसे अहम थी। वस्तुतः जटिलता, रसहीनता, नितान्त आत्मपरकता की जो प्रवृत्तियाँ कहानी साहित्य के मूल उद्देश्यों में गतिरोध उत्पन्न कर रही थीं उसे समाप्त करने के लिए अमृतराय ने सहजता की विचारधारा सामने रखी। इसे किसी आन्दोलन अथवा वाद जैसा स्वरूप देना अमृतराय का उद्देश्य नहीं था। अमृतराय ने रचनाधर्म में किसी भी आबद्धता को अस्वीकृत किया। सहज कहानी के क्षेत्र में वांछित सहयोग न मिलने से अमृतराय इस आन्दोलन के एकमात्र योगदानकर्त्ता रहे।

सन् 1972 ई. के आसपास नयी कहानी आन्दोलन के सशक्त हस्ताक्षर कमलेश्वर ने समान्तर कहानी आन्दोलन की शुरुआत की। इस समय भारतवर्ष में विभिन्न प्रकार के आन्दोलन सक्रिय हो चुके थे। समान्तर कहानी के केन्द्र में आम आदमी है। समान्तर कहानी आम आदमी के संघर्ष की कहानी कहती है। वैचारिक

आधार पर उभरा समान्तर कहानी आन्दोलन भावुकता के प्रति उदासीन दिखाई देता है। इस आन्दोलन में कमलेश्वर के साथ सुधा अरोड़ा, कामतानाथ, जितेन्द्र भाटिया, मधुकर सिंह, इब्राहीम शरीफ, हिमांशु जोशी, मिथिलेश्वर आदि प्रमुख हस्ताक्षर रहे हैं।

समान्तर कहानी आन्दोलन के बाद 'मंच' पत्रिका के माध्यम से राकेश वत्स द्वारा सक्रिय कहानी आन्दोलन का उदय हुआ। यहाँ सक्रियता का तात्पर्य चेतना और सजीवता से था। ये कहानियाँ मनुष्य के मन में बसी कुण्ठा, अवसाद, निराशा, कमजोरी आदि से मुक्ति की प्रेरणा देने वाली कहानियाँ रहीं। इस कहानी आन्दोलन में रमेश बत्रा, चित्रा मुद्गल, धीरेन्द्र अस्थाना आदि का कहानी-साहित्य मुख्य रूप से उल्लेखनीय रहा। सक्रिय कहानी मनुष्य को शोषण से मुक्ति पाने के लिए संघर्ष करने के लिए प्रेरित करती है। शोषण से मुक्ति पाना ही इस कहानी आन्दोलन का मुख्य उद्देश्य रहा।

सक्रिय कहानी आन्दोलन के बाद जनवादी कहानियों का दौर प्रारम्भ हुआ। जिसकी शुरुआत सन् 1982 ई. में दिल्ली के जनवादी लेखक मंच की स्थापना के प्रथम अधिवेशन में हुई। जन संघर्ष और मार्क्सवादी आधार पर उपजे इस कहानी प्रवृत्ति के सूत्र प्रेमचंद की जनवादी कहानियों से सम्बद्ध थे। जनवादी कहानियों का मुख्य आधार भी शोषितों की संघर्ष भावना रहा। जनवादी कहानियों के पात्र अपने अधिकारों के प्रति जाग्रत हैं। सर्वाहारा वर्ग के प्रति सहानुभूति का भाव ही जनवादी कहानी का मूल स्वर है। इस कहानी में प्रायः किसान, मज़दूर, पीड़ित, पद दलित, असहाय वर्ग के जीवन-संघर्ष का सहृदयता के साथ चित्रण किया गया। जनवादी कहानियों की दृष्टि से मार्कण्डेय, भीष्म साहनी, अमरकान्त, रांगेय राघव, भैरवप्रसाद गुप्त आदि कहानीकारों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है।

5.4.4. स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी आलोचना, नाटक, एकांकी, निबन्ध और अन्य गद्य-विधाएँ

हिन्दी साहित्य की अन्य विधाओं की तरह ही आलोचना के क्षेत्र में भी स्वतन्त्रता के उपरान्त बहुत परिवर्तन सामने आए। अस्तित्ववाद, व्यक्तिवाद, समन्वयवाद, यथार्थवाद, अति यथार्थवाद आदि प्रवृत्तियों ने साहित्य के क्षेत्र में बौद्धिकता और वैचारिकता की पृष्ठभूमि के तैयार होने में बहुत सहायता की। बौद्धिकता और वैचारिकता के प्रभाव से तर्क और विश्लेषण की प्रवृत्ति विकसित हुई और आलोचना का बहुआयामी विकास हुआ। पुरातन अवधारणाओं का स्थान वर्तमान की अनुभूतियाँ ग्रहण करने लगीं। रचनाओं का बौद्धिक आधार पर विवेचन-विश्लेषण प्रारम्भ हुआ। आलोचना की दृष्टि से स्वातन्त्र्योत्तर युग में अपनी समन्वयवादिता, मानव के प्रति सहानुभूति जैसी विचारधारा के कारण मार्क्सवादी आलोचना का विकास सर्वाधिक हुआ। स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी आलोचना में डॉ॰ रामविलास शर्मा का नाम अग्रणी रूप से लिया जाता है। रामविलास शर्मा द्वारा प्रेमचंद के साहित्य, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की आलोचना पद्धति तथा निराला के साहित्य पर की गई आलोचना उन्हें उच्च कोटि के समीक्षक के पद पर प्रतिष्ठित करती है। विद्वानों का मत है कि हिन्दी साहित्य के आलोचना जगत् में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की चिन्तनशीलता और उनकी वैचारिकी को डॉ॰ रामविलास शर्मा ने ही प्रबल रूप में साकार किया है। डॉ॰ शर्मा ने शुक्लविरोधी आलोचकों पर प्रहार करते हुए कहा कि "शुक्ल जी ने न तो भारत के

रूढ़ीवाद को स्वीकार किया और न ही पश्चिम के व्यक्तिवाद को । उन्होंने बाह्य जगत् और मानव जीवन की वास्तविकता के आधार पर नये साहित्य-सिद्धान्तों की स्थापना की और उनके आधार पर सामन्ती साहित्य का विरोध किया । देशभक्ति और जनतन्त्र की साहित्यिक परम्परा का समर्थन किया । उनका यह कार्य प्रत्येक देशप्रेमी और जनवादी लेखक तथा पाठक के लिए दिलचस्प होना चाहिए ।" रामविलास शर्मा ने उक्त रचनाकारों की आलोचना मार्क्सवादी आलोचना के आधार पर की थी अतः मार्क्सवादी आलोचना को प्रतिष्ठित करने में भी रामविलास शर्मा का बहुमूल्य योगदान रहा । रामविलास शर्मा के अतिरिक्त गजानन माधव मुक्तिबोध, विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, रांगेय राघव, नामवर सिंह, शिवकुमार मिश्र आदि आलोचकों का नाम मार्क्सवादी आलोचना के क्षेत्र में उल्लेखनीय रहा है । गजानन माधव मुक्तिबोध रचित 'कामायनी : एक पुनर्विचार', 'नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबन्ध', 'नए साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र'; नामवर सिंह द्वारा रचित 'कविता के नए प्रतिमान', छायावाद', 'दूसरी परम्परा की खोज', 'वाद विवाद संवाद' आदि मार्क्सवादी आलोचना की बहुचर्चित कृतियाँ रही हैं । प्रो० नामवर सिंह ने मार्क्सवाद के अन्तर्गत द्वन्द्वात्मक भौतिकतावाद के अनुरूप काव्यशास्त्र पर भी दृष्टिपात किया है ।

स्वातन्त्र्योत्तर युग में समाजशास्त्रीय आलोचना पद्धति भी बहुत चर्चित हुई । इस आलोचना के क्षेत्र में श्रीराम मेहरोत्रा, डॉ० नगेन्द्र, डॉ० बच्चन सिंह, मैनेजर पाण्डेय आदि आलोचकों का नाम विशेष रूप से लिया जाता है । समाजशास्त्रीय आलोचना कृति का उसकी समग्रता में मूल्यांकन करती है । समाजशास्त्रीय आलोचना कृति में सुनियोजित विश्लेषण पर जोर देती है । मैनेजर पाण्डेय कहते हैं कि "साहित्य के समाजवाद की प्रवृत्ति समतावादी होती है । वह साहित्य के सभी रूपों और पक्षों को समग्रता में समझने पर जोर देता है । साहित्य प्रक्रिया के तीन मुख्य पक्ष हैं : लेखक, रचना और पाठक । साहित्य विश्लेषण की अधिकांश दृष्टियों के केन्द्र में इन तीनों में से कोई एक रहता है । साहित्य के समाजशास्त्र में इन तीनों का विवेचन होता है और इनके आपसी सम्बन्धों का भी । उसमें गम्भीर कलात्मक साहित्य के साथ लोकप्रिय साहित्य के सामाजिक सन्दर्भ और प्रयोजन का भी विश्लेषण होता है ।" आलोचना की इस प्रवृत्ति के कारण आलोचना के निष्कर्ष एकतरफा नहीं होने पाते ।

स्वातन्त्र्योत्तर युग में आलोचना के साथ-साथ 'नयी समीक्षा' पद्धति भी अस्तित्व में आई । नयी समीक्षा का यह अर्थ कतई नहीं था कि इसमें केवल नये समीक्षक ही समाविष्ट हुए या किए गए हैं । बल्कि नयी समीक्षा का सम्बन्ध आधुनिकता का भाव-बोध कराने वाली प्रवृत्ति से रहा है । यहाँ मार्क्सवाद अथवा रोमांस से परे एक यथार्थपरक जीवन का विश्लेषण प्रस्तुत किया गया । मनुष्य जीवन में व्याप्त तनाव, निराशा, अवसाद, अकेलापन, निस्सहायता जैसे तत्त्वों का अनुसरण कर अनुभूत सत्य और व्यक्ति को प्रधानता देकर समस्या के उन्मूलन का मार्ग ढूँढ़ा गया । अज्ञेय, गिरिजाकुमार माथुर, विजयदेवनारायण साही, लक्ष्मीकान्त वर्मा, रामदरश मिश्र, परमानन्द श्रीवास्तव, विश्वनाथ तिवारी, प्रभाकर श्रोत्रिय, अशोक वाजपेयी आदि कई समीक्षकों का नाम इस क्षेत्र में समादृत है । नयी समीक्षा काव्य-जगत् में सक्रिय रही अतः काव्य-जगत् में सक्रियता के कारण गद्य-विधा के क्षेत्र में नयी समीक्षा पद्धति कम प्रयुक्त हुई ।

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी नाटकों की दृष्टि से भी जिन परिवर्तनों को देखा गया वे आधुनिकताबोध से सम्बन्धित रहे। आधुनिक परिवेश में जयशंकर प्रसाद के नाटकों की तर्ज़ पर ही इतिहास और पुराण के आलोक में नये नाटकों का सृजन किया गया। भाव, शिल्प और संवेदना प्रत्येक दृष्टि से इसमें एक नयापन आ चुका था। इन नये नाटकों में जगदीशचंद्र माथुर और मोहन राकेश का नाम उल्लेखनीय है। एक ओर जहाँ जगदीशचंद्र माथुर ने 'कोणार्क' और मोहन राकेश ने 'आषाढ़ का एक दिन' तथा 'लहरों के राजहंस' को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया वहीं मोहन राकेश के नाटक 'आधे अधूरे' में आधुनिकताबोध के दर्शन होते हैं। इसके अतिरिक्त लक्ष्मीनारायण लाल का 'सूर्यमुख', विपिन कुमार अग्रवाल का 'तीन अपाहिज', ज्ञानदेव अग्निहोत्री का 'शुतुरमुर्ग', सुरेन्द्र वर्मा का 'द्रौपदी' आदि नाटकों में आधुनिकताबोध की पड़ताल की गई है। इसके अतिरिक्त स्वातन्त्र्योत्तर नाटकों में शरद जोशी के व्यंग्यप्रधान नाटक 'एक था गधा' और 'अन्धों का हाथी' विशिष्ट नाट्य-कृतियाँ हैं। सुदर्शन मजीठिया, नंदकिशोर आचार्य, नरेंद्र मोहन, बृजमोहन शाह, रामेश्वर प्रेम, मुद्राराक्षस, बलराज पण्डित आदि के नाटक भी अपना विशेष स्थान रखते हैं। महिला नाटककारों में मन्नू भंडारी, मृदुला गर्ग, शान्ति मेहरोत्रा, मृणाल पाण्डेय आदि के नाटकों का उल्लेख किया जाता है। एकांकी नाटकों की दृष्टि से भगवतीचरण वर्मा, श्रीरामनाथ 'सुमन', डॉ॰ रामकुमार वर्मा, डॉ॰ सोमनाथ गुप्त, डॉ॰ सत्येन्द्र, विष्णु प्रभाकर, गिरिजाकुमार माथुर, सुरेन्द्र वर्मा, रेवती रमण शर्मा, नरेश मेहता, भारत भूषण अग्रवाल, ममता कालिया, अमृतलाल नागर आदि एकांकीकारों का उल्लेख किया जाता है।

आत्मकथा के क्षेत्र में पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र की आत्मकथा 'अपनी खबर', हरिवंशराय 'बच्चन' की चार खण्डों में प्रकाशित आत्मकथा 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ', 'नीड़ का निर्माण फिर', 'बसेरे से दूर' और 'दशद्वार से सोपान तक', बलराज साहनी की आत्मकथा 'घर की बात', रामविलास शर्मा की 'मेरा जीवन', हंसराज रहबर की 'मेरी जीवन धारा', यशपाल जैन की 'तपती पगडंडियों पर जीवन यात्रा', फणीश्वरनाथ रेणु की 'टुकड़े टुकड़े दास्ताँ', अमृतलाल नागर की 'अर्धकथा' आदि महत्त्वपूर्ण आत्मकथाएँ हैं। महिला आत्मकथाकारों ने भी इस क्षेत्र में अपनी उपस्थिति दर्ज करायी है। प्रतिभा अग्रवाल की आत्मकथा 'दस्तक जिन्दगी की' और 'मोड़ ज़िन्दगी का', कुसुम अंसल की आत्मकथा 'जो कहा नहीं गया', कृष्णा अग्निहोत्री की आत्मकथा 'लगता नहीं है दिल मेरा', पद्मा सचदेव की आत्मकथा 'बूँद बावड़ी', मैत्रेयी पुष्पा की आत्मकथा 'कस्तूरी कुंडल बसै' और 'गुड़िया भीतर गुड़िया', मन्नू भंडारी की आत्मकथा 'एक कहानी यह भी' आदि उल्लेखनीय कृतियाँ हैं।

निबन्ध विधा के क्षेत्र में नलिन विलोचन शर्मा, अमृतलाल नागर, प्रभाकर माचवे, अमृतराय, डॉ॰ नगेन्द्र, डॉ॰ भगीरथ मिश्र, विजयेन्द्र स्नातक, रामविलास शर्मा, अज्ञेय, रामधारी सिंह दिनकर, रामदरश मिश्र, हरिशंकर परसाई, विद्यानिवास मिश्र, धर्मवीर भारती, नामवर सिंह, विवेकी राय, शिवप्रसाद सिंह, निर्मल वर्मा, कुबेरनाथ राय आदि निबन्धकारों का उल्लेख किया जाता है। स्वातन्त्र्योत्तर-काल में हिन्दी साहित्य की अन्य विभिन्न गद्य-विधाओं यथा जीवनी, डायरी, रेखाचित्र, रिपोर्ताज, संस्मरण, यात्रावृत्तान्त आदि का भी पर्याप्त विकास हुआ। हिन्दी की विविध साहित्यिक विधाओं में इस परिवेश में अभिव्यक्ति पायी।

5.4.5. पाठ-सार

भारतवर्ष में स्वतन्त्रता को लेकर जनमानस के बीच जो आशाएँ-अपेक्षाएँ थीं, स्वतन्त्रता के उपरान्त वे पूरी नहीं हो पायीं । सत्ता में परिवर्तन अवश्य आया किन्तु स्थिति और भी बदतर हो चली । नये परिवेश में नयी समस्याएँ उभरने से नयी संवेदनाओं ने भी जन्म लिया । समाज में पारम्परिक मूल्यों और आस्थाओं को लेकर एक दुविधाजनक स्थिति उत्पन्न हो गई । एक वर्ग परम्परावादिता के पक्ष में था तो दूसरा पुरातन परम्पराओं को खोखली मीनारें मानकर उनकी आलोचना करने लगा । परम्परा की आलोचना से कुछ पाश्चात्य विचारधाराएँ प्रविष्ट हुईं और बहुत फली-फूलीं । किन्तु इन दोनों ही गुटों में परस्पर विवाद जारी रहा । साहित्य में भी इसी स्थिति का प्रस्फुटन हुआ । अपनी-अपनी अवधारणाओं को सार्वभौमिक और प्रमाणित करने के लिए विभिन्न विधाओं के स्तर पर कई साहित्यिक आन्दोलन हुए । किन्तु उनमें एकसूत्रता का अभाव रहा जिससे कोई भी साहित्यिक आन्दोलन दीर्घकाल तक नहीं चल पाया । लेकिन इन आन्दोलनों के माध्यम से साहित्य का विकास होता रहा । विभिन्न अवधारणाओं से सिक्त होकर नव-नवीन साहित्य सामने आए जिससे हिन्दी साहित्य समृद्ध हुआ ।

5.4.6. अभ्यास-प्रश्न

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. 'आधा गाँव' उपन्यास के रचयिता कौन हैं ?

(क) उग्र
(ख) मंजूर एहतेशाम
(ग) राही मासूम रज़ा
(घ) इब्राहीम

2. सचेतन कहानी आन्दोलन के प्रणेता हैं –

(क) महीप सिंह
(ख) प्रेमचंद
(ग) जगदीश चतुर्वेदी
(घ) मन्नू भंडारी

3. अमृतराय प्रवर्तित कहानी आन्दोलन है –

(क) अकहानी
(ख) सहज कहानी
(ग) सक्रिय कहानी
(घ) सचेतन कहानी

4. डॉ० रामविलास शर्मा की आलोचक-पद्धति को किस श्रेणी में रखा जा सकता है ?

(क) मनोविश्लेषणवादी

(ख) मार्क्सवादी

(ग) अनुसंधानवादी

(घ) प्रभाववादी

लघूत्तरीय प्रश्न

1. स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों को कितने वर्गों में विभक्त किया जाता है ?
2. सक्रिय कहानी आन्दोलन का सूत्रपात किसने किया ? इस कहानी आन्दोलन का वैशिष्ट्य बताइए।
3. डॉ० रामविलास शर्मा ने किन-किन रचनाकारों के साहित्य पर कौन-कौनसे आलोचना ग्रन्थ लिखे ?
4. 'लहरों के राजहंस' किस विधा की रचना है ? इस विधा की अन्य प्रमुख रचनाओं एवं उनके रचनाकारों का नामोल्लेख कीजिए।
5. मैत्रेयी पुष्पा की आत्मकथा का नाम बताइए। अन्य प्रमुख महिला आत्मकथाकारों एवं उनकी आत्मकथाओं का नामोल्लेख कीजिए।

दीर्घोत्तरीय प्रश्न

1. स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों की जानकारी दीजिए।
2. स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी आलोचना का परिचय दीजिए।
3. स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कहानी आन्दोलन की जानकारी दीजिए।
4. स्वातन्त्र्योत्तर गद्य-विधाओं का परिचय दीजिए।
5. स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी गद्य साहित्य की पृष्ठभूमि को समझाइए।

5.4.7. सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

1. हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास, गणपतिचंद्र गुप्त
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास, डॉ० नगेन्द्र
3. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
4. आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास, डॉ० बच्चन सिंह

❖❖❖

खण्ड – 5 : छायावादोत्तर युग और स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी साहित्य

इकाई – 5 : प्रवासी भारतीयों का हिन्दी लेखन

इकाई की रूपरेखा

5.5.0. उद्देश्य
5.5.1. प्रस्तावना
5.5.2. प्रवासी भारतीय कौन हैं !
5.5.3. हिन्दी में प्रवासी लेखन
5.5.3.1. गिरमिटिया मज़दूरों के देशों का हिन्दी लेखन
5.5.3.2. भारत के पड़ोसी देशों का हिन्दी लेखन
5.5.3.3. विश्व के अन्य महाद्वीपों का हिन्दी लेखन
5.5.3.3.1. अमेरिका का हिन्दी लेखन
5.5.3.3.2. यूरोप का हिन्दी लेखन
5.5.3.3.3. ब्रिटेन का हिन्दी लेखन
5.5.4. पाठ-सार
5.5.5. बोध प्रश्न
5.5.6. व्यवहार
5.5.7. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

5.5.0. उद्देश्य

प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. प्रवासी की अवधारणा को समझ पाएँगे।
ii. हिन्दी के प्रवासी लेखकों की दुनिया से परिचित हो पाएँगे।
iii. हिन्दी प्रवासी लेखन की मूल विषयवस्तु से परिचित हो सकेंगे।
iv. हिन्दी साहित्य में प्रवासी लेखन को एक अस्मिता के रूप में भी जान पाएँगे।

5.5.1. प्रस्तावना

पिछले कुछ वर्षों से प्रवासी साहित्य तथा साहित्यकारों को केन्द्र में रखकर विचार-विमर्श की रफ़्तार तेज़ हुई है। लेकिन फिर भी बहुत लोग इस संकल्पना से परिचित नहीं हैं कि आखिर 'प्रवासी' किसे कहा जाता है ! प्रवासी साहित्य, प्रवासी भारतीय साहित्य अथवा प्रवासी हिन्दी साहित्य किसे कहते हैं ? इसका स्वरूप कैसा होता है ? इसकी सृजनात्मकता किनमें होती है ? हम किन्हें प्रवासी साहित्यकार कह सकते हैं ? अनेक प्रश्न उभरते हैं ? आइये, पहले हम इन प्रश्नों के बारे में जानने की कोशिश करते हैं।

5.5.2. प्रवासी भारतीय कौन हैं !

भारत में प्रवासी उन्हें कहा जाता है, जो किन्हीं कारणों से विदेश में या देश में ही कुछ समय के लिए या फिर सदैव के लिए बस तो गए हैं लेकिन उनका अपने देश से नाता टूटा नहीं है अर्थात् आजीविका की तलाश में बसने और भटकने वाले लोग प्रवासी हैं। पहले परदेसी अनुभव से मन और झोला नहीं भरा तो फिर चल पड़े किसी और मुल्क की ओर। उनकी यह बड़ी पीड़ा रहती है कि वे जिस-जिस स्थान पर प्रवास करते हैं, उस पर अपना अधिकार नहीं जमा पाते जैसा वे अपनी जन्मभूमि के प्रति महसूस करते हैं। बावजूद इसके अपनी मेहनत से देश और परदेश दोनों को आबाद करते जाते हैं। इनकी भूमिका पर दुनिया की निगाह तब पड़ती है जब ये सत्ता में दखलअंदाजी देने लगते हैं। ब्रिटिश उपनिवेशों में गये गिरमिटिया की आज तीसरी पीढ़ी एक ओर शासन की बागडोर संभाल रही है तो दूसरी ओर वहाँ से फिर किसी अन्य मुल्क में प्रवास करने को मजबूर है।

इस तरह प्रवासियों की चार श्रेणियाँ बनायी जा सकती हैं। पहली श्रेणी में वे लोग हैं, जो गिरमिटिया मज़दूरों के रूप में फिजी, मॉरीशस, त्रिनिडाड, गुआना, दक्षिण अफ्रीका आदि देशों में भेजे गए थे। दूसरी श्रेणी में 80 के दशक में खाड़ी देशों में गये अशिक्षित-अर्द्धशिक्षित, कुशल अथवा अर्द्धकुशल मज़दूर आते हैं। तीसरी श्रेणी में 80-90 के दशक में गए सुशिक्षित मध्यमवर्गीय लोग हैं जिन्होंने बेहतर भौतिक जीवन के लिए प्रवास किया और चौथी श्रेणी में वे लोग हैं जो अपने घर से दूर भारत में ही आजीविका के लिए मजदूरी करते हैं।

इन चार श्रेणियों में से अकादमिया में पहली और तीसरी श्रेणी का ही प्रभुत्व दिखाई देता है। गिरमिटिया मज़दूरों की बाद की पीढ़ियों में से अधिकांश ने रोजगार तथा अन्य कारणों से हिन्दी या भोजपुरी के अलावा दूसरी अंतरराष्ट्रीय भाषाओं को अपना लिया। गिरमिटिया की सन्तानों और अमेरिका-यूरोप में गये मध्यमवर्गीय प्रवासियों ने ही प्रवासी साहित्य को जन्म दिया है। वस्तुतः पराये देशों में पराये होने की अनुभूति और उस अपरिचित परिवेश में समायोजन के प्रयास, नॉस्टेल्जिया, सफलताएँ और असफलताओं को ही प्रवासी आधार माना जा सकता है। प्रवासी साहित्य बहुसंस्कृतियों के संगम के साथ कई अर्थों में मुठभेड़ का साहित्य है। प्रवासी साहित्य में नॉस्टेल्जिया या परायेपन की अनुभूति, रचनात्मक यात्रा का पहला चरण है। दूसरे चरण में, इस मनःस्थिति से संघर्ष शुरू होता है और तीसरे चरण में अपनीनयी पहचान को स्थापित करने की जद्दोजहद दिखाई पड़ती है।

चौथी श्रेणी में आने वाले प्रवासी लोगों की उपस्थिति भारतीय लोकसाहित्य में भारी मात्रा में है। भारत से होने वाले श्रम प्रवसन ने संस्कृति के दायरे में आने वाले रस्मो-रिवाज, संस्कार, विश्वास, गीत, गाथा, नृत्य-नाट्य, कथा-कहानी, देवी-देवता इत्यादि को प्रभावित ही नहीं किया बल्कि बहुत कुछ नये सिरे से उन्हें उत्पन्न भी किया है। श्रमिकों के प्रवसन से विविध प्रकार की लोकसंस्कृतियों का भी जन्म हुआ। भोजपुरी क्षेत्र में बनिजिया लोकसंस्कृति, सिपहिया लोकसंस्कृति एवं बिदेसिया लोकसंस्कृति प्रमुखहैं। इन लोकसंस्कृतियों में प्रवसन के यात्रा-अनुभव बेहद संवेदनशीलता से अभिव्यक्त हुए हैं। मौखिक परम्परा ने लोगों की प्रवसन यात्रा एवं डेस्टीनेटिव अनुभवों को अपनी गोद में सहेजा है।

भारतीय इतिहास की अन्य बड़ी परिघटनाओं की तरह प्रवासी होना भी एक बड़ी परिघटना है। समय-चक्र की तरह इसका भी चक्र-सिद्धान्त है जो बेहद जटिल है। यह उत्थान-पतन के सिद्धान्त के रूप में नहीं, बल्कि एक अजीब विडम्बना के रूप में है। प्रवासियों के लिए जो मुल्क देस था, वही मुल्क अगली पीढ़ी के लिए परदेस हो जाता है और इसके साथ वह परदेश भी उसके लिए परदेश रहता है। अपने खून-पसीने से उसे अपना बनाता है, तब तक उसकी अगली पीढ़ी के लिए कहीं और किसी अन्य देश की ओर प्रस्थान करने के लिए नियति तैयार हो जाती है। ऐतिहासिक परिस्थितियों का दबाव किसी अन्य परदेश की ओर जाने को विवश कर देती है। प्रवसन का यह चक्र वृत्ताकार या होरिजेंटल नहीं, उत्थान-पतन की तरह नहीं बल्कि बहुआयामी है। जिधर दाना-पानी दिखा या दिखाया गया या फिर भगा दिया गया, उधर ही निकल गये। इस तरह प्रवासी होने की प्रक्रिया में विभिन्न समय एवं स्थानों पर होने वाली अविरल गतिशीलता की प्रभाव प्रक्रिया अन्तर्गुंथित है। इसकी अवधारणात्मक समझ में जो वैचारिक पहलू उभरते हैं, वे हैं – देस से परदेस की ओर और परदेश से देश की ओर, 'लेबर' से 'वर्क' की ओर एवं 'माईग्रेशन' से 'सर्कुलेशन' की ओर बढ़कर देखना। इसे कुछ इस तरह भी कहा जा सकता है कि प्रवासी होने के केन्द्र में बेशक परदेशी लोग हैं लेकिन उनके साथ-साथ हैं – वे सभी चीजें, जिन्हें वह अपनी व्यक्तिगत-सोच, सामाजिकता, आचार-विचार, घर-परिवार, भाषा-संस्कृति इत्यादि के ज़रिये समुदाय, जाति, धर्म, देश-परदेश की संस्कृति इत्यादि को प्रभावित करता चलता है और उनसे प्रभावित भी होते चलता है। प्रभावन की गतिशीलता भूमण्डलीकरण के दरम्यान जितनी तेजी से फैली है, उतनी तीव्रता से उसके पहले कभी नहीं फैली।

5.5.3. हिन्दी में प्रवासी लेखन

हिन्दी में प्रवासी लेखन यद्यपि नये युग का साहित्यिक विमर्श है, परन्तु इसकी शुरुआत प्रेमचंद की 'यही मेरी मातृभूमि है' (1908) तथा 'शूद्रा' (1926) कहानियों से होती है। इन कहानियों में अमेरिका से लौटे भारतीय प्रवासी तथा मॉरिशस ले जाये गए भारतीय गिरमिटिया मज़दूरों की कहानियाँ हैं। फिजी के सम्बन्ध में प्रवासी तोताराम और पण्डित बनारसीदास चतुर्वेदी की पुस्तकें प्रकाशित हुईं और 'चाँद' जनवरी, 1926 में प्रकाशित 'प्रवासी अंक' से भारतीय प्रवासी समाज की साहित्य में अवतारणा हुई। इसके पूर्व महात्मा गाँधी दक्षिण अफ्रीका में भारतीय प्रवासियों के अधिकारों की लड़ाई छेड़ चुके थे, लेकिन हिन्दी साहित्य के सन्दर्भ में भारतेतर देशों में मॉरिशस का हिन्दी-साहित्य ही अपना स्थान बना सका और अभिमन्यु अनत के उपन्यासों, कहानियों, कविताओं आदि ने इसमें प्रमुख भूमिका अदा की। अभिमन्यु अनत की लगभग आधी शताब्दी की हिन्दी-साधना से एक नयी संवेदना तथा चिन्तनधारा एवं परिवेश का साहित्य हिन्दी-पाठकों तक पहुँचा, परन्तु तब वह प्रवासी साहित्य के रूप में नहीं, बल्कि मॉरिशस के हिन्दी-साहित्य के रूप में जाना जाता था, किन्तु अमेरिका, इंग्लैंड आदि देशों के प्रवासी भारतीयों की हिन्दी-रचनाओं और कृतियों के प्रकाशन का दौर जब शुरू हुआ तो इसके साथ ही प्रवासी साहित्य की चर्चा आरम्भ हुई। इंग्लैंड में इस साहित्य के विकास में वहाँ रह चुके भारतीय उच्चायुक्त डॉ॰ लक्ष्मीमल्ल सिंघवी का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा। इसी प्रकार के प्रयास अमेरिका में वेदप्रकाश 'बटुक', कुँवर चंद्रप्रकाश सिंह रामेश्वर अशान्त, गुलाब खंडेलवाल, विजय मेहता, उषा प्रियंवदा, सुषम बेदी, सुधा ओम ढींगरा, अंजना संधीर, देवेंद्रसिंह आदि ने किये और हिन्दी-भाषा एवं साहित्य की धारा प्रवाहित हुई।

हिन्दी में प्रवासी लेखन की पहचान दो रूपों में होती है – (i) प्रवासी भारतीयों का साहित्य और (ii) भारतवंशियों का साहित्य। प्रवासी साहित्य में अमेरिका, इंग्लैंड, आस्ट्रेलिया, नीदरलैंड, नार्वे, डेनमार्क आदि देशों में भारतीय प्रवासियों की पहली पीढ़ी का साहित्य आता है, जो बेहतर जीवन एवं शिक्षा के लिए इन देशों में गये और अपने हिन्दी-प्रेम के कारण उसे अपनी अभिव्यक्ति की भाषा बनाया। भारतवंशियों के हिन्दी साहित्य में मॉरिशस, फिजी, सूरीनाम, त्रिनिडाड आदि देशों का साहित्य आता है, जिनका जन्म इन देशों में हुआ है और ये लेखक भारतभूमि और उसकी संस्कृति, धर्म, परम्पराओं आदि से स्वयं को जोड़े हुए हैं और इस प्रकार ये दो भिन्न धाराएँ होने पर भी प्रवासी भारतीयों तथा उनके वंशजों का हिन्दी-साहित्य, प्रवासी भारतीय संवेदना एवं चेतना का व्यापक परिदृश्य प्रस्तुत करता है, जिसे भारत और भारतीयता के विस्तार के रूप में देखा जा रहा है।

आज भूमण्डलीकरण तथा तकनीकी विकास ने भिन्न-भिन्न मानव-समूहों, समाजों और सांस्कृतिक-साहित्यिक अवधारणाओं के सम्मिलन ने एक नये मानवीय समाज की सृष्टि को सम्भव बना दिया है। इसी कारण से हिन्दी का प्रवासी साहित्य इस नये युग का साहित्यिक विमर्श है, जो राजनीति, अर्थ, समाज, उद्योग, संस्कृति, कूटनीति आदि सभी क्षेत्रों को प्रभावित कर रहा है। अतः प्रवासी साहित्य इस नये युग के विमर्श के साथ उसकी आवाज़ भी है। उसकी संवेदना, जीवन-दृष्टि, परिवेश और सरोकार सभी नये हैं, उसमें स्वदेश-परदेश का द्वन्द्व है, जो हिन्दी-पाठक के लिए नया है, विदेशी धरती पर भारतीय जीवन-मूल्यों से सीधी टकराहट है और कहीं-कहीं इन मूल्यों को रोपने की चेष्टा भी है और वह हिन्दी-विश्व में जन्म लेने के कारण वैश्विक है। प्रवासी साहित्य भारतेतर हिन्दी-साहित्य की पहचान है।

भारत में रचे जाने वाले हिन्दी साहित्य से यह प्रवासी हिन्दी साहित्य संवेदना, परिवेश और सरोकार में एकदम भिन्न है, क्योंकि उनकी चिन्ताएँ, समस्याएँ तथा संघर्ष भारत के लेखक से भिन्न हैं। इस प्रकार हिन्दी प्रवासी साहित्य दो दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है – एक, वह अपनी मौलिकता तथा विशिष्टता रखता है और हिन्दी साहित्य में कुछ नया जोड़ता है। दूसरे, वह हिन्दी साहित्य को वैश्विक बनाने में महत्त्वपूर्ण योगदान करता है।

विश्व की प्रमुख भाषाओं में हिन्दी-भाषा की स्थिति बहुत मजबूत है। हिन्दी-भाषा का अध्ययन-अध्यापन विश्व के छियालीस से अधिक देशों में होता है, परन्तु सभी देशों में हिन्दी में साहित्य की रचना नहीं होती। हिन्दी के प्रवासी साहित्य को मुख्यतः तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है –

(1) गिरमिटिया मज़दूरों के देशों का हिन्दी लेखन – इनमें मॉरिशस, फिजी, सूरीनाम, गयाना, दक्षिण अफ्रीका, त्रिनिडाड एंड टुबैगो आदि देश आते हैं।

(2) भारत के पड़ोसी देशों का हिन्दी लेखन – इन देशों में नेपाल, पाकिस्तान, बांग्लादेश, भूटान, श्रीलंका, म्याँमार आदि देशों की गणना की जाती है।

(3) विश्व के अन्य महाद्वीपों का हिन्दी लेखन – विश्व के अन्य महाद्वीपों को निम्नलिखित पाँच भागों में बाँटा जा सकता है –

(i) अमेरिका महाद्वीप : संयुक्त राष्ट्र अमेरिका, कनाडा, मैक्सिको, क्यूबा आदि।

(ii) यूरोप महाद्वीप : रूस, ब्रिटेन, जर्मनी, फ्रांस, बेल्जियम, हालैंड, नीदरलैंड, नार्वे, डेनमार्क, आस्ट्रिया, स्विट्जरलैंड, स्वीडन, फिनलैंड, इटली, पोलैंड, चेकोस्लोवाकिया, हंगरी, रोमानिया, बल्गारिया, उक्रेन, क्रोशिया आदि।

(iii) मध्य-एशिया के देश : इनमें अधिकांश मुस्लिम देश हैं। ईराक, ईरान, आबूधाबी, टर्की आदि।

(iv) एशिया महाद्वीप : चीन, जापान, कोरिया, थाईलैंड आदि।

(v) आस्ट्रेलिया : आस्ट्रेलिया आदि।

5.5.3.1. गिरमिटिया मज़दूरों के देशों का हिन्दी लेखन

आप जान चुके हैं कि उन्नीसवीं शताब्दी के चौथे दशक से भारतीयों को हजारों-लाखों की संख्या में गिरमिटिया मज़दूर के रूप में मॉरिशस, फिजी, सूरीनाम, दक्षिण अफ्रीका आदि देशों में ले जाना शुरू किया। मॉरिशस में सन् 1834 ई. से सन् 1910 ई. के बीच, गयाना में सन् 1838 ई., त्रिनिदाद में सन् 1845 ई., दक्षिण अफ्रीका में सन् 1860 ई., सूरीनाम में सन् 1873 ई. और फिजी में सन् 1879 ई. में भारतीय मज़दूरों का पहला जत्था पहुँचा। ये सभी भारतीय एक ही जैसी परिस्थितियों में कोलकाता तथा चैन्नई के बंदरगाहों से जहाज में लादकर इन देशों में भेजे गए थे। कुछ तो रास्ते में ही मर गए और जो जीवित बचे, वे बुरे हाल में अपने गंतव्य पर पहुँचे। वहाँ पहुँचते ही तुरन्त उन्हें गोरे मालिकों को सौंप दिया गया। इन भारतीयों के साथ गुलामों जैसा व्यवहार हुआ, छोटी-सी भूल पर कोड़ों की मार पड़ती, रहने के लिए फूस की एक झोंपड़ी मिलती, जिसमें रस्सी की एक खाट और भोजन पकाने के लिए एक हाँडी होती। इस कोठरी में कई लोग साथ में रहते और वह रोग का घर बन जाता। ऐसी दुर्दशा तथा घोर दासत्व की स्थिति में रहने वाले भारतीय मज़दूर अधिकांशतः पूर्वी उत्तरप्रदेश तथा बिहार के थे, जो भोजपुरीभाषी थे, किन्तु कुछ लोग दक्षिणभारत और महाराष्ट्र के भी थे। इनमें कुछ भारतीय मज़दूर अपने साथ 'रामचरितमानस', 'हनुमान चालीसा', 'आल्हा', 'सत्यनारायण कथा', 'महाभारत', 'गीता', 'सुखसागर' आदि ग्रन्थ ले गए थे, जिनके कारण ये भारतीय विपत्ति, शोषण और व्यथा को सहन करने का साहस तथा अपनी संस्कृति एवं भाषा को जीवित रखने का अटूट संकल्प करसके।

आज मॉरिशस के अनेक स्कूलों में हिन्दी पढ़ाई जाती है। महात्मा गाँधी संस्थान में स्नातक, स्नातकोत्तर कक्षाओं के साथ हिन्दी में शोधकार्य भी कराया जाता है। हिन्दी-कविताओं को खोजने का महत्त्वपूर्ण कार्य मॉरिशस के प्रह्लाद रामशरण ने किया है। इनके सम्पादन में दो काव्य-संग्रह छपे हैं – 'मॉरिशस का आदिकाव्य-कानन' तथा 'मॉरिशस के मध्यकालीन काव्य-प्रसून'। इनका प्रकाशन सन् 1997 ई. में हुआ। 'मॉरिशस का आदिकाव्य-कानन' पुस्तक में सन् 1913 ई. से सन् 1930 ई. के बीच प्रकाशित एक सौ दस कविताएँ संकलित हैं, जो तीस से अधिक नामधारी एवं पच्चीस अनामधारी कवियों द्वारा लिखी गई हैं। इन काव्य-रचनाओं में यद्यपि भोजपुरी, खड़ीबोली, अवधी, क्रियोली आदि भाषाओं का सम्मिश्रण है। मॉरिशस की हिन्दी-कविता के मध्यकाल (सन् 1935 ई. से सन् 1968 ई. तक) में तीन प्रकार से हिन्दी-कविताओं का प्रकाशन होता है – (i) पत्र-पत्रिकाओं में, (ii) व्यक्तिगत कविता-संग्रहों में तथा (iii) सामूहिक कविता-संकलनों में। इस समय जयनारायण राय से लेकर राष्ट्रकवि ब्रजेंद्रकुमार भगत 'मधुकर' का आविर्भाव होता है। 'मधुकर' ने देश, धर्म, राजनीति,

समाज, अर्थ, संस्कृति, मनोभाव, हिन्दी-भाषा आदि पर कविताएँ लिखी हैं । मॉरिशस की हिन्दी-कविता का आधुनिककाल सन् 1968 ई. से आरम्भ होता है, जब 12 मार्च 1968 को मॉरिशस स्वतन्त्र देश बना । इस कालखण्ड में मध्यकाल के कुछ कवियों के साथ अनेक नये प्रतिभासम्पन्न कवियों का आविर्भाव हुआ, कई नयी हिन्दी पत्र-पत्रिकाएँ आरम्भ हुईं, जिनके माध्यम से नये कवि सामने आए । इस युग के प्रमुख कवियों में ब्रजेंद्रकुमार भगत 'मधुकर', सोमदत्त बखोरी, मुनीश्वरलाल चिंतामणि, अभिमन्यु अनत, इंद्रदेव भोला, मोहनलाल, बृजमोहन, हरिनारायण सीता, वेणीमाधव रामखेलावन, मोहनलाल हरदयाल, पूजानंद नेमा, धर्मवीर घूरा, लखवती हरगोविंद, सूर्यदेव सिबरत, महोदत्त नेमा, जनार्दन कालीचरण, नारायणदत्त दोसई, महेश रामजियावन, धनराज शंभू, मुकेश जीबोध, सुमति बुधन, हेमराज सुन्दर, राज हीरामन, लालदेव अंचरज, चंपावती बुम्मा, राजरानी गोबिन, जय जीऊत, साहेबा फर्जली, बृजलाल रामदीन 'करुण', अनीता ओजाएब, दानीश्वर शाम, साबिर गूदर आदि उल्लेखनीय हैं ।

मॉरिशस के हिन्दी साहित्य में गद्य की विधाओं का भी समुचित विकास हुआ है । इनमें उपन्यास, कहानी, लघुकथा, नाटक, यात्र-वृत्तांत, संस्मरण, भेंटवार्ता, निबन्ध आदि विधाओं में रचनाएँ मिलती हैं । मॉरिशस में उपन्यास-लेखन का आरम्भ सन् 1960 ई. से हुआ, जब कृष्णलाल बिहारी का उपन्यास 'पहला कदम' प्रकाशित हुआ । अभिमन्यु अनत के उपन्यास-लेखन में आगमन से वे ही उसके वास्तविक जनक और विस्तारक बने । उपन्यास के क्षेत्र में मॉरिशस में अभिमन्यु अनत अकेले ऐसे लेखक हैं, जिन्होंने इतनी बड़ी संख्या में उपन्यासों की रचना की है । अनत ने अपने देश के गूँगे एवं चीखते इतिहास को 'लाल पसीना', 'गाँधी जी बोले थे' तथा 'और पसीना बहता रहा' की उपन्यास-त्रयी में प्रस्तुत किया । मॉरिशस की हिन्दी-कहानी का इतिहास उपन्यास से भिन्न है । यद्यपि कहानी में भी अभिमन्यु सबसे बड़े लेखक हैं, परन्तु दूसरे प्रतिभा-सम्पन्न लेखकों का अभाव नहीं है ।

मॉरिशस में हिन्दी-नाटक तथा रंगमंच का उद्भव और विकास बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में ही हो गया था । आरम्भ में नाटक का प्रयोजन धार्मिक भावना और मनोरंजन था । उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में 'रामलीला', 'इंद्रसभा', 'कृष्ण-लीला' आदि धार्मिक नाटकों की धूम थी । इनका मंचन धार्मिक पर्व-उत्सव तथा शादी-विवाह के अवसरों पर होता था । मॉरिशस में जब बंबई की नाटक कंपनियों ने जाना शुरू किया तो खड़ीबोली का विकास हुआ और नाटक एवं रंगमंच की उन्नति हुई । रेडियो तथा सिनेमा के आगमन पर जयनारायण राय, ब्रजेंद्रकुमार भगत 'मधुकर', सोमदत्त बखोरी, जानकी और लक्ष्मणप्रसाद रामयाद आदि ने भारतीय लेखकों की कहानियों पर रेडियो नाटक तथा एकांकी लिखे और उनका प्रसारण हुआ ।

गिरमिटिया मज़दूरों के देशों में फ़िजी दूसरा महत्त्वपूर्ण देश है, परन्तु वहाँ हिन्दी साहित्य का मॉरिशस जैसा विकास नहीं हुआ, यद्यपि वहाँ रेडियो, टेलीविजन, स्कूल, पार्लियामेंट आदि स्थानों पर हिन्दी मिलेगी । फ़िजी के बारे में पहली हिन्दी पुस्तक तोताराम सनाढ्य की थी, जो सन् 1914 ई. में 'फिजी में मेरे इक्कीस वर्ष' शीर्षक से छपी थी । इससे भारत के लोगों को फिजी में गये भारतीय लोगों की दुर्दशा का ज्ञान हुआ । इस पुस्तक के प्रेरक थे पण्डित बनारसीदास चतुर्वेदी । चतुर्वेदी जी पहले भारतीय हिन्दी-लेखक थे, जिन्होंने प्रवासी भारतीयों के विकट समस्याओं से, पुस्तकें लिखकर देश को अवगत कराया । कथा के क्षेत्र में फ़िजी के ज्ञानीदास की चार पुस्तकें

प्रकाशित हुईं – 'भारतीय उपनिवेश फिजी', 'गुप्त-शक्तियाँ', 'फिजी-गल्पिका' तथा 'मृदुला' । पण्डित कमलाप्रसाद मिश्र की 'भूली हुई कहानियाँ' आज भी वहाँ के घरों में मिल जाती है। जोगिंद्रसिंह 'कँवल' के चार उपन्यास छपे हैं – 'करवट', 'सवेरा', 'धरती मेरी माता' एवं 'सात समुद्र पार'। उनका एक कविता-संग्रह 'यादों की खुशबू' तथा 'मेरा देश मेरे लोग' भी प्रकाशित हुए हैं। इन पुस्तकों में फिजी के प्रवासी भारतीयों के जीवन का इतिहास है। हिन्दी कवियों में कमलाप्रसाद मिश्र (1913-1996) सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं। फिजी के प्रवासी साहित्य में अमरजीत कौर के कविता-संग्रह 'चलो चलें उस पार' तथा 'उपहार' तथा जोगिंद्रसिंह 'कँवल' के सम्पादन में प्रकाशित 'फिजी का हिन्दी काव्य-साहित्य' भी उल्लेखनीय है । फिजी के कुछ अन्य हिन्दी रचनाकार हैं – काशीराम कुमुद, सुब्रमनी, महावीर मिश्र, महेंद्रचंद्र शर्मा, विनोद, ज्ञानीदास, ईश्वरप्रसाद चौधरी, रामनारायण, सलीम बख्श, अनुभवानंद आनंद, बलराम वशिष्ठ, बाबू कुँवरसिंह, सुखराम, रामअवतार गुप्त, अक्षैबरसिंह, अमरजीत कँवल, विजयेंद्र सुधाकर, राघवानंद शर्मा, सरस्वती देवी, कल्लू, ए.ए. शमीम, चंद्रदेव सिंह, रामनारायण गोविंद, बाबूराम 'अरुण', आर.एस. प्रसाद मुनि, करुनागरन नायर आदि।

भारत में जिन देशों में गिरमिटिया मज़दूर गए, उनमें सूरीनाम सबसे अधिक दूरी पर है, लेकिन वहाँ भी भारतीय प्रवासियों तथा उनके वंशजों ने भारतीय संस्कृति, आचार-व्यवहार आदि को जीवित रखा है। सूरीनाम में रहे भारत के राजदूत बच्चूप्रसाद सिंह ने लिखा है, "एक सदी से अधिक समय बीत गया, किन्तु इस देश के साथ हमारे सांस्कृतिक बन्धन कुछ ऐसे सुदृढ़ हैं कि सूरीनाम आकर ऐसा नहीं लगता है कि हम किसी अजनबी देश में आ गए हैं। वहाँ पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार के गीत-संगीत, खान-पान, वेशभूषा और पूरी जीवन-शैली पर अवधी-भोजपुरी क्षेत्र का अमिट प्रभाव है। मॉरिशस की तुलना में सूरीनाम के प्रति भारतीयों का आकर्षण एवं उत्सुकता बहुत देर से उत्पन्न हुई, जिसका सम्भवतः कारण यही था कि दूरी अधिक होने के कारण सम्पर्क बहुत ही कम था। यहाँ सरनामी हिन्दी लोकप्रिय है, जिसमें भोजपुरी, अवधी, हिन्दी, ब्रज, उर्दू, मगही, डच, अँग्रेज़ी आदि का मिश्रण है। पुस्तकें यहाँ कम छपी हैं। मुंशी रहमान खान की दो पुस्तकें मिलती हैं – 'ज्ञानप्रकाश' तथा 'दोहा शिक्षावली'। सूरीनाम के कुछ अन्य लेखक हैं – महादेव, खुनखुन, मार्तिन हरिदत्त लछमन, सुरजन पुरोही, चंद्रमोहन, अमरसिंह रमण, रामदेव रघुबीर, रामनारायण झाव, हरिदेव सहतू तथा नयी पीढ़ी के पं.सुशील बलदेव, उषा गोपी, अमित अयोध्या, तेजप्रसाद खोई आदि।

त्रिनिडाड एवं टुबैगो दो सुन्दर द्वीपों का सदाबहार देश है। यह दक्षिण अमेरिका के देश वेनुजुएला के समुद्रतट से कुछ दूरी पर कैरेबियन सागर में स्थित है। यहाँ 30 मई 1845 को दो सौ बारह भारतीय मज़दूरों को लेकर जलपोत यहाँ के बंदरगाह पोर्ट ऑफ स्पेन पहुँचा था। यहाँ भी अधिकांश भारतीय पूर्वी उत्तरप्रदेश तथा बिहार के थे और उनके पास 'रामचरितमानस', 'हनुमान-चालीसा' आदि धार्मिक ग्रन्थ थे। सन् 1870 ई. के आसपास ईसाई मिशनरी यहाँ पहुँचे और धर्म-प्रचार के साथ अँग्रेज़ी-हिन्दी की शिक्षा आरम्भ की, लेकिन दूसरी-तीसरी पीढ़ियों तक हिन्दी छूटती गई और अँग्रेज़ी बढ़ती रही। भारत के स्वतन्त्र होने पर यहाँ की स्थिति कुछ बदली और सन् 1952 ई. में आनंदमोहन सहाय के भारतीय राजदूत बनकर आने पर 'हिन्दी एजुकेशनल बोर्ड' की स्थापना हुई। इसके उपरान्त सन् 1966 ई. में प्रो॰ हरिशंकर आदेश, सन् 1979 ई. में प्रो॰ भूदेव शर्मा, सन् 1999

ई. में डॉ॰ प्रेम जनमेजय तथा प्रो॰ जगन्नाथन एवं डॉ॰ सुरेश ऋतुपर्ण आदि ने त्रिनिडाड जाकर वहाँ हिन्दी-शिक्षण तथा साहित्य-रचना की प्रवृत्ति में महत्त्वपूर्ण योगदान किया। त्रिनिडाड में हिन्दी सुनने तथा हिन्दी-शिक्षण पर अधिक जोर है, लिखने में अभिरुचि बहुत कम है। यही कारण है कि छुट-पुट प्रयासों के अतिरिक्त हिन्दी में लिखने की कोई परम्परा नहीं बन पाई। जमैका में चिकित्सक डॉ॰ सीताराम पोद्दार ने 'हिन्दी-क्लब' बनाकर हिन्दी-शिक्षण शुरू किया। वे दूतावास के सहयोग से प्रत्येक 10 जनवरी को हिन्दी-दिवस मनाते हैं और विद्यार्थियों से हिन्दी कविता, लेख आदि लिखवाते हैं।

5.5.3.2. भारत के पड़ोसी देशों का हिन्दी लेखन

भारत के पड़ोसी देशों में हिन्दी साहित्य की रचना की स्थिति सुखद नहीं है। पाकिस्तान का उर्दू साहित्य तो हिन्दी में खूब अनूदित हुआ है, लेकिन वहाँ किसी लेखक ने देवनागरी लिपि में रचना की हो, इसका कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। बांग्लादेश की स्थिति भी यही है। वहाँ के बांग्ला लेखकों की रचनाएँ हिन्दी में छपती रही हैं। बर्मा में एक ऐसा समय था, जब सत्यनारायण गोयनका, चंद्रप्रकाश प्रभाकर 'मौतीरि', हिन्दी साहित्य सम्मेलन बर्मा, आर्यसमाज, सनातन धर्म, राष्ट्रभाषा प्रचार समिति वर्धा (बर्मी शाखा), दीनानाथ, डॉ॰ ओमप्रकाश वर्मा, रामप्रसाद वर्मा, श्यामचरण मिश्र आदि ने हिन्दीभाषा एवं साहित्य के विकास के लिए महत्त्वपूर्ण कार्य किए। चंद्रप्रकाश प्रभाकर 'मौतीरि' ने 'गोदान' का बर्मी में अनुवाद किया और बर्मी साहित्य की हिन्दी में अनूदित सौ से भी अधिक पुस्तकों को इरावती प्रकाशन, नयी दिल्ली से प्रकाशित किया। नेपाल में कई शताब्दियों से पहले से ही हिन्दी का प्रयोग होता रहा है तथा वहाँ अनेक हस्तलिखित कृतियाँ मिलती हैं। नेपाल के हिन्दी प्रो॰ सूर्यनाथ गोप के अनुसार नेपाल में हिन्दी-ग्रन्थों की संख्या एक हजार से अधिक है, परन्तु अधिकांश अप्रकाशित हैं तथा उनकी कोई व्यवस्थित सूची भी उपलब्ध नहीं है। हिन्दी के प्रसिद्ध गीतकार गोपालसिंह 'नेपाली' तो नेपाल के ही थे।

5.5.3.3. विश्व के अन्य महाद्वीपों का हिन्दी लेखन

5.5.3.3.1. अमेरिका का हिन्दी लेखन

अमेरिका में भारतीयों के आगमन का पहला लिखित प्रमाण सन् 1670 ई. का मिलता है, फिर सन् 1788 ई. में व्यापार का और सन् 1898 ई. में कुछ भारतीय कृषक प्रवासी के रूप में वहाँ पहुँचे। स्वामी विवेकानन्द की सन् 1893 ई. की अमेरिका यात्रा से तो दोनों देशों के सम्बन्धों का नया इतिहास शुरू हुआ। सन् 1908 ई. में तारकनाथ पहले भारतीय थे, जो वाशिंगटन यूनिवर्सिटी में अध्ययन के लिए अमेरिका पहुँचे। बीसवीं सदी के सातवें दशक से शिक्षित भारतीयों का अमेरिका जाने का नया दौर शुरू हुआ, जब भारतीय वहाँ उच्च शिक्षा के साथ उच्च एवं समृद्ध जीवन के लिए जाने लगे। इन भारतीयों में हिन्दी एवं अहिन्दीभाषी सभी प्रदेशों के लोग थे और बहुत लोग अपनी भाषा, धर्म, संस्कृति, साहित्य की रक्षा के प्रति संवेदनशील थे। इसी से प्रेरित होकर वहाँ भारतीय विद्या भवन, चिन्मय शिक्षा, हिन्दू मन्दिर तथा साहित्यिक एवं भाषिक संस्थाओं की स्थापना हुई। अमेरिका में कुँवर चंद्रप्रकाश सिंह ने 'अंतर्राष्ट्रीय हिंदी समिति' की 1980 में स्थापना की और कवि-सम्मेलनों की

परम्परा आरम्भ की । उसके बाद रामेश्वर अशान्त, कृष्ण किशोर, गुलाब खंडेलवाल, भूदेव शर्मा, वेदप्रकाश 'बटुक', प्रो॰ राम चौधरी, विजयकुमार मेहता, सुषम बेदी, अंजना संधीर, सुधा ओम ढींगरा, रेणु गुप्ता राजवंशी, देवेंद्रसिंह आदि हिन्दी साहित्यकारों, हिन्दी प्रोफेसरों तथा हिन्दीप्रेमियों ने वहाँ हिन्दी भाषा एवं साहित्य का ऐसा संसार निर्मित कर दिया है कि हिन्दी के प्रवासी साहित्य में उसने अपनी अलग पहचान बना ली है । भूदेव शर्मा ने 'हिन्दू एजूकेशन एंड रिलीजियस सोसाइटी ऑफ अमेरिका' बनायी और हिन्दी में 'विश्व विवेक' त्रैमासिक पत्रिका निकाली । 'विश्व विवेक' लगभग बारह वर्ष तक प्रकाशित हुई । उन्होंने अनेक प्रवासी प्रोफेसरों, इंजीनियरों, डॉक्टरों आदि की हिन्दी-रचनाएँ प्रकाशित करके हिन्दी का वातावरण निर्मित किया । कुँवर चंद्रप्रकाश सिंह ने 'अंतर्राष्ट्रीय हिंदी समिति' की स्थापना की और 'विश्वा' त्रैमासिक हिन्दी-पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ किया । इसके साथ गुलाब खंडेलवाल जैसे प्रवासी लेखक भी जुड़े और उसके सम्पादक-मण्डल में भी रहे । अमेरिका में हिन्दी-कविता के लिखने की प्रवृत्ति सर्वाधिक है, क्योंकि कविता कम समय चाहती है और वहाँ के रचनाकारों के पास समय का अभाव रहता है ।

5.5.3.3.2. यूरोप का हिन्दी लेखन

इंग्लैंड में प्रवासी भारतीयों ने कविता, कहानी, नाटक, पत्रकारिता आदि विधाओं में महत्त्वपूर्ण कार्य किया है । इधर ब्रिटेन के प्रवासी हिन्दी साहित्य पर दो पुस्तकें आई हैं – राधाकांत भारती द्वारा सम्पादित 'ब्रिटेन में हिंदी रचनाकार' तथा उषा राजे सक्सेना की 'ब्रिटेन में हिंदी' । इनमें उषा राजे की पुस्तक इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है कि वह ब्रिटेन में हिन्दी भाषा और साहित्य के विकास और उसके इतिहास को प्रामाणिकता के साथ प्रस्तुत करती है । वैसे 'पुरवाई' पत्रिका ने ब्रिटेन के हिन्दी संसार के सम्बन्ध में बहुत सामग्री दी है । ब्रिटेन में हिन्दी के प्रति रुचि मिस्टर पिन्कॉट, डॉ॰ एल.एफ. रूनाल्ड हर्नली, डॉ॰ ग्रियर्सन, मैक ग्रेगर आदि ने उत्पन्न की । हरिवंशराय 'बच्चन' के सन् 1951 ई. में अध्ययन के लिए ब्रिटेन जाने पर उनकी प्रेरणा से 'हिंदी परिषद्, लंदन' की स्थापना हुई और पाँच वर्ष तक हिन्दी के कई कार्यक्रम हुए और प्रवासी भारतीयों के मन में अपने धर्म, संस्कृति, कला, साहित्य, संगीत के प्रति आकर्षण बढ़ता गया । वहाँ 1962-63 में 'मुसाफिर' एवं 'बड़े साहब' नाटक खेले गए और नरेश भारतीय ने 'चेतक' 1967 पत्रिका निकाली तथा 'प्रवासिनी' एवं 'अमरदीप' आदि हिन्दी-पत्रिकाओं का भी प्रकाशन हुआ । अब हिन्दीप्रेमियों ने छोटी-छोटी संस्थाएँ बनाईं । कैम्ब्रिज एवं ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालयों में हिन्दी-शिक्षण शुरू हुआ तथा बी॰बी॰सी॰ की हिन्दीसेवा का भी आरम्भ हुआ । डॉ॰ लक्ष्मीमल्ल सिघवी के इंग्लैंड में भारतीय उच्चायुक्त होने पर इस स्थिति में और विकास हुआ और उनकी प्रेरणा से 'हिंदी समिति, यू.के.', 'अहिंसम्', 'हिंदीभाषा समिति मैनचेस्टर', 'कथा – यू.के.', 'साउथ लंदन गिल्ड ऑफ हिंदी विमेन राइटर्स', 'कृति : यू.के.', 'वातायन' 2003, 'प्रवासी काव्यधारा' आदि की स्थापना हुई । पत्रिकाओं में अब 'पुरवाई', 'प्रवासी टुडे', 'लंदन टाइम्स' आदि का प्रकाशन हो रहा है ।

5.5.3.3.3. ब्रिटेन का हिन्दी लेखन

ब्रिटेन में प्रवासी भारतीय प्रायः उच्च शिक्षा प्राप्त हैं, उच्च पदों पर कार्यरत हैं, उनकी पत्नियाँ भी शिक्षित हैं, हिन्दी-गुजराती आदि उनकी मातृभाषाएँ हैं लेकिन इनके मन में भारत और भारतीय संस्कृति, भाषा, साहित्य आदि के प्रति प्रेम है और वे दो भिन्न संस्कृतियों तथा जीवन-शैलियों के तनावों और विसंगतियों के द्वन्द्व में जी रहे हैं। ये वे लोग हैं, जो बेहतर भौतिक जीवन के लिए स्वेच्छा से ब्रिटेन आदि देशों में गए, लेकिन गोरों के सम्मुख हीनता-बोध में रह रहे हैं। इन भारतीयों में से कुछ ने अपनी अनुभूतियों, संवेदनाओं को हिन्दीभाषा में अभिव्यक्त करना शुरू किया तो वह भारत के हिन्दी-समाज तक पहुँचने लगा। ब्रिटेन के प्रवासी हिन्दी लेखकों का भारत आना-जाना होता रहा है और साहित्य अकादमी ने तो उनके स्वागत-सम्मान में 'प्रवासी मंच' ही शुरू कर दिया। इस प्रकार तीन-चार दशकों से प्रवासी हिन्दी लेखकों की कृतियों में विशिष्ट संवेदनाएँ अभिव्यक्त होने लगी हैं।

5.5.4. पाठ-सार

भारतेतर देशों में भारतवंशियों के हिन्दी साहित्य ने अपना एक भरा-पूरा संसार निर्मित किया है और उसके आकार, मात्र एवं स्तर में निरन्तर वृद्धि हो रही है। इस प्रवासी हिन्दी साहित्य ने अपनी विशिष्ट पहचान बनायी है, क्योंकि वह अपनी संवेदना, सरोकार, जीवन-मूल्यों एवं रूप-रचना में अपनी अलग विशिष्टता रखता है। परदेश में रहते हुए स्वदेश को देखने का दृष्टिकोण बदलता है और वहाँ की परिस्थितियाँ, जीवन-संघर्ष आदि भी जीवन को देखने, समझने, जीने के दृष्टिकोण में क्रान्तिकारी रूप से उद्वेलन एवं परिवर्तन उत्पन्न करते हैं। प्रवासी लेखक अनेक बार स्वदेश-परदेश के द्वन्द्व में जीता है और नयी-नयी अनुभूतियों, तनावों और विसंगतियों से गुजरता है और रचना में नये भाव-बोध, नया दृष्टिकोण तथा नये जीवन-मूल्यों की सर्जना होती है। हिन्दी को इस प्रकार एक नये प्रकार का साहित्य मिलता है जो भारत में रहते हुए नहीं रचा जा सकता था।

प्रवासी साहित्य ने हिन्दी को वैश्विक रूप प्रदान किया है। हिन्दी का प्रवासी साहित्य भारतेतर देशों को भारत से जोड़ने का एक सेतु बनाता है, जिसके मूल में भारतवंशियों के स्वदेश-प्रेम, भाषा-प्रेम, संस्कृति-प्रेम उनकी संलग्नता, सहभागिता एवं सहयोग अटूट रूप में सम्बद्ध है। यह सेतु विश्वव्यापी हिन्दी साहित्यिक समाज का निर्माण करता है, विभिन्न देशों के हिन्दी-लेखक एवं हिन्दी-समाज भारत के हिन्दी-समाज से जुड़ते हैं और परस्पर एक-दूसरे के निकट आकर हिन्दी-विश्व को स्थायित्व प्रदान करते हैं। भारतेतर देशों में भारतवंशियों के इस हिन्दी साहित्य ने अपना एक भरा-पूरा संसार निर्मित किया है। इस प्रवासी हिन्दी साहित्य ने परदेश में रहते हुए स्वदेश को देखने का दृष्टिकोण बदला है और वहाँ की परिस्थितियों, जीवन-संघर्ष आदि को देखने, समझने, जीने के दृष्टिकोण में क्रान्तिकारी रूप से उद्वेलन एवं परिवर्तन उत्पन्न किया है। प्रवासी लेखक अनेक बार स्वदेश-परदेश के द्वन्द्व में जीता है, नयी-नयी अनुभूतियों, तनावों और विसंगतियों से गुजरता है और उसकी रचना में नये भाव-बोध, नया दृष्टिकोण तथा नये जीवन-मूल्यों की सर्जना होती है। हिन्दी के प्रवासी साहित्य ने हिन्दी साहित्य की एक नयी दिशा, एक नया साहित्यिक संसार, एक नया विचार, नयी संवेदना, नयी जीवन-दृष्टि तथा नया सरोकार प्रस्तुत

किया है। हिन्दी पाठक इससे समृद्ध हुआ है। प्रवासी साहित्य के माध्यम से उसे वैश्विक चेतना की अनुभूति करने का अवसर मिला है।

5.5.5. बोध प्रश्न

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. सुषम वेदी किस देश में रहकर हिन्दी लेखन कर रही हैं ?

(क) कनाडा

(ख) अमेरिका

(ग) संयुक्त अरब अमीरात

(घ) इंग्लैंड

2. 'लाल पसीना' निम्नलिखित में किस रचनाकार की औपन्यासिक कृति है ?

(क) रामदेव धुरन्धर

(ख) अभिमन्यु अनत

(ग) सरिता बुधु

(घ) प्रह्लाद रामशरण

3. 'डउका पुरान' के लेखक कौन हैं ?

(क) विवेकानंद शर्मा

(ख) सुब्रमनी

(ग) उषा राजे

(घ) तोताराम सनाढ्य

4. 'पुरवाई' पत्रिका किस देश से निकलती है ?

(क) अमेरिका

(ख) इंग्लैंड

(ग) सूरीनाम

(घ) त्रिनिदाद

5. 'अन्यथा' पत्रिका कहाँ से निकलती है ?

(क) अमेरिका

(ख) इंग्लैंड

(ग) रूस

(घ) फ़िजी

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. प्रवासी किसे कहते हैं ?
2. भारतवर्ष में कितने तरह के प्रवासियों की पहचान होती है ?
3. अमेरिका आधारित किन्हीं पाँच हिन्दी रचनाकारों के नाम बताइए।
4. ब्रिटेन आधारित किन्हीं पाँच हिन्दी रचनाकारों के नाम बताइए।
5. खाड़ी देशों में रहकर हिन्दी लेखन करने वाले किन्हीं तीन रचनाकारों के नाम बताइए।
6. अकादमिक संसार में प्रवासी भारतीयों के किस श्रेणी के लोगों का प्रभुत्व है ?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. "हिन्दी का प्रवासी साहित्य बहुसंस्कृतियों के संगम के साथ कई अर्थों में मुठभेड़ का साहित्यहै ।" तर्कपूर्ण विवेचना कीजिए।
2. प्रवासी हिन्दी लेखन में मॉरिशस के लेखकों का योगदान स्पष्ट कीजिए।
3. फ़िजी के किन्हीं पाँच हिन्दी रचनाकारों का परिचय दीजिए।

5.5.6. व्यवहार

1. कभी अपने मूल प्रदेश से किसी अन्य देश या प्रदेश में जाने पर क्या आपकी भेंट वहाँ प्रवास कर रहे अपने मूल प्रदेश के व्यक्तियों से हुई है ? यदि हाँ ! तो उनके साथ बिताये क्षणों को याद करते हुए एक संस्मरणात्मक आलेख लिखिए जिसमें यह प्रतिपादित किया गया हो कि परदेश में रहते हुए भी उन प्रवासियों ने अपने मूल प्रदेश की भाषा-साहित्य और सभ्यता-संस्कृति को किस रूप में जीवित रखा है और अपनी अगली पीढ़ी को हस्तान्तरित किया है।

5.5.7. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

1. कमल किशोर गोयनका (प्रधान सम्पादक), प्रवासी साहित्य – जोहान्सबर्ग से आगे, विदेश मंत्रालय, भारत सरकार, 2015
2. धनञ्जय सिंह, प्रवासी श्रम इतिहास भोजपुरी लोकसाहित्य, भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला, 2016, ISBN : 978-9382-396-383
3. वर्तमान साहित्य पत्रिका, सम्पादक – कुँवरपाल सिंह, नमिता सिंह, जनवरी-फरवरी अंक 2006

❖❖❖